यह तो उस जनसंख्या का विचार हुआ, जो शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़ी थी। इस जनसंख्या के अतिरिक्त युद्धभूमि में परिकरवर्ग भी अपने प्राणों को हथेली में लिए उपस्थित रहता है। प्रत्येक रथ के लिए एक एक सारथी का होना आवश्यक है। प्रत्येक हाथी के लिए एक एक गजवाहक (महावत) अपेक्षित है। प्रत्येक अश्व के लिए एक एक अश्वपरिचारक (सईस) आवश्यक है। वाहकों के अतिरिक्त रथ एवं हाथियों की संभाल पर एक एक रथपरिचारक, एवं एक एक गजपरिचारक भी आवश्यक है चिकित्सकवर्ग, कोशप्रबन्धकवर्ग, अन्नवाहकवर्ग, गुप्तचरवर्ग, योद्धाओं का भृत्यवर्ग, शस्त्रास्त्रप्रबन्धकवर्ग, धूम्रास्त्रसंचालकवर्ग, आदि आदि परिकरवर्गों की गणना पृथक् है। दो लाख सेना के लिए इस परिकरवर्ग की संख्या भी २५ हजार से कम नहीं मानी जासकती। इस प्रकार एक अक्षौहिणी सेना की जनसंख्या का विचार करने पर निम्न लिखित क्रम हमारे सामने आता है।

१—युद्ध करने वाले योद्धा — २१८७००
२—रथवाहक (सारथी) — २१८७०
३—गजवाहक (महावत) — २१८७०
४—रथपरिचारक — २१८७०
५—गजपरिचारक — २१८७०
६—अश्वपरिचारक — ६५६१०
७—परिकरवर्ग — २५०००

} —तीन लाख छियानवें हजार सात सौ नव्वे

१—अक्षौहिणी सेना की जनसंख्या ३९६७९०



इस संख्या को १८ से गुणित कीजिए। कौरव-पाण्डव संग्राम में ८९४२२२०—(नवासीलाख बयालीस हजार दोसौ बीस) जन संख्या हो जाती है। जनसंख्या के अतिरिक्त जिस संग्राम में ३९३६६० (तीन लाख तिरानवें हजार छस्सौ साठ हाथी हों, ३९३६६० (तीन लाख तिरानवें हजार छस्सौ साठ) रथ हों, एवं ११८०९८० (ग्यारह लाख अस्सी हजार

साधन अपेक्षित नहीं हैं, वे यदि चाहें तो यहीं से कुछ ले सकते हैं (एवं ले रहे हैं !!!)। इतिहासग्रन्थों में आज दिन **महाभारत** का आसन सब से ऊंचा है । यह एक गुप्तरहस्य है, कि, जहां भगवान् व्यासने पुराण १८ बनाएं हैं, वहां महाभारत के भी १८ ही पर्व रक्खें हैं। १८ की संख्या से व्यासदेव को विशेष प्रेम था, ऐसा मालूम होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा।

"इति ह आस" (ऐसा ही था) इस निर्वचन के अनुसार अतीत मानव चरित्र का **"इदमित्थमेव"** (यह ऐसा ही था) इस रूप से प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ ही **"इतिहास"** कहलाता है। आज से लगभग ५ सहस्र वर्ष पहिले **कौरव—पाण्डवों** में जिस राज्यलिप्सा के कारण **महायुद्ध** हुआ था, एवं जो महायुद्ध भारतश्री के सर्वनाश का कारण बना था, उस युद्ध की घटनाओं का (वंशारम्भ से अन्त तक का) व्यासने जिस ग्रन्थ में निरूपण किया है, वही ग्रन्थ **महाभारत** नाम से प्रसिद्ध है । यह ग्रन्थ—"इति ह आस" इस मर्यादा से युक्त है, अतः इसे हम अवश्य ही इतिहास शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। गीताशास्त्र के सम्बन्ध में **गीतोपदेश की आवश्यकता क्यों हुई ? कब हुई ? कहां हुई ? किसके प्रति हुई ?** इत्यादि ऐतिहासिक प्रश्न हमारे सामनें उपस्थित होते हैं । साथ ही में गीता महाभारत का ही एक प्रत्यंश है । ऐसी दशा में (ऐतिहासिक ग्रन्थ के मध्य में आजाने से) गीता को ऐतिहासिक मर्य्यादा से पृथक् नहीं किया जासकता । इसीलिए गीता में मूलविषय के अतिरिक्त ऐतिहासिक सन्दर्भ का प्रतिपादन करने वाले ६४ श्लोकों का व्यासद्वारा समावेश हुआ है । इसी आधार पर ६४ श्लोकात्मिका गीता को हमनें **"ऐतिहासिकगीता"** नाम से, एवं ६३६ श्लोकात्मिका गीता को **"विज्ञानगीता"** नाम से व्यवहृत किया है । (देखिए पृष्ठसंख्या २२९) ऐसी परिस्थिति में उक्त ऐतिहासिक प्रश्नों के सम्बन्ध में भी कुछ कहना आवश्यक होजाता है।

महाभारत एक ऐतिहासिक ग्रन्थ होता हुआ भी **ज्ञान-विज्ञान** का एक अद्भुत-कोश है। हम तो यह भी कहने में किसी संकोच का अनुभव नहीं करते कि १८ पुराण

एक ओर हैं, एवं १८ पर्वात्मक महाभारत दूसरी ओर है। दोनों की तुलना में महाभारत का ही आसन ऊँचा मानना पड़ेगा। हमारी दृष्टि में इस उच्चासन का विशेष कारण है **शतपथ-ब्राह्मण**। यह ब्राह्मण ब्राह्मणग्रन्थों में अपूर्व है। यह वेद का **अन्तिमग्रन्थ** है। इसी लिए इस में संक्षेप से सभी तत्त्वों का निरूपण हुआ है। इस की भाषा भी संस्कृतभाषा से मिलती जुलती है। वैदिक साहित्य पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए शथपथ का अथ से इति तक अध्ययन कर लेना पर्य्याप्त है। न केवल इस में पदार्थविद्या का ही विश्लेषण हुआ है, अपितु पदार्थविद्या के साथ साथ इस में इतिहास, शिल्प, राजनीति, धर्म्मनीति आदि सभी विषयों का समावेश हुआ है। इस अपूर्व ग्रन्थ के निर्म्माता हैं भगवान् **याज्ञवल्क्य**। **"कृत्तिकास्वग्नीआदधीत। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते"** (शत० ब्रा० २ कां २। ३।) इस वचन के अनुसार हम शथपथ का निर्म्माणकाल लगभग महाभारत के समकालीन मानने के लिए तय्यार हैं। शतपथ कहता है कि-**"कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए। क्योंकि यह नक्षत्र पूर्व दिशा को नहीं छोड़ते"**। इस कथन से विदित होता है कि शतपथकाल में सप्तनक्षत्रात्मक छुरि-काकृति कृत्तिका नक्षत्र पर ही अयनसम्पात था। परन्तु हम देखते हैं कि आज अयनसम्पात कृत्तिका को छोड़ कर सन् १९०० ई० तक) लगभग ६० अंश (डिग्री) हट चुका है। साथ ही में ज्योतिर्गणना के अनुसार यह भी सिद्ध विषय है कि एक अंश के हटने में लगभग ७५ वर्ष लगते हैं। इस हिसाब से कृत्तिकासम्पातकाल सन् १९०० से पहिले लगभग ४९६५ (चार हजार नौसौ पैंसठ) वर्ष पीछे जाता है। यही समय महाभारत का ठहरता है।

इसी आधार पर हम उक्त दोनों ग्रन्थों को (महाभारत एवं शतपथ को) समकालीन मानने लिए तय्यार हैं। हां इस सम्बन्ध में यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि शतपथ ग्रन्थ महाभारत से कुछ समय पहिले बना था, एवं महाभारत का निर्माण कुछ समय पीछे हुआ था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि महाभारत में अथ से इति पर्यन्त प्रमाणस्थलों में स्थान स्थान पर **"इति शातपथी श्रुतिः" "इति शातपथी श्रुतिः"** इत्यादि रूप से शतपथ के वचनों का उल्लेख मिलता है। यदि पाठक अवधानपूर्वक महाभारत का आदि से अन्त तक अध्ययन करेंगे

तो उन्हें यह मान लेना पड़ेगा कि व्यास ने महाभारत के व्याज से सम्पूर्ण शतपथ का अनुवाद कर डाला है। अपिच जनकयाज्ञवल्क्यसंवाद में स्वयं याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा है कि मैंने शतपथ बनाया है। इस आख्यान से तो यह स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि शतपथ अवश्य ही महाभारत से कुछ पहिले बना होगा, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

ततः शतपथं कृत्स्नं साहात्म्यं ससंग्रहम्।
चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण ह ॥१॥
कर्त्तुं शतपथं चेदमपूर्वं च कृतं मया।
यथाभिलषितं मार्गं तथा तच्चोपपादितम् ॥२॥
(महाभा० शा० मो० ३१८।)

कहना हमें केवल यह है कि महाभारत एक ऐतिह्यग्रन्थ होता हुआ भी शतपथ के सम्बन्ध से विज्ञानग्रन्थ है। इस की महत्ता का दूसरा कारण है, गीताग्रन्थ। भगवान् ने अर्जुन को ज्ञान-विज्ञानात्मक जिस अलौकिक एवं अपूर्व बुद्धियोग का उपदेश दिया था, व्यासने अपनी भाषा में १८ अध्यायों में उस का निरूपण किया है। इन्हीं सब विभूतियों के कारण महाभारत सचमुच एक अलौकिक ग्रन्थ बन गया है। इतर सारे ग्रन्थों को छोड़ दीजिए, केवल महाभारत ही हमारे सब संशय दूर कर भारतीयशास्त्रों के यथार्थ स्वरूप को हमारे सामने प्रत्यक्षवत् उपस्थित करने के लिए पर्य्याप्त है। महाभारत अगाध समुद्र है। उसके अमल रत्नों की कान्ति से आज भी आर्यसाहित्यभवन प्रकाशित हो रहा है। भारतवर्ष को ही नहीं, अपितु समस्त विश्व को अपने अलौकिक आलोक से आलोकित करने वाला वाला गीतारत्न भी इसी समुद्र की निधि है। १८ पर्वों के सम्बन्ध से ९ (१+८-९) संख्या में परिणत होता हुआ यह ग्रन्थ अवश्य ही आत्मा की पूर्णविभूति का निरूपक है। १८ का संकेत बतला रहा है कि व्यास ने इस में १८ पुराणों का सार रख दिया है, वेद-ब्राह्मण-उपनिषत्-आदि का नवनीत निकाल कर पृथक् रख दिया है। साथ ही में १+८ के संकलनरूप ९ भावों के सम्बन्ध को व्यक्त करता हुआ यह ग्रन्थ यह भी सिद्ध कर रहा है कि "मैंने इतिहास के साथ साथ नवकल

विश्वेश्वर का भी निरूपण किया है, एवं यही निरूपण गीता द्वारा उपबृंहित हुआ है। सचमुच इस उपबृंहण में श्रीकृष्ण कृष्णद्वैपायन से भी आगे बढ़ गए हैं। स्वयं व्यास ने अपने मुख से कृष्ण का महत्व स्वीकार किया है। प्रत्येक आर्यसन्तान से हम आग्रह करेंगे कि वह अपना वास्तविक स्वरूप परिचय प्राप्त करने के लिए, अपने घर की अमूल्य निधि का उपयोग करने के लिए आद्योपान्त इस ग्रन्थ का अपने जीवन में कम से कम एक बार अवश्य अवश्य अध्ययन करले। महाभारत की अलौकिकता, ज्ञान—विज्ञानप्रतिपादकता, अपूर्वता, एवं पूर्णता निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट सिद्ध हो रही है—

पुराणसंहिताः पुण्याः कथा धर्म्मार्थसंश्रिताः।
इतिवृत्तं नरेन्द्राणामृषीणां च महात्मनाम् ॥१॥ म० आदि० १।१६)।
उवाच स महातेजा ब्राह्मणं परमेष्ठिनम् ॥
कृतं मयेदं भगवान् काव्यं परमपूजितम् ॥२॥
ब्रह्मन्! वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया ॥
साङ्गोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया ॥३॥
इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत् ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम् ॥४॥
जरामृत्युभयव्याधिभावाभावविनिश्चयः ॥
विविधस्य च धर्म्मस्य ह्याश्रमाणां च लक्षणम् ॥५॥
चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च कृत्स्नशः ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः ॥६॥
ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह ॥
ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च ॥७॥
न्यायशिक्षाचिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा ॥
हेतुनैव समं जन्म दिव्यमानुषसंज्ञितम् ॥८॥

तीर्थानां चैव पुण्यानां देशानां चैव कीर्त्तनम् ॥
नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च ॥९॥
पुराणां चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम् ॥
वाक्यजातिविशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः ॥१०॥
यच्चापि सर्वगं वस्तु तच्चैव प्रतिपादितम् ॥
परं न लेखकः कश्चित्-एतस्य भुवि विद्यते ॥११॥
"यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्" (प.आ.१।६१-७०श्लोक)।
अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्म्मशास्त्रमिदं महत् ॥
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥१२॥
यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ॥
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥१३॥ (म.स.प.संग्रह)।

विद्याओं के सम्बन्ध में युगों की चर्चा करते हुए हमने साध्ययुग के अनन्तर देवयुग की सत्ता बतलाई है। देवयुग की सभ्यता का आरम्भ काल ही आर्यइतिहास का आरम्भ काल है। महाभारत ने अपने इतिहास का आरम्भ इसी देवयुग से किया है। देवयुग से आरम्भ कर महाभारत पर्यन्त इतिहास का सिलसिलेवार निरूपण करना ही महाभारत का मुख्य उद्देश्य है। और अपने इस उद्देश्य में महाभारत सर्वात्मना सफल हुआ है।

आर्यराजवंश को हम अपने ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर **सूर्य्यवंश, चन्द्रवंश, अग्निवंश** भेद से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। देवयुगकाल में देवलोक में (स्वर्ग में) **आदित्य-सूर्य** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध इन्द्र, **धाता, भग, पूषा, अर्य्यमा, त्वष्टा, वरुण, अंशु, विवस्वान्, सविता, विष्णु, मित्र,** ये १२ देवजातिएं सुप्रसिद्ध थीं। इन १२ सूर्य्यों, किंवा आदित्यों में **विवस्वान्** नाम की जाति को विशेष **गौरव** प्राप्त था। इसी जातिविशेष के पुरुषों को आगे जाकर भारतवर्ष का साम्राज्य मिला था। इन्हीं विवस्वानों में से प्रबल प्रतापी स्वयम्भू

ब्रह्मा के मानसपुत्र* स्वायम्भुव नाम के विवस्वान् आदित्य सूर्यवंश के आदि प्रवर्त्तक हुए । इस स्वायम्भुव विवस्वान् मनु के **श्रद्धादेव** एवं **यम** नाम के दो औरसपुत्र उत्पन्न हुए। यही श्रद्धादेव ब्राह्मणादि ग्रन्थों में **श्रद्धादेव** नाम से प्रसिद्ध हुए—"**श्रद्धादेवो वै मनुः**" (शत. ब्रा.१ । १ । ४ । १४), एवं पुराणों में **श्राद्धदेव** नाम से व्यवहृत हुए । जिस प्रकार वैदिक "**यत्तु**" नदी पाठदोषों से "**चत्तु**" रूप में परिणत हो गई है, एवमेव श्रद्धादेव शब्द भी संशोधक के भ्रम से श्राद्धदेव रूप में परिणत हो गया है । स्वयम्भूब्रह्मा की अनुज्ञा से, एवं साथ ही में श्रद्धादेव के ज्येष्ठपुत्र होने से न्यायतः श्रद्धादेव को ही "**मनु**" बनाया गया । "मनु" किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है, अपितु भारतीय प्रजा पर शासन करने वाले सम्राट् की आधिकारिकी संज्ञा ही मनु है । इसी मनु के सम्बन्ध से भारतीय प्रजा **मनुष्य**, किंवा **मानव** नाम से प्रसिद्ध हुई, यह भी निःसदिग्ध विषय है । श्रद्धादेव को मनु बनाया गया, इसका तात्पर्य यही हुआ कि भारतवर्ष के सम्राट् श्रद्धादेव ही बनें । विवस्वान् के पुत्र होने के कारण यही "**वैवस्वतमनु**" नाम से प्रसिद्ध हुए । '**राजा**" शब्द का पहिला आविष्कार वैवस्वत के लिए ही हुआ, ऐसा प्रतीत होता है । यही भारत वर्ष के पहिले सम्राट् हुए । जिस प्रकार स्वायम्भुव विवस्वान् के जेष्ठपुत्र श्रद्धादेव मनुष्य प्रजा के शासक थे, एवमेव विवस्वान् के कनिष्ठपुत्र, अतएव वैवस्वत नाम से ही प्रसिद्ध **यम** पितृप्रजा के शासक बनाए गए, जैसा कि निम्नलिखित वाजिश्रुति से स्पष्ट है—

> **"मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह । तस्य मनुष्या विशः (प्रजा)। तऽइमऽआसतऽइस श्रोत्रिया गृहमेधिन उपसमेता भवन्ति । यमो वैवस्वतो राजेत्याह । तस्य पितरो विशः, तऽइमऽआसतऽइति स्थविरा उपसमेता भवन्ति" (शात.ब्रा.१३।३।३-६कं.)। इति ॥**

मानव समाज की सुव्यवस्था के लिए भगवान् स्वयम्भू ब्रह्माने (जिन्होंनें कि काकेशश पर्वत को अपनी आवासभूमि बनाया था) **वेद—लोक—प्रजा—धर्म्म** इन चारों को सुव्यवस्थित

* यही स्वयम्भू देवयुग के प्रथम व्यवस्थापक थे । यह योग्य व्यक्तियों को अपना दत्तक-पुत्र बना लेते थे। वे ही दत्तक पुत्र पुराणेतिहास में "**मानसपुत्र**" नाम से प्रसिद्ध हैं। भृगु वरुण के औरसपुत्र थे, परन्तु यही आगे जाकर ब्रह्मा के मानसपुत्र कहलाने लगे ।

किया। असुरत्रिलोकी से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। देवत्रिलोकी में रहने वाली प्रजा के पांच वर्ग बनाए। वे हीं पांचों वर्ग **ऋषि, पितर, देवता, देवयोनि, मनुष्य** नाम से प्रसिद्ध हुए।

१-ऋषि

प्राकृतिक प्राणतत्त्व को **ऋषि** कहा जाता है। यही प्राणतत्त्व सृष्टि का मूलप्रवर्तक है -(देखिए श०ब्रा. ६।१।१) । यही ऋषिप्राण **"विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपसः"** (ऋक्सं० १०।६२।५।) के अनुसार अनन्त प्रकार के हैं। **वसिष्ठ, विश्वामित्र, कश्यप, भृगु, अङ्गिरा, नारद, बालखिल्या, सनक सनन्दन, सनत्कुमार, जमदग्नि, बृहस्पति,** आदि आप जितनें भी नाम सुनते हैं, वे सब प्राणात्मक ऋषि हैं, सृष्टिप्रवर्तक मौलिक तत्त्व हैं। जिन जिन पुरुषपुङ्गवोंनें अपने चिरकालिक तपोयोग से जिन जिन प्राणात्मक ऋषियों की परीक्षा कर वि[illegible] उनके द्वारा अपूर्व विज्ञानों का आविष्कार किया, वे पुरुष उन उन ऋषिप्राणों के नाम से ही प्रसिद्ध हुए यह मनुष्य ऋषि प्राणऋषियों के द्रष्टा (परीक्षक) थे, एवं सर्वतन्त्रस्वतन्त्र थे। पृथ्वी (भारतवर्ष), अन्तरिक्ष, स्वर्ग तीनों लोकों में स्वतन्त्ररूप से विचरण करते हुए, यथाभिरुचि तीनों लोकों में अपने आश्रम बनाते हुए विद्या एवं तपोयोग से लोककल्याण करते रहना ही इनका मुख्य कर्म्म था।

विद्यातारतम्य से इन ऋषियों के **ब्रह्म-ऋषि-देव-ब्राह्मण-विप्र** यह पांच अवान्तर विभाग थे। ब्राह्मणकुल में जन्ममात्र लेने वाले जात्योपजीवी ब्राह्मण **विप्र** कहलाते थे। इनकी समाज में विशेष प्रतिष्ठा न थी। जो ब्राह्मण शास्त्रों के परिज्ञाता थे, वे **ब्राह्मण** ही कहलाते थे। केवल शास्त्र पढ़ लेना, एवं अध्ययनाध्यापनवृत्ति में आरूढ रहना ही इनका मुख्य कर्म्म था। जो ब्राह्मण शास्त्रज्ञान के साथ साथ ही प्राकृतिक प्राणदेवताओं के आधार पर देवयजनरूप यज्ञकर्म्म में रत रहते थे, यज्ञों के आधार पर अनावृष्टि, दुष्काल, महामारी आदि प्राकृतिक आक्रमणों से प्रजा की रक्षा किया करते थे, ऐसे कर्म्मठ याज्ञिक ब्राह्मण ही **"देव"**

नाम से प्रसिद्ध थे। यही वर्ग **भूसुर-भूदेव** आदि नामों से प्रसिद्ध था। इन्हीं ब्राह्मणदेवों के सम्बन्ध में श्रुति कहती है—

> *द्वया वै देवाः। देवा अहैव देवाः (प्राकृतिका नित्यदेवाः)।
> अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः" (शत. ब्रा. २।२।६)।

इन मौलिक प्राकृतिक प्राणतत्त्वों में से एक एक दो दो प्राणों की परीक्षा कर उसका साक्षात् करने वाले ब्राह्मण **ऋषि** नाम से सम्बोधित होते थे। यही **मन्त्रद्रष्टा** भी कहलाते थे। जैसा कि—**"ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः"** इत्यादि से स्पष्ट है। ऐसे अनेक ऋषि जिस एक महापुरुष की अध्यक्षता में प्राणपरीक्षा किया करते थे, वही कुलपति **"ब्रह्मा"** नाम से प्रसिद्ध होते थे, यही ब्रह्मपर्षत् के अध्यक्ष माने जाते थे। देवयुग में ऐसे कई ब्रह्मा थे। १० तो प्रधान ही ब्रह्मपर्षदें थीं, जिनका कि निरूपण विस्तरभिया प्रकृत में नहीं किया जासकता। इसी ब्रह्मपदवी को लक्ष्य में रखकर पुराणों में **"दश ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः"** यह कहा गया है। इसी प्राक्तन ब्रह्मविभाग का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

> "उद्दालको हारुणिः उदीच्यान्वृतो धावयाञ्चकार। तस्य निष्क उपाहित आस। एतद्ध स्म वै तत् पूर्वेषां वृतानां धावयतामेकधनमुपाहितं भवति। उपवल्हाय बिभ्यतां तान् होदीच्यानां ब्राह्मणान् भीर्विवेद। कौरुपाञ्चालो वा अयं **ब्रह्मा** ब्रह्मपुत्रः" (शत० ब्रा० ११।४।१)।

इन पांचों श्रेणियों में से ब्रह्मपर्षत् का अध्यक्ष कुलपति **ब्रह्मवर्ग, प्राणपरीक्षक ऋषिवर्ग** यह दो तो सर्वथा स्वतन्त्र थे। केवल स्वयम्भू का ही शासन इन पर चल सकता था। इन पर भारतीय राजाओं का कोई प्रभुत्व न था। यही नहीं, अपितु भारतीय राजाओं पर एक

---

* अथ हैते मनुष्यदेवाः, ये ब्राह्मणाः (षड् ब्रा०१।१।)।
एते वै देवा अहुतादो, यद् ब्राह्मणाः। (गो०ब्रा०उ० १।६।)।

प्रकार से ये शासन करते थे। जब जब भारतीय राजा धर्म्मनीति से विमुख होते थे, तब तब ही यह दोनों वर्ग इनका दमन कर देते थे। ब्रह्मबल सदा क्षत्रबल पर विजय प्राप्त करता था। महाराज वेन इन्हीं ऋषियों द्वारा सिंहासन से च्युत कर दिए गए थे। इन्द्राणी की कामना करने वाले नहुष को इन्हीं ऋषियों के दण्ड का शिकार होना पड़ा था। यज्ञकर्म्माधिष्ठाता देववर्ग, शास्त्रनिष्ठ ब्राह्मणवर्ग इन दोनों पर चन्द्रमा का आधिपत्य था। चन्द्रमा अत्रिमहर्षि के औरस पुत्र थे, अतएव जात्या ब्राह्मण थे। स्वयम्भूने इन्हें उत्तरदिशा का दिक्पाल बनाया, ओषधि एवं देव-ब्राह्मणों का लोकपाल बनाया। भारतीय कर्मठ भूदेव, एवं शास्त्रनिष्ठ ब्राह्मण दोनों को चन्द्रमा के शासन में चलना पड़ता था। भारतीय इतर राजाओं का इन पर कोई शासन न था, जैसा कि-"सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। यह चारों ही वर्ग श्रोत्रिय थे। चारों ही वैवस्वतमनु के शासन से पृथक् थे। पांचवा यथाजात, अतएव अश्रोत्रियवर्ग मनु की प्रजा थी। क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-अवरवर्णादि भारतीय इतर अश्रोत्रिय गृहमेधी मनुष्यों पर जैसे मनु का शासन था, एवमेव इन अश्रोत्रिय गृहमेधी विप्रों को भी मनु के शासन से ही शासित रहना पड़ता था, यह पांचों ही एक प्रकार से भारतवर्षीयवर्ग थे।

ऋषिवर्ग-(१)

१-१-ब्रह्मवर्गः——→कुलपतिः-ब्रह्मपर्षदध्यक्षः (ब्रह्मा)		स्वतन्त्राः (स्वयम्भूरध्यक्षः)
२-२-ऋषिवर्गः——→प्राणपरीक्षकः .... (ऋषिः)		
—०—		
३-१-देववर्गः——→यज्ञकर्म्मसञ्चालकः .. (देवः)		चन्द्रेण शासिताः
४-२-ब्राह्मणवर्गः——→शास्त्रेषु पारङ्गतः .... ब्राह्मणः)		
—०—		
५-१-विप्रवर्गः——→यथाजातो जात्योपजीवी (विप्रः)		मनुप्रजाः

—०—

२—पितरः

मौलिक प्राण को हमनें ऋषि कहा है। इसी ऋषिप्राण का नाम यजुस्तत्त्व है। यजु में यत्-जू दो विभाग हैं। यत् गतितत्त्व है, यही प्राण है। जू स्थितितत्त्व है, यही वाक् है। प्राण

❀ श्रीः ❀

७—गीतानाममीमांसा



न विज्ञान का अपूर्व कोश हमारा गीताशास्त्र आज विश्व में "गीता" नाम से प्रसिद्ध है। चूंकि गीता विज्ञानशास्त्र है, एवं विज्ञानधारा कारणवाद को लेकर ही प्रवाहित होती है, इसलिए गीताशास्त्र के नाम के सम्बन्ध में भी हमें विज्ञानदृष्टि से ही कारणवाद की मीमांसा करनी पड़ेगी। **परमेष्ठीकृष्ण** के पूर्णावतार महापुरुष भगवान् वासुदेवकृष्ण के मुखपङ्कज से तात्विकरूप से विनिःसृत, एवं कृष्णद्वैपायन महामुनि **व्यासदेव** की लेखिनी से छन्दोबद्ध बने हुए ईस गीताशास्त्र का "**भगवद्गीतोपनिषत**" यह पूरा नाम है। यही नाम संकोचभाव के कारण आगे जाकर "**गीता**" इन दो अक्षरों में परिणत होगया है। उक्त नाम में **भगवत्–गीता–उपनिषत्** यह तीन बिभाग हैं। इन तीनों हीं बिभागों के सम्बन्ध में तर्कवादी प्रश्न उठा सकता है।

वासुदेव कृष्ण ही भगवान् हों, यह बात नहीं हैं। कृष्ण की तरह **व्यास–कपिल–कणाद–पतञ्जलि** आदि अनेक महापुरुषों को सनातनधर्मियोंनें भगवत् शब्द से सम्बोधित किया है। परन्तु हम देखते हैं कि भगवान् कृष्ण के गीताशास्त्र को छोड़कर भगवान् व्यास, भगवान् कपिलादि इतर महापुरुषों के जितने ग्रन्थ हैं, उनमें से किसी के भी आदि में भगवत् शब्द का सम्बन्ध नहीं देखा जाता। व्यास विरचित **महाभारत पुराणादि** को कोई भी **भगवत्महाभारत भगवत्पुराण** नहीं कहता। वाल्मीकिविरचित रामायण का आजतक **भगवत्रामायण** यह नाम न सुना गया। फिर क्या कारण है कि आर्य साहित्य में एकमात्र गीता शास्त्र ही '**भगवद्गीता**" इत्यादि रूप से भगवत् नाम पूर्वक प्रसिद्ध हुआ। अवश्य ही गीता सम्बन्धी इस भगवत्शब्दव्यवहार का कोई मौलिक रहस्य होना चाहिए।

यही अवस्था **गीता** शब्द की है। यदि गीता शब्द का अर्थ गान (गायन) है, तब तो इस शास्त्र का गीता नाम सर्वथा अप्रासंगिक है। यद्यपि यह ठीक है कि किसी गुप्त कारण के

अनुसार कृष्ण संगीत के महाप्रेमी थे । स्वयं गीताशास्त्र में भी "**वेदानां सामवेदोऽस्मि**" यह कहते हुए भगवान् ने अपना संगीतप्रेम प्रकट किया है । यही नहीं, जीवनसंगिनी वंशी का प्रेम भी इस विषय का पोषक है । परन्तु युद्धकाल में समुपस्थित शोकार्त्त अर्जुन को भगवान् ने वाद्यविशेषों के आधार पर गा गाकर अध्यात्मविद्याका उपदेश दिया होगा, यह एक उपहासास्पद कल्पना है । यदि गायनपरक न मान कर गीता शब्द को "**कथिता**"–"**उक्ता**" इस प्रकार उक्ति परक माना जाता है तो फिर इस द्रविड़ प्राणायाम की कोई आवश्यकता नहीं रहजाती । फिर तो सीधे से शब्दों में "**भगवत्कथिता**"–"**भगवदुक्ता**"–"**भगवद्विरचिता**" इनमें से किसी एक नाम को चुन लेना सरल पड़ता । फलतः गीता शब्द भी अवश्य ही किसी गुप्त रहस्योद्घाटन से सम्बन्ध रखने वाला सिद्ध होता है । व्यासने किसी तत्वशिक्षण के लिए ही यह द्रविड़ प्राणायाम किया है ।

उपनिषत् शब्द भी यही जटिल समस्या उत्पन्न करता है । **संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्** भेद से अपौरुषेय वेद के ४ विभाग माने जाते हैं । उपनिषत् वेद का अन्तिम भाग है, अतएव इसे **वेदान्त** कहा जाता है । वेद के अन्तिमभाग में हीं उपनिषत् शब्द (प्राचीनों की दृष्टि में) निरूढ माना गया है । गीता वेद का अन्तिम भाग नहीं है, यह भी सर्वविदित है । उपनिषत् शब्द का श्रुतिशास्त्र से सम्बन्ध है । इधर गीताशास्त्र श्रौततत्वों का अनुसरण करता हुआ **स्मृतिशास्त्र** है । कोई भी भारतीय विद्वान् गीता को श्रुतिशास्त्र, किंवा वेद का अन्तिम भाग मानने के लिए तय्यार नहीं है । इन सब स्पष्ट परिस्थितियों के रहते हुए भी गीता जैसे स्मृतिशास्त्र को एकमात्र श्रुतिशास्त्र में निरूढ उपनिषत् शब्द से कैसे, एवं क्यों व्यवहृत किया गया । इस प्रकार गीताशास्त्र के **भगवत्–गीता–उपनिषत्** यह तीनों ही शब्द हमारे सम्मुख एक जटिल समस्या रख रहे हैं । इस समस्या को सुलझाने के लिए ही गीतानाममीमांसाप्रकरण पाठकों के सामने आया है । इसमें क्रमशः उक्त तीनों विभागों के रहस्यार्थों का ही निरूपण होगा ।

१–भगवच्छब्दरहस्य

सब से पहिले हमें यही विचार करना होगा कि शास्त्रोंनें **"भगवान्"** शब्द का क्या अर्थ किया है। किन गुणों, किंवा शक्तियों से व्यक्तिविशेष भगवान् कहलाने लगते हैं। वैसे तो आर्यजाति भगवान् शब्द से प्रधानरूप से विश्वकर्म्मा ईश्वर का ही ग्रहण करती है। ईश्वरतत्व गीता के–**"यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्त्यव्यय ईश्वरः"** (गीता १५।१७।) इस सिद्धान्त के अनुसार **अव्यय** पुरुष का वाचक है। यह अव्यय पुरुष, किंवा ईश्वर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त रहता हुआ भी असङ्ग है, अविकृत है, सर्वत्र एकरूप से व्याप्त है। जैसा कि **गोपथश्रुति** कहती है—

> **सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।**
> **वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥** (गो०ब्रा०पू०१।२६।)

इस प्रकार स्वस्वरूप से एकरूप से व्याप्त रहता हुआ भी यह व्यापक अव्यय **योगमाया** की कृपा से अनेक रूप धारण कर लेता है। योगमाया इसे खण्ड खण्डरूप में परिणत कर डालती है। वही खण्डरूप, किंवा अंशरूप "जीव" नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, जैसा कि–**"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"** (गीता०१५।७।), **"अंशो नानाव्यपदेशात्"** (ब्रह्मसू०२।३-४३।) इत्यादि वचनों से सिद्ध है। इसी खण्डभाव के कारण अव्यय की प्रातिस्विक शक्ति तिरोहित होजाती है। योगमाया ही अव्ययस्वरूपदर्शन की महाप्रतिबन्धिका है। ईश्वर को जीव बना कर, जीव को ईश्वरभाव से च्युत करने वाली यही योगमाया है। योगमाया के आवरण से ही जीव अपने प्रातिस्विक व्यापक ईश्वराव्ययभाव के दर्शन में असमर्थ होता हुआ दुःख पाया करता है, जैसा कि–**"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः"** (गीता०७।२५) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। इसी योगमाया ने जीव को भगवच्छक्ति से वञ्चित कर रक्खा है।

उक्त भगवच्छक्ति को प्राप्त करने के लिए योगमाया का आवरण हटाना आवश्यक है। इस आवरण के हटते ही उसी प्रकार अव्यय की प्रातिस्विक शक्तियों का विकास होजाता है, जैसे

कि मेघावरण हटने से नित्य प्रकाशित सूर्य्य प्रकट होजाता है। बस जिस जीव में बिना किसी प्रयास के जन्मकाल से ही योगमाया का आवरण हटा हुआ रहता है, वही जीव अपनी शक्तियों के प्रभाव से भगवान् कहलाने लगता है। ऐसे ही जीव महापुरुष, अमानवपुरुष, अवतार आदि नामों से सम्बोधित हुए हैं। अव्यय पुरुष में प्रधानरूप से ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, एवं बलशक्ति (अर्थशक्ति) यह तीन महाशक्तिएं प्रतिष्ठित हैं। इत्तर अवान्तर सब शक्तियों का इन्हीं तीनों शक्तियों अन्तर्भाव है। इसी शक्तित्रयी का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते।
> परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च॥
>
> (श्वेता० उप० ६।८)।

परिभाषाविज्ञान के अनुसार पर शब्द अव्यय का वाचक है, अतएव उस की उक्त ज्ञानादि शक्तिएं पराशक्ति नाम से व्यवहृत हुई हैं। इन तीनों में प्रत्येक की अवान्तर अनेक शाखाएं हैं। इस प्रकार इन तीन का आगे जाकर अनन्तशक्तियों पर पर्यवसान होता है। इसी शक्त्यानन्त्य को सूचित करने के लिए "विविधैव श्रूयते" कहा गया है। इसीलिए अव्ययेश्वर अनन्तशक्तिमान् कहलाता है। इन अनन्तशक्तियों में ६ शक्तिएं हीं "भग" नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं ६ ओं के आधार पर भगवच्छब्द प्रतिष्ठित है। भगवत्स्वरूपसंपादिका, भगात्मिका इन्हीं ६ ओं विशेष शक्तियों का उल्लेख करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

> ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य, धर्म्मस्य, यशसः, श्रियः।
> ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, यह ६ शक्तिएं हीं "भग" कहलातीं हैं, एवं जिस में यह भग रहते हैं, वह भगवान् कहलाता है। चूंकि यह शक्तिएं अव्ययेश्वर की प्रातिस्विक शक्तिएं हैं, एवं—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" (गीता १८।६१) के अनुसार जड़, चेतन सब भौतिक पदार्थों के केन्द्र में भगशाली ईश्वराव्यय प्रतिष्ठित है। इस दृष्टि से विश्व के सभी पदार्थों को हम भगवान् कह सकते हैं। समष्टि-व्यष्टि रूप से उभयथा सब कुछ ब्रह्म का

ही वैभव है। **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"–"ब्रह्मैवेदं सर्वम्"** इत्यादि श्रुतिएं इसी ब्रह्मव्यापकता का स्पष्टीकरण रहीं हैं।

ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार आत्मज्योति सर्वोत्कृष्ट ज्योति मानी गई है। कारण इस का यही है कि **सूर्य–चन्द्र–अग्नि–विद्युत–तारक** आदि भूतज्योतिएं जहां प्रकाशित वस्तुओं का ही ज्ञान कराने में समर्थ हैं, वहां आत्मज्योति (ज्ञानज्योति) प्रकाश, एवं अन्धकार दोनों का ज्ञान करवाती है। भूतप्रकाश की सत्ता में आप अन्धकार नहीं देख सकते। परन्तु आत्मप्रकाश में आप दोनों का ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। साथ ही में भूतप्रकाश की प्रतिष्ठा भी आत्मप्रकाश ही है। ज्ञान-ज्योति के आधार से ही उक्त पांचों भूतज्योतियों का परिज्ञान होता है। अतएव हम इस ज्ञानात्मक आत्मज्योति को **ज्योतिषां ज्योतिः** कहने के लिए तय्यार हैं। जैसा कि श्रुति कहती है—

> **न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।**
> **तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥**
>
> (मुण्डको०२।२।६)।

ज्योतिषां ज्योतिर्लक्षण आत्मज्योति स्वयं प्रकाशित है, अतएव हम इसे **स्वज्योति** कहने के लिए तय्यार हैं। बस जो तत्व सूर्य्य की भांति अपने आप भासता रहता है, अपने आप प्रकाशित रहता है, वही तत्व (आत्मज्योति) **"भासते"** के अनुसार **"भम्"** नाम से प्रसिद्ध है। अथवा जिस तत्व के आगमन से मनुष्य भायुक्त (चेतनायुक्त–प्रकाशयुक्त–ज्योतिष्मान्) बन जाता है, जो तत्व मनुष्य में प्रविष्ट होकर उसे तेजस्वी बना देता है, वही तत्व **"येनासौ भाति"** इस व्युत्पत्ति से **"भम्"** कहलाता है। आत्मज्योति का ही नाम **"भम्"** है। जिस के द्वारा यह **"भम्"** प्राप्त होता है, दूसरे शब्दों में जो शक्तिविशेष **"भम्"** प्राप्ति के साधक हैं, उन शक्तिविशेषों को ही–**"येन भं प्राप्यते"** इस व्युत्पत्ति से **"भग"** कहा जाता है। धर्म्म–ज्ञान–वैराग्य ऐश्वर्य–यश–श्री यह ६ धर्म्म ही भं प्राप्ति के द्वार हैं। इन्हीं ६ ओं के कारण मनुष्य भं भाव को प्राप्त होता है। ऐसी दशा में हम अवश्य ही भंप्राप्तिसाधनभूत उक्त ६ ओं धर्म्मों को भग शब्द से

सम्बोधित करने के लिए तय्यार हैं। जिस में यह भग विकसित रहते हैं, वही महापुरुष भगवान् कहलाता है।

पूर्वकथनानुसार जब सभी प्राणी हृदयस्थ भगशाली अव्यय प्रतिष्ठा के कारण भगवान् हैं, तो इस भगवत् शब्द में क्या विशेषता है ? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए भग के प्रतिद्वन्द्वीभाव का स्वरूप जान लेना आवश्यक होगा। राग-द्वेष, संमोह, अस्मिता, अभिनिवेश इन चारों की समष्टि अविद्याबुद्धि है। एवं वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य्य, धर्म्म इन चारों की समष्टि विद्याबुद्धि है। अव्ययात्मा के विद्या (ज्ञान) एवं कर्म्म नाम के दो धातु हैं। द्विधातुमूर्त्ति अव्ययात्मा ही हमारा प्रत्यगात्मा है, इसी का नाम हृदयस्थ "ईश्वर" है। इस के अतिसन्निकट विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध बुद्धि प्रतिष्ठित है। इसी बुद्धि में उक्त चार विद्याभाव, एवं चार अविद्याभाव व्यतिक्रम से प्रतिष्ठित रहते हैं।

बुद्धि में अवश्य ही विद्या (ज्ञान), अविद्या (अज्ञान) दोनों में से एक भाव नित्य प्रतिष्ठित रहेगा। साथ ही में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अव्ययात्मा के विद्याभाग से बुद्धि का विद्याभाग प्रबल रहता है, एवं कर्म्मधातु से बुद्धि का अविद्याभाग प्रबल रहता है। इसी प्रकार बुद्धि के विद्याभाग से अव्यय का विद्याधातु प्रसन्न रहता है, एवं बुद्धि के अविद्याभाग से अव्यय का कर्म्मधातु प्रसन्न रहता है। यदि वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य्य, धर्म्म इन चारों विद्याबुद्धियों का द्विधातुमूर्त्ति अव्यय के विद्याभाग के साथ योग करा दिया जाता है तो बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो जाती है। ठीक इस के विपरीत यदि राग-द्वेष, संमोह, अस्मिता, अभिनिवेश इन चारों अविद्याबुद्धियों का द्विधातुमूर्त्ति अव्यय के कर्म्म भाग के साथ योग होजाता है तो बुद्धियोगनिष्ठा गिर जाती है।

बुद्धि और प्रत्यगात्मा के मध्य में अविद्यारूप पाप्मा का आवरण होजाता है। यही अविद्यावरण दुःख का मूल कारण है। इस आवरण को हटाने की शक्ति एकमात्र बुद्धियोग की ही है। उक्त बुद्धियोग से कर्म्म से उत्पन्न होने वाले अविद्याबुद्धिरूप पाप्माओं से उत्पन्न आवरण अपने आप निवृत्त होजाता है। वैराग्य बुद्धियोग से राग-द्वेषात्मक आवरण, ज्ञानबुद्धियोग से संमोहात्मक अज्ञानावरण, ऐश्वर्य बुद्धियोग से अस्मितालक्षण आवरण, एवं धर्म्मबुद्धियोग से अभिनिवेश-

लक्षण आवरण हट जाता है। इस अविद्यात्मक आवरण के हटने का परिणाम यह होता है कि अव्ययात्मा में प्रतिष्ठित भग नाम के जो स्वरूप धर्म्म हैं, वे आवरण से रहित होते हुए विज्ञानात्मा पर पूर्ण अनुग्रह कर डालते हैं, यही आत्मसाक्षात्कार है। बुद्धिसहकृत कर्म्मात्मा का बुद्धियोग द्वारा प्रत्यगात्मसम्पत् प्राप्त कर लेना ही आत्मसाक्षात्कार है। कर्म्मात्मा लक्षण जीव पर प्रत्यगात्मलक्षण भगधर्म्मावच्छिन्न हृदयस्थ भगवान् का यही अनुग्रह है। इसी अनुग्रह से अव्यय की भगसम्पत्ति का उपभोग करने में समर्थ बनता हुआ बुद्धियोगस्थ कर्म्मात्मा महापुरुषकोटि में आता हुआ भगवान् बन जाता है। प्रत्यगात्मा का वह प्रकाश पुञ्ज आत्मा के विद्याभाग से इसी बुद्धियोग द्वारा प्रादुर्भूत होता

हमनें कहा है कि सूर्य्य--चन्द्र--विद्युतादि पांचों भूतज्योतियों की प्रतिष्ठा प्रत्यगात्मज्योति है। इस सम्बन्ध में यह और जानलेना चाहिए कि प्रकृति मण्डल में प्रत्यगात्मलक्षण यह परमात्मज्योति सर्वप्रथम विश्वकेन्द्रस्थ स्वज्योतिर्घन सूर्य्य में ही अवतीर्ण होती है। इसीलिए पांचों भूतज्योतियों में सूर्य्यज्योति को ही मुख्य माना गया है। सूर्य्यसत्ता आत्मसृष्टि की परिचायिका है, एवं सूर्य्याभाव प्रलयकाल का सूचक है। वह परमात्मज्योति पहिले सूर्य्य में आती है, सूर्य्यरश्मिद्वारा वह हमारे भूतात्मा नाम के कर्म्मात्मा में प्रतिष्ठित होतो है। कहने का तात्पर्य्य यह हुआ कि हृदयस्थ ईश्वर का हमारी अध्यात्मसंस्था के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होकर सूर्य्य के द्वारा ही होता है। सौरत्रिलोकी नाम की रोदसी त्रिलोकी में जितने प्राणी हैं, उन सब की मूलप्रतिष्ठा सूर्य्य ही है। इसी पारम्परिक आत्मसम्बन्ध को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

१.–हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥ (मुण्डको० २।२।९)।

२–यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाऽभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्राविवेश ॥
(ऋक् सं० १।१६४।२१)।

३–यस्मिन् वृत्ते मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नो नशद्यः पितरं न वेद ॥
(ऋक् सं० १।१६४।२२।) ।

"तद्यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्" (शत० १०।५।१।४।) इस निगम के अनुसार सूर्य से नीचे नीचे का सारा प्रपञ्च मृत्युप्रधान है, एवं सूर्य्य से ऊपर ऊपर का सारा विवर्त अमृतप्रधान है। जिस प्रकार एक सुपर्ण (पक्षी) अपने पक्षों से आकाश में बड़ी दूरतक दौड़ लगाता रहता है, एवमेव सूर्य्यबिम्ब को आधार मान कर चारों ओर लोकालोक स्थान तक व्याप्त रहने वालीं सूर्यरश्मिएं अमृत एवं मर्त्यलोक में संचरण किया करतीं हैं। इसी संचरण सादृश्य को लक्ष्य में रखकर इन रश्मियों को सुपर्ण कहा गया है। सूर्य्य से ऊपर रहने वाला अमृतभाग आत्मज्योति है, इस ओर जाने वालीं सूर्य्यरश्मिएं अमृतात्मा के अंशरूप ज्ञानज्योति को अपने उदर में लेकर उसे विज्ञानद्वारा सूर्य्यज्योति में प्रविष्ट करतीं रहतीं हैं। यह प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है। आगे जाकर यह इन (सूर्य्य) इन्हीं रश्मियों के द्वारा अपने से नीचे प्रतिष्ठित मृत्युलोक के भौतिक रस का स्वयं भी पान करता रहता है, एवं इस भौतिक रस से मृत्युलोक में रहने वाली प्रजा का भी पोषण किया करता है।

इस प्रकार रश्मियों द्वारा ऊपर से अमृतरस, एवं नीचे से मर्त्यरस दोनों को लेकर अमृत–मृत्युमय बनता हुआ सूर्य विश्व के मध्य में अपनी सहस्र किरणों से तप रहा है। अमृत-लोकस्थ विज्ञानज्योति से युक्त यह सूर्य रश्मिद्वारा इस पृथिवीलोक में बुद्धि का प्रवर्त्तक बनता हुआ बुद्धिरूप से ही हमारी अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट होता है। अमृतलोकस्थ चिदात्मज्योति सूर्य्य में आकर सूर्यस्थ भूतज्योति से संश्लिष्ट बनकर भूतज्योतिप्रधान बन जाती है। यही सौरभूतज्योति पृथिवीलोकस्थ मनुष्यशरीर में रश्मिद्वारा प्रविष्ट होकर बुद्धिरूप ज्ञानज्योतिस्वरूप में परिणत हो जाती है।

तात्पर्य यही हुआ कि सूर्य से उसपार ज्ञानज्योति है, इस ओर हमारा भौतिकशरीर है, दोनों के मध्य में सूर्य्य है। ज्ञानज्योति सूर्य्य में आकर तद्रूप में परिणत होजाती है।

जहां से ज्ञानज्योतिर्गर्भिता जो भूतज्योति रश्मिद्वारा हमारे भौतिकशरीर में आती है, वही हमारी आध्यात्मिक ज्ञानज्योति कहलाती है। "यत्रा सुपर्णाः०" इत्यादि मन्त्र का यही निष्कर्ष है।

ब्रह्माश्वत्थ, कर्माश्वत्थ भेद से आध्यात्मिक विज्ञान में दो वृक्ष माने गए हैं । ब्रह्माश्वत्थ का ईश्वरतन्त्र, किंवा प्रकृतितन्त्र से सम्बन्ध है । एवं कर्माश्वत्थ का जीवतन्त्र, किंवा विकृतितन्त्र से सम्बन्ध है । इन दोनों में से "यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णाः" इत्यादि मन्त्र में जीवसंस्था सम्बन्धी कर्माश्वत्थ का ही ग्रहण है । संचित कर्म्मों के आधार पर जन्मकाल में नवीन नवीन कर्म संस्कारों का संचय, पुनः जन्म, पुनः संस्कार, चक्रवत् परिवर्त्तित इस कर्म्म-संतान का ही नाम कर्माश्वत्थवृक्ष है । इसी कर्मवृक्ष पर जीवात्मा प्रतिष्ठित रहता है । इस वृक्ष पर प्रतिष्ठित जीवात्मा शुभाशुभकर्मों का फल भोग करता है । अतएव इसे मध्वद कहा गया है । बुद्धि भोगसाधन है । यह बुद्धितत्व साक्षात् आध्यात्मिक सूर्य है । इस आध्यात्मिक सूर्य से दो प्रकार की रश्मिएं निकलतीं हैं । रश्मिएं एक ही तरंह की हैं । केवल भोगभेद से इन की दो अवस्थाएं हो जातीं हैं । जाग्रदवस्था में यह रश्मिएं विश्वान्तर्गत बहिरङ्ग विषयों का रसास्वादन करतीं हैं । एवं सुषुप्तिकाल में, (जब कि इन्द्रियसहित मन अपने ऐन्द्रियक विषयों से हट कर बुद्धि में विलीन होजाता है, यह बुद्धिरश्मिएं आत्मा में विलीन होतीं हुईं) विशुद्ध आत्मा का ही उपभोग करतीं हैं । आनन्दानुभव का द्वैतभाव से सम्बन्ध है । इधर सुषुप्ति में द्वैतभाव तिरोहित हो जाता है । अतएव जैसा अनुभव जाग्रदवस्था में हमें विषयानन्दोपभोग में होता है, वैसा अनुभव सुषुप्ति में आत्मानन्दोपभोग में नहीं होता । दूसरे शब्दों में जाग्रदवस्था में समृद्धानन्द है, सुषुप्ति में शान्तानन्द है । पहिला आनन्द विषयानन्द है, दूसरा आत्मानन्द है । पहिला आनन्द अशान्ति का मूल है, दूसरा आनन्द शान्ति का दूत है । पहिले आनन्द से थकान होती है, दूसरे आनन्द से थकान मिटती है । जब बुद्धिरश्मिएं आत्मानन्द में विलीन हो जातीं हैं तो सुषुप्ति हो जाती है । जाग्रदवस्था के उपक्रम में पुनः वे रश्मिएं विश्व की ओर प्रवृत्त होतीं हुईं स्व स्व ऐन्द्रियक विषयग्रहण में संलग्न बन जातीं हैं । जिस की बुद्धि अपने विज्ञानजनक उस आत्मतत्त्व को मूल बना कर विषयों में अनासक्ति पूर्वक प्रवृत्त

रुपये के लाभ से ही प्रसन्न होजाते हैं। कितनें हीं ऐसे भी हैं, जिन की दृष्टि में दस लाख का भी कोई महत्व नहीं है। मानना पड़ेगा कि इन की आत्मा अधिक विशाल है। ऐसी दशा में जिसने संसार के सम्पूर्ण वैभव का तिरस्कार कर डाला, उस की महत्ता का तो कहना ही क्या है। यही पहिली भगवत्त्व सम्पत्ति है। संसार का वैभव जिस महापुरुष की दृष्टि में सर्वथा नगण्य है, वह अवश्य ही भगवान् है।

दूसरी विद्याबुद्धि **ज्ञानलक्षणा** है। यों तो सभी को थोड़ा बहुत ज्ञान है, परन्तु न तो हम इस सामान्य ज्ञान को भग ही कह सकते, एवं न ऐसे ज्ञानी को भगवान् ही कहा जासकता। यद्यपि ज्ञान की अनेक धाराएं हैं, परन्तु अभी दो ज्ञानधाराओं की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। एक **द्रष्टृत्वलक्षण ज्ञान** है, दूसरा **स्मृतिलक्षण ज्ञान** है। प्रत्यक्षदृष्ट-ज्ञान पहिला ज्ञान है, एवं शब्दग्रन्थजनित ज्ञान स्मृतिलक्षण ज्ञान है। "विद्युत् में इतनी शक्ति है, यह शक्ति है, इतने समय में इतनी खर्च होती है" यह सुन लेना स्मृतिलक्षण ज्ञान है, एवं स्वयं परीक्षा द्वारा प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त करना पहिला ज्ञान है। थ्योरी Theory जान लेना दूसरा ज्ञान है, प्रेक्टिकलवर्क Practical work पहिला ज्ञान है। विज्ञानद्वारा आजमाइश किया हुआ ज्ञान प्राथमिक है, एवं श्रुतिज्ञान दूसरा है। इन दोनों में प्रथम ज्ञान को ही "भग" कहेंगे।

अस्मदादि साधारण मनुष्यों का ज्ञान स्मार्त्तज्ञान है। हमनें केवल सुन कर ही उस विषय पर विश्वास कर लिया है, कभी परीक्षा नहीं की है। इसीलिए हम भगवान् नहीं कहला सकते। जो मनुष्य जिस अर्थ का द्रष्टा (परीक्षक—अनुभवकर्त्ता—साक्षात्कर्त्ता) होता है, वह उस अर्थ में **"तत्र भवान्"** कहलाता है। वही उस विषय के निर्णय में प्रमाण माना जाता है। तत्र भवान् का अक्षरार्थ है, **"उस में आप"**। आप शब्द महत्व का सूचक है। किसी विषय को जानने वाला उस विषय की अपेक्षा से तभी महान् कहला सकता है, जब कि वह उस विषय का साक्षात्-कर्त्ता हो। पहुंचवान को ही संस्कृतसाहित्य में **आप्त** कहा जाता है, प्राप्त को ही आप्त कहा जाता है। एक मनुष्य ने आत्मसाक्षात् कर रक्खा है, दूसरे ने शब्दद्वारा सुन भर रक्खा है। दोनों में साक्षात्कार करने वाला ही तत्र भवान् कहा जायगा, एवं आत्मसम्बन्ध में इसी आप्त का उपदेश

सर्वमान्य होगा। आत्मविद्या के साथ ही तत्र भवान् मूलक आप्तभाव का सम्बन्ध नहीं है। अपितु संसार के सभी मनुष्य अपने अपने द्रष्टृत्वलक्षण ज्ञान की अपेक्षा से तत्र भवान् बनते हुए आप्त हैं, और वे अवश्य ही उन उन विषयों में प्रमाण हैं। कोली, चमार, धोभी, नाई, चोर, वेश्या, डाकू सब अपने अपने विषयों में तत्र भवान् हैं। आप्त शब्द का किसी नियत व्यक्ति, किंवा नियत विषय के साथ ही सम्बन्ध नहीं है। अपितु जो जिस विषय का द्रष्टा है, (चाहे वह किसी जाति का हो) उस विषय में वही आप्त है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए—**"आप्तोपदेशः शब्दः"** इस गौतमसूत्र का भाष्य करते हुए **वात्स्यायन** कहते हैं—

> **"आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्म्मा, यथार्थदृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याऽऽप्तिः। तया प्रवर्त्तते इत्याप्तः। ऋष्यार्य्यम्लेच्छानां समानं लक्षणं, तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्त्तन्ते" (वा० भा० — २।१।७।) इति।**

उक्त द्रष्टृत्वलक्षण ज्ञान को भी हम दो भागों में विभक्त करेंगे। एक **अतीन्द्रियपदार्थद्रष्टृत्वलक्षण ज्ञान है, दूसरा इन्द्रियसापेक्षपदार्थद्रष्टृत्वलक्षण ज्ञान है।** आप्तता दोनों में हीं समान है, परन्तु भगवत्ता में विषमता है। चक्षुरादि इन्द्रियों के प्रयास से जिस ज्ञान का प्रत्यक्ष किया जाता है, वह इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान है। भौतिकप्रपञ्च से सम्बन्ध रखने वाले जितनें भी आविष्कार हैं, सब का इसी से सम्बन्ध है। परन्तु जहां हमारी देहेन्द्रिएं काम नहीं देस कतीं, वहां यह ज्ञान व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। **भूत–भविष्यत्–स्वर्ग–नरक–आत्मा-परमात्मा** आदि कई पदार्थ अतीइन्द्रिय हैं। इन के सम्बन्ध में भौतिक विज्ञान अवरुद्ध है। यहां केवल तपोमूला योगगजदृष्टि ही सफल होती है। इसी को **दिव्यदृष्टि, आर्षदृष्टि** आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। यही ज्ञान **"भग"** कहलाएगा। जो अपनी दिव्यदृष्टि से सर्वथा परोक्ष, एवं इन्द्रियातीत विषयों का साक्षात्कार करने में समर्थ है, उसी का यह ज्ञान अतीन्द्रियपदार्थदृष्टृत्वलक्षण ज्ञान है। यही ज्ञान भग शब्द से अभिप्रेत है। ऐसे ज्ञानी हीं भगवान् कहलाते हैं। इसी दिव्यदृष्टि का स्वरूप बतलाते हुए अभियुक्त कहते हैं—

आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥१॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावान्, वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥२॥

तीसरी विद्याबुद्धि **ऐश्वर्यलक्षणा** है । स्वतःसिद्ध, एवं योगसिद्ध **अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व** इन आठ सिद्धियों की समष्टि ही ऐश्वर्य्य नाम का तीसरा भग है । वस्तुतः इन आठों का ईश्वरसंस्था से ही सम्बन्ध है । बलतत्व को आत्मा, एवं वित्तभेद से दो भागों में बांटा जासकता है । आत्मबल स्वतन्त्रबल है, वित्तबल आश्रित बल है । शरीर चूंकि आत्मा का वित्त है, आत्मा की सम्पत्ति है, अतएव शरीरबल का वित्तबल में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है । इन दोनों में आत्मबल ऐश्वर्य है, एवं वित्तबल को श्री कहा जाता है । ईश्वर सम्बन्ध से ही यह आत्मबल ऐश्वर्य नाम से सम्बोधित हुआ है ।

वही ईश्वर छोटे से छोटा कीटाणु बना हुआ है, यही इस का **अणिमाभाव** है । वही महाविश्व रूप में परिणत होरहा है, यही इसका **भूमाभाव** है । संसार में जो भारी से भारी पदार्थ है, वह भी ईश्वरीय शक्ति ही है, एवं हलकी से हलकी वस्तु भी वही है । वह एक स्थान पर बैठा हुआ ही सम्पूर्ण पदार्थों को अपनी सीमा में लिए हुए है, यही **प्राप्ति-भाव** है । वह बाहर भीतर सब स्थानों में यथेच्छ विहार कर रहा है, यही इस का **प्राकाम्य भाव** है । वह **अन्तर्यामी** सब का शास्ता बन रहा है, यही इस का ईशित्व है । उस **सूत्रा-त्माने** अपने नियतिदण्ड से सब को वशवर्त्ती बना रक्खा है, यही इस का वशित्व है ।

जीव न अणु से अणु बन सकता, न महान् से महान् बन सकता । जीवात्मा (मनुष्य) अपनी शक्ति से उतना ही रहता है, जितना कि बल उस के त्रिगुणमहान् में पहिले से नियत रहता है । यदि किसी मनुष्य में यह शक्तिएं जन्मकाल से ही देखीं जातीं हैं तो उसे मनुष्य न कह कर ईश्वर कहा जाता है । यदि किसीने योगप्रक्रियाविशेष से उक्त सिद्धिएं

प्राप्त कीं हैं तो उसे **योगी** कहा जाता है।

ईश्वर की इन आठों सिद्धियों का देवयोनियों पर अनुग्रह होता है। **यक्ष-राक्षस-पिशाच-गन्धर्व-पितर-ऐन्द्र-प्राजापत्य-ब्राह्म** इन आठों देवयोनियों का निवासस्थान चान्द्रधरातल है। इन में जन्मकाल से ही यह सिद्धिएं विद्यमान रहतीं हैं। मनुष्य भी प्रक्रिया-विशेष से इन्हें प्राप्त कर सकता है, जैसा कि निम्न लिखित निदर्शनों से स्पष्ट है।

१—अणिमा

अणुता को ही अणिमा कहते हैं। इच्छामात्र से छोटे से छोटा शरीर बना लेना अणिमा सिद्धि है। योगशास्त्रोक्त मन:संयमसे यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसीं सिद्धि के बल पर पवनपुत्र मारुति (हनुमान) अति सूक्ष्मशरीर बना कर सुरसा के शरीर से बाहर निकलने में समर्थ हुए थे। इसी शरीर से राक्षसों की दृष्टि से बचते हुए उन्होंनें लङ्का में सीता का अन्वेषण किया था।

२—महिमा

महिमासिद्धि अणिमा के ठीक विपरीत है। शरीर को यथेच्छ बढ़ा लेना ही महिमा है। चाक्षुष मन्वतर में होने वाले जलप्रलय में मत्स्यरूपधारी भौम विष्णुने इसी के प्रभाव से अति शीघ्र अपना महाविशाल शरीर बना डाला था। इसी शरीर के आश्रित रहने वाली नौका पर बैठकर कतिपय महर्षियों के साथ चाक्षुष मनुने जलौघ (समुद्री तूफ़ान) से त्राण पाया था (देखिए शत. ब्रा. ८।१।१)। इसी के प्रभाव से हनुमान ने सुरसा की शरीर वृद्धि के साथ अपना शरीर बढ़ाया था।

३—गरिमा

शरीर को यथेच्छ भारी बना लैना ही गरिमा है। माता कुन्ती, एवं सती द्रौपदी के साथ पांचों पाण्डव १४ वर्षों के लिए वन में निकल गए थे। परिभ्रमण करते करते यह लोग

एक बार एक ऐसे सरोवर के पास जा निकले, जिसमें एक सुन्दर कमल का पुष्प तैर रहा था। द्रौपदीने लालसा प्रकट की कि मेरे लिए पुष्प और आने चाहिएं । इस नारीहट के कारण भीम को जाना पड़ा । खोज ही खोज में यह निषध पर्वत पर जा पहुंचे । वहां मारुति पहिले से ही बैठे थे । उन्होंनें अपने वरपुत्र भीम के बलाभिमान को दूर करने के लिए इसी गरिमा का आश्रय लिया । हनुमान ने अपना शरीर इतना बोझल बनाया कि दशसहस्र हाथियों के बल का अभिमान करने वाले मोटे ताजे भीम से अल्पकाय मारुति टस से मस न किए जासके । लङ्केश की राजसभा में इसी के प्रभाव से बालिपुत्र युवराज अङ्गद का पैर किसी से स्थानच्युत न हुआ । इसी स्वाभाविक बल के कारण भगवान् कृष्णने महाकाय, एवं महाबलिष्ठ चाणूर जैसे योद्धा को परास्त किया ।

४–लघिमा

शरीर को यथेच्छ वायु से भी हलका बना लेना लघिमा है । इससे पार्थिवाकर्षण का कोई असर नहीं रहता । इस सिद्धि को प्राप्त कर लेने वाला मनुष्य विमानादि साधनों के बिना भी आकाश में विचर सकता है । भौमदेवता इसी सिद्धि के आधार पर आकाश में घूमा करते थे । इसी के प्रभाव से हनुमान समुद्रोल्लंघन में समर्थ हुए थे । इसी के प्रभाव से परमभागवत नारद आकाश मार्ग में विचरते हुए भगवान् कृष्ण के समीप, एवं अन्यान्य स्थानों पर पहंचा करते थे । धारणा–ध्यान–समाधि भेद से योग के तीन अङ्ग माने गए हैं । दीर्घकाल तक आदर पूर्वक इन तीनों का अभ्यास करते रहने से कालान्तर में तीनों का संयम हो जाता है, यही 'संयम" है । "कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमात्, लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्" इस पातञ्जल सिद्धान्त के अनुसार शरीर का आकाश के साथ पूर्ण संयम होजाने से शरीर गुरुत्वाकर्षण से विमुक्त होता हुआ तूल (रुई) के समान हलका हो जाता है ।

५–प्राप्ति

एक स्थान पर बैठे हुए २००, अथवा अधिक दूर पर स्थित वस्तु को आकर्षण द्वारा

अपने पास मंगा लेना ही प्राप्ति है। पर्वत के शिखर पर फल लग रहे हैं। इस विद्या से सिद्ध योगी भूतल पर खड़े खड़े ही फल खा रहे हैं, यही प्राप्ति है।

६–प्राकाम्य

पृथिवी, जल, तेज, वायु, इत्यादि भौतिक पदार्थों में जो अभिघात होता है, वह इस सिद्धि से हट जाता है। इसके बल से योगी पानी की तरह पृथिवी के अन्तस्तल में प्रवेश कर सकता है, महाकठिन पाषाणादि शिलाओं में प्रविष्ट हो सकता है। चिरकाल पर्यन्त यथेच्छ पानी की गहराई में रहने पर भी इसका दम नहीं घुट सकता। अग्नि इसे नहीं जला सकता। सात तालों में नियन्त्रित रहता हुआ भी यह अदृश्य हो सकता है। जरासंध के आकस्मिक आक्रमण होने पर इसी शक्ति के प्रभाव से भगवान् कृष्णने समुद्र में बसी हुई द्वारिका में एक दिन के भीतर सब यादवों को पहुंचा दिया था, एवं युद्ध के लिए उसी दिन लौट आए थे। महाराज नल भी इस सिद्धि में निष्णात थे। प्रासाद का द्वार चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, नत हुए बिना ही नल उनमें प्रवेश कर जाते थे। रिक्त घट उन की दृष्टिमात्र से जलपूर्ण हो जाते थे। काष्ठ स्वतः इच्छामात्र से प्रज्वलित होजाता था। महाराज ऋतुपर्ण के सारथि बने हुए नल जिस समय दमयन्ती स्वयम्वर में पहुंचे तो महासती दमयन्तीने अपनी दासी केशी को सारथी के पास (उन की जांच करने के लिए) भेजा। कारण इस सन्देह का एकमात्र था ऋतुपर्ण का इतने शीघ्र स्वयम्वर में पहुंच जाना। उसने विचार किया है कि हो न हो, सारथि के रूप में आर्यपुत्र ही हैं। नल ही उस समय रथ हांकने में महाकुशल माने जाते थे। केशी वहां पहुंचती है, एवं नल के उन अद्भुत चरित्रों को देख कर विस्मित हो जाती है। तुरन्त वापस लौटती है, और दमयन्ती से कहने लगती है—

> ह्रस्वमासाद्य सञ्चारं नासौ विनमते क्वचित् ॥
> तं तु दृष्ट्वा यथासङ्गमुत्सर्पति यथासुखम् ॥१॥
> संकटेऽप्यस्य तु महान् विवरो जायतेऽधिकः ॥
> तस्य प्रक्षालनार्थाय कुम्भस्तत्रोपकल्पिताः ॥२॥

ते तेनावेष्टिताः कुम्भाः पूर्णा एवाभवंस्ततः ॥
तृणमुष्टिं समादाय सवितुस्तं समादधत ॥ ३ ॥
अथ प्रज्वलितस्तत्र सहसा हव्यवाहनः ॥
तदद्भुतं दृष्ट्वा विस्मिताहमिहागता ॥ ४ ॥

(म० भा० वनपर्व ७१ अ०)।

७—ईशित्व

अलौकिक कर्म्म करने योग्य प्राप्त शक्तिविशेष ही ईशित्व है। अणिमादि सिद्धियों को दूसरों में डाल देना ही ईशित्व है। इसी ईशित्व के प्रभाव से भगवान् कृष्ण ने लघिमा प्रवेश से गोवर्द्धन पर्वत को हलका बना कर उसे कन्दुक की तरह अपनी अंगुली पर उठा लिया था, द्वारिका में बैठे बैठे हुए ही द्रौपदी का चीर बढ़ा दिया था। अदृश्य होजाना भी इसी सिद्धि के अन्तर्भत है।

८—वशित्व

अपने से प्रबल बलशाली को भी वश में कर लेना वशित्व है। इसी सहज सिद्धि के प्रभाव से कृष्ण कालियदह में कूद पड़े थे, एवं विषधर सर्पों का दमन कर डाला था। इसी सिद्धि के प्रभाव से महर्षियों के तपःपूत पवित्र आश्रमों में हिंसक पशु परस्पर में अभिन्न मित्र बने रहते थे।

———०———

चौथी विद्याबुद्धि धर्म्मलक्षणा है। प्राकृतिक नित्य नियमों की समष्टि ही धर्म्म है। धर्म्म ही वस्तुस्वरूप की प्रतिष्ठा है। महर्षियों ने इस वर्णमूलक नित्यधर्म्म के आधार पर सुप्रसिद्ध वर्णाश्रमधर्म्म की व्यवस्था की है। वे ही व्यवस्थाशास्त्र धर्म्मशास्त्र नाम से व्यवहृत हुए हैं। जिस व्यक्ति की जन्मकाल से ही धर्म्म की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति हो, जिस के जीवन की प्रत्येक क्रिया स्वत एवं धर्म्मपथ का अनुसरण करती हो, वही परमधर्म्मिष्ठ कहलाता है। ऐसी स्वाभाविक धर्म्मवृत्ति ही भग कहलाती है। जब तक धर्म्मरक्षा है, तभी तक धर्म्मी की स्वरूपरक्षा है। धर्म्मीद्वारा धारण किया हुआ धर्म्म धर्म्मी को धारण करता है। धर्म्म का यदि परित्याग कर दिया जाता है तो वह

परित्यक्त धर्म्म उस धर्म्मी का विनाश कर डालता है। इसी अभिप्राय से व्यासदेव कहते हैं—

> यो धृतः सन् धारयते स धर्म्म इति कथ्यते ।
> धर्म्म एव हतो हन्ति धर्म्मो रक्षति रक्षितः ॥

५—यश

पाचवां भग यश है। यद्यपि इस का बुद्धियोग के साथ सम्बन्ध नहीं है, तथापि भगवत्-स्वरूप सम्पादन में इस का अवश्य ही उपयोग होता है। यश एक प्रकार का सौम्य प्राण है। इस का प्रभव चन्द्रमा है। चन्द्रमा के रेत, श्रद्धा, यश यह तीन मनोता माने गए हैं। जिस की अध्यात्मसंस्था में यह चान्द्र यशःप्राण जन्म से प्रतिष्ठित रहता है, वही लोक में यशस्वी होता है। हम देखते हैं कि कितने हीं व्यक्ति बड़े बड़े उत्तम कार्य करते हैं, परन्तु उन्हें यश नहीं मिलता। यही नहीं, कभी कभी तो इन कर्म्मठों को पुरस्कार में अपयश भी मिल जाता है। उधर कितने हीं व्यक्ति ऐसे भी हैं, जिन्हें बिना कारण, अथवा साधारण कारण से भी यश मिल जाता है। इसी आधार पर हमें मानना पड़ता है कि यश का अवश्य ही प्रकृति से सम्बन्ध है। जिस में यशःप्राण होगा, वही लोक में यशस्वी होगा। जिस में यशःप्राण न होगा, वह यशःप्राप्तिसाधक कर्म्म करता हुआ भी अपयश का ही भागी बनेगा।

६—श्रीः

श्री नाम के भग का पृथिवी के साथ सम्बन्ध है। शरीरकान्ति ही श्री है। शरीर का उपादन पृथिवी है। यहीं से श्री का विकास होता है। शरीर की अतिशय सुन्दरता ही श्रीभाव है। इस भग का भी बुद्धियोग के साथ सम्बन्ध नहीं है। यश और श्री इन दोनों का सम्बन्ध बुद्धियोग के साथ क्यों नहीं है? इस की मीमांसा आगे आने वाले बुद्धियोग प्रकरण में देखनी चाहिए।

अभी इस सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि जिस में उक्त भगसम्पत्तिएं जन्मकाल से बिना प्रयास के स्वतः विद्यमान रहतीं हैं, वह मानव शरीरधारी होता हुआ भी भगवान् कहलाता है।

अब देखना हमें यह है कि कृष्ण में भगवत्व सम्पादक उक्त भग थे, अथवा नहीं। सबसे पहिले क्रमप्राप्त **वैराग्य** को ही लीजिए। जिस आचार्यने वैराग्यबुद्धियोगमूला राजर्षि-विद्या के उपदेश से अर्जुन को राग-द्वेष रहित बना डाला, वह स्वय कैसा होगा, यह विचार ही व्यर्थ है। **"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि"** यही वाक्य वैराग्यभग का सूचक है। वे चाहते तो एक महासाम्राज्य का निर्म्माण कर सकते थे, परन्तु नहीं। उन्होंनें ऐसीं राज्य-लिप्सा की कभी वासना भी न की। कंस का साम्राज्य उन की निजी सम्पत्ति हो गई थी, परन्तु उन्होंनें क्या किया, यह सर्वविदित है।

यही अवस्था ज्ञान की थी। जब कृष्ण की ज्ञानशक्ति की ओर दृष्टि जाती है तो हमें स्तब्ध रह जाना पड़ता है। ज्ञान भग के सम्बन्ध में गीताशास्त्र ही पर्याप्त प्रमाण है। जिस गीताशास्त्र का मन्थन करते करते विद्वान् थक गए हैं, जो गीताशास्त्र समस्त विश्व का आराध्य देव बन रहा है, उस के उपदेष्टा के ज्ञान की मीमांसा करना अपने आप को प्रायश्चित्त का भागी बनाना है।

ऐश्वर्य के सम्बन्ध में भी विशेष वक्तव्य नहीं है। ऐश्वर्य्ययोग के प्रथम प्रवर्त्तक भगवान् शङ्कर जहां योगेश्वर कहलाते हैं, वहां इस योग के परमाचार्य कृष्ण **योगीश्वर** नाम से प्रसिद्ध हैं। योगाचार्य शङ्कर थे तो योगियों के आचार्य कृष्ण थे। बाल्यावस्था में समय समय पर भगवान् ने अपने इस ऐश्वर्यभाव को प्रकट किया है। दुर्योधन की राजसभा में दूतावस्था में इसी योग का दिग्दर्शन हुआ है। जयद्रथबध के सम्बन्ध में भक्त अर्जुन की प्रतिज्ञा रक्षा के लिए इसी योग का आश्रय लिया गया है। विराट्स्वरूपप्रदर्शन भी इसी योग का सूचक है।

इसी प्रकार धर्म्म के भी कृष्ण महापक्षपाती हैं। वर्णाश्रममूलक धर्म्म, एवं प्रतिपादक धर्मशास्त्र दोनों के यह अनन्य भक्त हैं। **"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते०"** इत्यादि रूपसे बड़े आवेश के साथ भगवान् ने अपनी धर्मनिष्ठा प्रकट की है।

साय है। इस अध्यवसाय से व्यवसायात्मिका एक बुद्धि का विकास दब जाता है। फलतः बुद्धिसंश्लिष्ट अमृतात्मा का विद्यामाय परशक्तियों से नित्य संपन्न रहता हुआ भी प्रकाशित नहीं रहता। इसीलिए साधारण मनुष्य व्यामोह में पड़ते हुए कर्तव्याकर्तव्य विवेक से च्युत होजाते हैं। यही इनके दुःख का मूल कारण है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (गी० ७।१३)।

ठीक इसके विपरीत भग नाम के चतुर्विध विद्याबुद्धियोग के उदय से अविद्याबुद्धिएं पलायित हो जातीं हैं। अविद्या आवरण के हटते ही बुद्धि में स्वस्थता उत्पन्न हो जातीं है। बुद्धि के समभाव में परिणत होते ही आत्मा के विद्याप्रकाश का बुद्धि पर अनुग्रह हो जाता है। यही इस का आत्मसाक्षात्कार है, यही भगसम्पत्ति की प्राप्ति है, यही इस की भगवत्ता है। भगशाली बनते ही वे अनन्त आत्मशक्तिएं अपने आप प्रकट होकर इस भगवान् को सर्वज्ञ बना डालतीं हैं। इसी भगलक्षणा सर्वज्ञता से यह अतीत अनागत सब कुछ जान लेता है। उत्पत्ति, प्रलय, आगति, गति, विद्या, अविद्या सब कुछ इसके लिए प्रत्यक्षवत् हो जाते हैं। इसे अपने पूर्वजन्मों का पूर्ण परिज्ञान हो जाता है, यही जातिस्मरता है। इसी आधार पर भगवान् ने अर्जुन के "अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः" यह जिज्ञासा करने पर–"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप" यह समाधान किया है। विदितवेदितव्य इसी भगवान् का लक्षण करते हुए अभियुक्त कहते हैं–

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्तिविद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

भगवान् किसे कहा जाता है? इस प्रश्न का समाधान हो चुका। अब प्रकृत विषय के साथ उक्त समाधान का समन्वय कीजिए। विवाद इस समय बुद्धियोगनिष्ठा सम्बन्धी वैराग्य, ज्ञान,

ऐश्वर्य, धर्म्म इन चार भागों पर अवलम्बित हैं। हमारे वासुदेवकृष्ण में इन चारों भागों का विकास था, अतएव इन्हें भगवान् माना गया। अपने कर्म्मात्मा को बुद्धियोग द्वारा प्रत्यगात्मलक्षण अव्यय में प्रतिष्ठित करते हुए समभाव में परिणत कर लेना ही अच्युतभाव है। "**अव्ययात्मनिष्ठत्वमच्युतत्वम्**" इस लक्षण के अनुसार अव्ययात्मनिष्ठा ही अच्युतनिष्ठा है। वस्तुतस्तु अच्युतभाव का "**बुद्धियोगनिष्ठत्वमच्युतत्वम्**" यही लक्षण समझना चाहिए। कारण इस का यही है कि बिना बुद्धियोगनिष्ठा के समतालक्षणयोग का उदय नहीं होता, एवं बिना समता के आत्मा के अच्युत धर्म्म का विकास नहीं होता। फलतः बुद्धियोगनिष्ठा को ही अच्युतभाव के प्रति कारणता सिद्ध होजाती है।

जब अच्युतभाव का बुद्धियोगनिष्ठा के साथ सम्बन्ध है तो एक विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। **वेदव्यास-कपिल-कणादादि** महर्षियों को भी इस दृष्टि से अच्युतभगवान् कहा जाना चाहिए। क्योंकि वैराग्य-ज्ञान ऐश्वर्य-धर्म्म इन चारों बुद्धियोगनिष्ठाओं में से इन महर्षियों में अवश्य ही एक एक दो दो बुद्धिनिष्ठाएं विद्यमान थीं। जब कि इन में बुद्धियोगनिष्ठा थीं, एवं बुद्धियोगनिष्ठा ही अच्युतप्राप्ति का कारण है तो ऐसी दशा में हम अवश्य ही इन्हें भी अच्युतभगवान् कह सकते हैं। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण में हमें केवल यही बतलाना है कि अच्युत शब्द चारों भगों में ही योगरूढ़ है। कीचड़ में सैंकड़ों वस्तुएं उत्पन्न होतीं हैं, परन्तु पङ्कज केवल कमल ही कहलाता है। इसी प्रकार बुद्धियोगनिष्ठा के कारण सभी भगवानों के अच्युत रहने पर भी, अच्युत वही कहलाता है, जिस में कि चारों बुद्धियोग होते हैं।

वस्तुतस्तु बिना चारों बुद्धियोगों की समष्टि के अच्युत भगवत्त्व उत्पन्न ही नहीं होता। कारण इस का यही है कि चार क्लेश अव्ययात्मा की च्युति के मूलकारण हैं। जब तक चारों में से एक भी क्लेश रहेगा, तब तक पूर्णरूप से अच्युतभाव का उदय न होगा। पूर्णता में ही हृदयभाव का विकास सम्भव है, हृदयप्रतिष्ठा ही पूर्ण समता की प्रवर्त्तिका है, पूर्णसमता ही अच्युतभाव की जननी है। यदि चारों में एक बुद्धियोग है तो एक दोष हटेगा। शेष दोष ज्यों के त्यों नहीं तो आंशिकरूप से अवश्य रहेंगे। जब तक दोषों का प्रत्यंश भी विद्यमान है, तब तक एक देश में

अच्युतभाव के आजाने पर भी पूर्णअच्युतत्व असम्भव है। पूर्णता तो चारों निष्ठाओं की समष्टि पर ही अवलम्बित है। ऐसी दशा में हम उसे ही एकमात्र अच्युत भगवान् कहेंगे, जिस में कि चारों निष्ठाओं का जन्मकाल से ही पूर्ण विकास होगा। वेदव्यासादि में एक एक दो निष्ठाएं हीं थीं, अतएव वे केवल भगवान् कहलाए, परन्तु कृष्ण में चारों का पूर्ण विकास था, अतएव वे अच्युतभगवान् कहलाए। इतर भगवानों की अपेक्षा कृष्ण की भगवत्ता में यही विशेषता है।

स्वयं वेदव्यासादि भगवानों ने—"**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**" यह कहते हुए कृष्ण की अच्युतभगवत्ता स्वीकार की है। कृष्ण में चारों भग थे, यह तो विशेषता है ही। परन्तु इस के साथ ही सब से बड़ी विशेषता यह है कि उक्त चारों बुद्धियोगों का स्वरूप सब से पहिले कृष्ण ने ही संसार के सामने रक्खा है। इसीलिए इन्हें अच्युतभगवान् के साथ साथ जगद्गुरू भी माना गया है—(कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्)। अच्युतभगवत्व ही महापुरुषभाव का द्योतक है। यह जीव की अपेक्षा विलक्षण धर्म्म है।

विद्यासमुच्चित कर्म्म के तारतम्य से जीव की सात संस्थाएं हो जातीं हैं। **अग्नि-वायु-इन्द्र** इन तीनों के तारतम्य से कर्म्मप्रधान **खनिज, उद्भिज्ज, जीवज** भेद से **असंज्ञ, अन्तःसंज्ञ, ससंज्ञ** नाम की तीन जीवसंस्थाएं प्रकट होतीं हैं। अग्नि का कर्म्म से सम्बन्ध है, एवं अग्नि—वायु-इन्द्र तीनों एक ही अग्नि की घन-तरल—विरल नाम की तीन अवस्थाएं हैं। अतः इन तीनों जीवसंस्थाओं को हम कर्म्मप्रधान कहने के लिए तय्यार हैं।

उक्त तीनों जीवसंस्थाओं में से ससंज्ञ नाम की तीसरी संस्था के **कर्म्मात्मसंस्था, चिदात्मसंस्था, ईश्वरसंस्था** भेद से अवान्तर तीन विभाग होजाते हैं। इन तीनों में कर्म्मात्मसंस्थ ससंज्ञ जीव कर्म्मप्रधान है, चिदात्मसंस्थ ससंज्ञभाव उभय (विद्या—कर्म्म) प्रधान है, एवं तीसरा ईश्वरसंस्थ ससंज्ञभाव विद्या प्रधान है।

तीनों में से ईश्वरसंस्थ ससंज्ञभाव पुनः **ऊर्क्संस्थ, श्रीसंस्थ,** एवं **विभूतिसंस्थ** भेद से तीन भागों में विभक्त है। यह तीनों ही आत्मविवर्त्त विद्याप्रधान हैं।

सप्तसंस्थो जीवः

(१) १—वैश्वानराग्निसंस्थः—असंज्ञः—खनिजः——→कर्म्मप्रधानः (९) ।
१—(२) २—तैजसवायुसंस्थः—अन्तःसंज्ञः—उद्भिज्जः—→कर्म्मप्रधानः (८) ।
(३) ३—प्राज्ञात्मरूपेन्द्रसंस्थः—ससंज्ञः—जीवजः————→कर्म्मप्रधानः (७) ।

———— ० ————

(३) १—कर्म्मात्मसंस्थः——→............... ४ कर्म्मप्रधानः (६) ।
२—(४) २—चिदाभाससंस्थः——→विद्याप्रधानः ५ कर्म्मप्रधानः (५) ।
(५) ३—ईश्वरसंस्थः———→विद्याप्रधानः ४ .... (४ ।

———— ० ————

(५) १—ऊर्क्संस्थः———→विद्याप्रधानः ३ ....(३) ।
(६) २—श्रीसंस्थः————→विद्याप्रधानः २ ....(२) ।
(७) ३—विभूतिसंस्थः———→विद्याप्रधानः १ ....(१) ।

———— ० ————

जिन जीवात्माओं में ऊर्क्—श्री—विभूतिरूप ५ वां, ६ठा, ७ वां भाग विकसित रहता है, वे जीवात्मा ईश्वरांश माने जाते हैं। यही इन की अलौकिकता है। ऐसे ही व्यक्ति अव्ययपुरुष के आंशिक विकास के कारण के महापुरुष कहलाते हैं, जैसा कि भगवान् कहते हैं—

> यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ (गीता० १०।४१।)।

अपने एक ही रूप से अनेक आत्मस्वरूपों में व्याप्त रहना ही ईश्वर का विभूतिभाव है। इस विभूति सम्बन्ध से महामायावच्छिन्न विश्वेश्वर अव्यय योगमायावच्छिन्न जीवात्माओं के साथ उसी प्रकार युक्त हो रहा है, जैसे कि एक ही सूर्य्य योगमायावच्छिन्न अपने यच्च यावत् प्रतिबिम्बों के साथ आतपद्वारा विभूति सम्बन्ध से व्याप्त रहता है। भगवान् कृष्ण सत्यात्मा के अवतार थे, अत-

६—गीताशब्दरहस्यम्

यह उपनिषत् भगवान् के द्वारा कही गई है । कृष्ण ही अव्ययात्मप्राप्तिसाधनभूत बुद्धियोगनिष्ठा के प्रथम द्रष्टा हैं । इस प्रथमद्रष्टृत्वलक्षण दृष्टि के सम्बन्ध से हम अवश्य ही इस उपनिषत् को "**भगवद्गीतोपनिषत्**" (भगवता श्रीकृष्णेन गीता कथिता-उक्ता-प्रोक्ता-उपनिषत्-भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा कही गई उपनिषत्) इस नाम से सम्बोधित कर सकते हैं ।

ईश्वर प्रपञ्च **ब्रह्म—कर्म्म** भेद से दो भागों में विभक्त है । इन में ब्रह्मतत्त्व के भी तीन विवर्त्त हैं, एवं कर्म्मतत्व की भी तीन शाखाएं हैं । **अव्ययपुरुष, अक्षरपुरुष, क्षरपुरुष** यह तीन ब्रह्म हैं, किंवा एक ही ब्रह्म के तीन रूप हैं । **वैशेषिक** दर्शन ने क्षरब्रह्म का निरूपण किया है सांख्यदर्शन ने अक्षरब्रह्म का निरूपण किया है, एवं वेदान्तदर्शन नें अव्ययगर्भित अक्षरब्रह्म का निरूपण किया है । किसी शास्त्र ने विशुद्ध अव्यय का निरूपण नहीं किया है । इस कर्त्तव्य की पूर्ति गीताशास्त्र ने हीं की है । जिस अव्यय को कोई नहीं जानता था, जानता था तो तटस्थ बुद्धि से, गीता ने उसे ही अपना मुख्य लक्ष्य बनाया है । अव्यय का प्रथमद्रष्टा गीताशास्त्र ही है ।

इसी प्रकार कर्म्मतत्व के **ज्ञानयोग** (निवृत्तकर्म्मयोग), **कर्म्मयोग** (प्रवृत्तिकर्म्मयोग) **भक्तियोग** (उभययोग) तीन विभाग हैं । इन तीनों से सर्वथा विलक्षण एक चौथा **बुद्धियोग** है प्राचीन शास्त्रों की ज्ञानसीमा उक्त तीनों योगों पर ही विश्रान्त है । सांख्यदर्शन ने ज्ञानयोग का प्रतिपादन किया है, योगदर्शन ने कर्म्मयोग का प्रतिपादन किया है, एवं शाण्डिल्य दर्शन नें बुद्धियोग का प्रतिपादन किया है । परन्तु बुद्धियोग गीता के पहिले स्मृतिगर्भ में ही विलीन रहा है । बुद्धियोग के प्रथमद्रष्टा श्रीकृष्ण ही हैं । इस योग में ज्ञान—कर्म्म—भक्ति तीनों का समन्वय है, जैसा कि आगे के प्रकरणों से स्पष्ट होगा । इस प्रकार ब्रह्मविवर्त्त का अव्ययविवर्त्त, एवं कर्म्म विवर्त्त का बुद्धियोग विवर्त्त इन दोनों को संसार के सामने रखने का एकमात्र श्रेय कृष्ण को ही है अव्ययब्रह्म, एवं बुद्धियोग प्रतिपादक गीताशास्त्र भगवान् की अपनी सम्पत्ति है, अपना मत है गीता उच्छिष्ट शास्त्र नहीं है, अपितु नवीनशास्त्र है । स्वयं भगवान् ने अपने मुख से यह घोषणा की है कि गीता मेरा मत है । देखिए !

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनुसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्म्मभिः ॥ (गीता० ३।३१)

प्रकारान्तर से विचार कीजिए। भगवान् ने "ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति" कह दिया, इसलिए हम आंख मीच कर गीता को अपूर्वशास्त्र मानलें. यह ठीक नहीं हैं। शास्त्रान्वेषण द्वारा आप को यह निश्चय करना चाहिए कि क्या वास्तव में गीता से अतिरिक्त अन्य दर्शनों में अव्ययब्रह्म, एवं बुद्धियोग का निरूपण नहीं है। हमारे विचार से पर्य्याप्त परिश्रम करने के पीछे आप को भी इसी निश्चय पर पहुंचना पड़ेगा कि सचमुच इस सम्बन्ध में गीता अद्वितीय शास्त्र है।

यदि पाठक अवधान पूर्वक विचार करेंगे तो उन्हें इस विश्व में, एवं विश्वरहस्यप्रतिपादक शास्त्रों में **ब्रह्मविद्या**, एवं **कर्मचर्या** इन दो भावों के अतिरिक्त तीसरी वस्तु का आत्यन्तिक अभाव ही मिलेगा। संसार में या तो कुछ जाना जाता है, अथवा कुछ किया जाता है। "**जाना जाता है**" यह वाक्य ब्रह्म का सूचक है। "**किया जाता है**" यह वाक्य **कर्म** का द्योतक है। ब्रह्म-कर्म्म के अतिरिक्त, दूसरे शब्दों में ज्ञान-क्रिया के अतिरिक्त वास्तव कुछ नहीं है। "ज्ञायते-क्रियते, किञ्चित्-ज्ञायते, किञ्चित्-क्रियते, कुछ जाना जाता है-कुछ कुछ किया जाता है" इस ज्ञान-क्रिया की पारम्परिक धारा के अतिरिक्त सचमुच अन्य वस्तु का अभाव सा ही है।

ब्रह्म का ज्ञान होसकता है, चर्य्या नहीं। कर्म्म की चर्य्या सम्भव है, ज्ञानभाव में परिणति नहीं। ब्रह्म का विद्या से सम्बन्ध है, कर्म्म का योग से सम्बन्ध है। ब्रह्म **ब्रह्मविद्या** है, कर्म्म **योग** है। पूर्व कथनानुसार ब्रह्मविद्या के भी अव्यय-अक्षर-क्षर नाम के तीन विवर्त्त हैं, एवं योगचर्या के भी ज्ञान-कर्म्मो-पासित नाम के तीन विवर्त्त हैं। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जासकता है कि ब्रह्म **ज्ञानात्मा** है, कर्म्म **कर्मात्मा** है। ज्ञानात्मा भी तीन हैं, कर्म्मात्मा भी तीन हैं। प्रत्येक वस्तु ब्रह्म-कर्म्ममय है। इन दोनों के ६ विवर्त्त हैं। इसी आधारपर "**षाट्कौशिकमिदं सर्वम्**" यह अनुगम प्रसिद्ध है।

गीताशास्त्र से पहिले उक्त तीन ज्ञानात्माओं में से क्षरात्मा, एवं अक्षरात्मा का ही प्राधान्य था, अव्ययात्मा सर्वथा निगूढ बना हुआ था। कर्मात्माओं के सम्बन्ध में **सांख्य** नाम से प्रसिद्ध ज्ञानयोग, **योग** नाम से प्रसिद्ध कर्म्मयोग ही प्रचलित थे। भक्तियोग कदाचित्क बना हुआ था। एक दल कहता था ज्ञान प्राप्त करो, जानो, करो मत। दूसरा दल कहता था कर्म करो, ज्ञान के लिए प्रयास व्यर्थ है। परन्तु गीताशास्त्रने–'**एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति**' कहते हुए ज्ञानगर्भित कर्मयोग का स्वरूप सर्वप्रथम संसार के सामने रक्खा। यही योग बुद्धियोग नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस अपूर्व योग के साथ साथ भगवान् ने ज्ञानात्माओं में से अव्ययात्मा का स्वरूप भी हमारे सामने रक्खा। प्राचीनोंनें जहां अक्षर पर ही विश्राम मान लिया है, वहां गीता अव्यय की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। ओर ओर शास्त्रों की तरह गीता केवल सिद्धान्त बतलाकर ही चुप नहीं हो जाती। अपितु उन सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप भी गीता हमारे सामने रखती है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि इतर आत्मविद्याशास्त्र केवल सिद्धान्त बतलाते हुए जहां दर्शनशास्त्र हैं, वहां गीताशास्त्र सिद्धान्तों के साथ साथ उनका व्यावहारिक स्वरूप बतलाने के कारण विज्ञानशास्त्र है। अव्ययात्मा विद्यामय है। विद्याएं चूंकि वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य, धर्मभेद से चार हैं, अतएव तत्सम्बन्ध से विद्याबुद्धिएं भी चार ही भागों में विभक्त हो जातीं हैं। इन चार बुद्धियोगनिष्ठाओं से अव्यय का विद्याभाग प्रसन्न होता है, अतएव इन्हें विद्याबुद्धि कह दिया गया है।

उक्त दिग्दर्शन से प्रकृत में हमें यही कहना है कि अव्ययपुरुषलक्षणा ब्रह्मविद्या, एवं बुद्धियोगलक्षणा योगचर्या इन दोनों के **श्रीकृष्णोपज्ञ** होने से, एवं इन्हीं के उपदेशप्रभाव से लोक में प्रचलित होने से हम अवश्य ही इसे भगवान् की गीता कह सकते हैं। भगवान् ही इसके द्रष्टा हैं, भगवान् ही इसके वक्ता हैं। उपज्ञ शब्द का अर्थ है उपक्रम। प्रथमारम्भस्थल को ही उपज्ञ कहा जाता है। पाणिनीय व्याकरण का प्रथमारम्भ पाणिनि से हुआ है, अतएव व्याकरण शास्त्र **पाणिन्युपज्ञ** कहलाता है। द्रोण नामके परिमाण (तोल) विशेष के प्रवर्त्तक महाराज **नन्द** थे। अतएव द्रोणपरिमाण लोक में **नन्दोपज्ञ** कहलाया है। अव्यय

ब्रह्म, एवं बुद्धियोग का प्रथमारम्भ कृष्ण से ही हुआ था, अतएव उन के इस गीताशास्त्र को अवश्य ही कृष्णोपज्ञ कहा जासकता है।

इस सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। साथ ही में वह विप्रतिपत्ति ऐसी है, जिस का निराकरण करना कठिन हीं नहीं, अपितु असम्भव है। पूर्व में यह कहा गया है कि भारतवर्ष में जितने भी दर्शनग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें किसी में भी अव्ययब्रह्म का, एवं बुद्धियोग का विश्लेषण उपलब्ध नहीं होता। अवश्य ही दर्शनशास्त्रों के सम्बन्ध में उक्त हेतुवाद का आदर किया जासकता है। परन्तु वेद के अन्तिम भागरूप उपनिषच्छास्त्र के सम्बन्ध में यह अपूर्णता किसी भी दृष्टि से घटित नहीं होती। उपनिषदों में, न केवल उपनिषदों में हीं, अपितु आरण्यक, ब्राह्मण, नाम से प्रसिद्ध इतर विधिभाग में, एवं संहिताभाग में भी अव्ययनिष्ठा का निरूपण हुआ है। बुद्धि ही अव्ययात्मसाक्षात्कार का उपाय है, इसीका नाम बुद्धियोग है। इस बुद्धियोग-सम्पत्ति से भी वैदिक साहित्य वञ्चित नहीं है। तभी तो भगवान् मनु की—"सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति" यह सूक्ति चरितार्थ होती है। "शास्त्रीय, एवं लौकिक अमुक विषय वेद में नहीं है" यह कहना वेद की पूर्णता पर व्याघात करना है। प्रकृत में हम कुछ एक ऐसे वचन उद्धृत करेंगे कि जिनसे पाठक यह अपने आप निर्णय कर लेंगे कि वेद में अव्ययब्रह्म का, एवं बुद्धि योग का निरूपण हुआ है, अथवा नहीं। पहिले क्रमप्राप्त संहिताभाग को ही लीजिए।

१—वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्। (ऋक्सं० १।१६४)।

२—स न ऊर्जे-अव्ययं-पवित्रं धाव धारया। (ऋक्० ९।८६।४)।

३—पुनानो रूपे अव्यये विश्वा अर्षन्नभिश्रियः। (ऋक्० ९।१६।२)।

४—यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति,

य आविवेश भुवनानि विश्वा। (यजुः ८।३६)।

५—धियो यो नः प्रचोदयात। (यजुःसं०)।

६—पुरुष एवेदं सर्वम् (यजुःसं०)।

पर-अज-अव्यय यह सब शब्द अव्यय के वाचक हैं, एक धी शब्द बुद्धिका सूचक है संहिता में दोनों का ही निरूपण हुआ है। यही अवस्था ब्राह्मण भाग की है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट हो जाता है।

१—ब्राह्मण—१—ब्रह्म वा अजः (शत० ६।४।४।१५)।

२—पुरुषो हि प्रजापतिः (शत० ७।४।१।१५)।

३—यन्न व्येति तदव्ययम् (गो० ब्रा० पू० १।२६)।

२—आरण्यक—१—स एष पुरुषः समुद्रः (ऐ० आ० २।३।३)।

२—तद्योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्। (ऐ० आ० २।३।७)।

३—उपनिषत्—१—अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः।

२—परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

३—दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

४—परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।

५—परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति।

६—पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।

७—विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः।

८—तमेव विदित्वातिमृत्युमेति।

९—ततस्तु तं निष्कलं ध्यायमानः।

१०—तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः।

११—यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

प्रथमोदेष्टा एकमात्र श्रीकृष्ण ही बनें। एवं इन्हीं के उपदेश से बुद्धियोग का उक्त स्वरूप लोक में प्रचलित हुआ। यदि उपनिषदों में अव्ययब्रह्मविद्या, एवं बुद्धियोग की सत्ता मान भी ली जाती है, तब भी इन के सम्बन्ध में इतना तो अवश्य ही कहा जासकता है कि उक्त विषय सर्वथा निगूढ ही थे। केवल उपनिषदों के आधार पर प्रयत्न सहस्रों से भी आप इन दोनों के वास्तविक स्वरूप पर नहीं पहुंच सकते। इस का एकमात्र श्रेय गीताशास्त्र को ही है। एवं इसी दृष्टि से हम इस शास्त्र को कृष्णोपज्ञ मानने के लिए तय्यार हैं।

इसी एकमात्र अपूर्वता के कारण गीता को उपनिषत् कहा गया है, जैसा कि उपनिच्छ-ब्दरहस्य में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। सत्यधर्म्म के परिज्ञान के लिए प्रमाण की आव-श्यकता होती है। बिना प्रमाण के प्रमाता प्रमिति का अधिकारी नहीं बन सकता, एवं बिना प्रमिति के प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रमाण द्वारा ही प्रमिति पर पहुंचता हुआ प्रमाता प्रमेय ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ बनता है। प्रमाण से ही अर्थप्रतिपत्ति (निश्चय) होती है। साथ ही में यह भी निश्चित है कि जबतक प्रमेय पदार्थ का हमें सम्यक् ज्ञान नहीं होता, तबतक उस प्रमेय में हमारी प्रवृत्ति भी नहीं होती। यदि प्रमेय में प्रमाता की प्रवृत्ति ही नहीं है तो प्रमेयजनितफलसिद्धि की कथा ही दूर है। इस प्रवृत्ति का मूल आधार प्रमाण है। सर्वप्रथम प्रमाण के आधार पर प्रमि-ति होती है। प्रमिति से आगे जाकर प्रमेय में प्रवृत्ति होती है, यही प्रमेयप्रवृत्ति सर्वान्त में फल की जननी बनती है।

संसार में कितनें हीं पदार्थ हेय हैं, त्याज्य हैं, अनिष्टकर हैं। एवं कितनें हीं पदार्थ उपा-देय हैं, ग्राह्य हैं, इष्टजनक हैं। ऐसे इष्ट पदार्थों को ही प्रमेय कहा जाता है। परन्तु इन में प्रवृत्ति तभी होती है, जब कि हमें यह मालूम हो जाय कि यह प्रमेय वास्तव में हमारे लिए इष्ट हैं। इस इष्ट-ज्ञान की सिद्धि प्रमिति (सम्यक्ज्ञान) पर निर्भर है। फलतः सत्यज्ञान के सम्बन्ध में प्रमाण की आवश्यकता सर्वात्मना सिद्ध हो जाती है।

"चिरायते के काढे से ज्वर मिट जाता है" सुनते ही प्रश्न होता है, इस में क्या प्रमाण ? उसी समय लब्धप्रतिष्ठ वैद्य प्रमाणरूप से हमारे सामने उपस्थित होता है। हम जानते हैं कि

वैद्य के उक्त प्रयोग से कई व्यक्तियों का ज्वर मिटा है । फलतः औषधिविज्ञान में आप्त वैद्य का वचन ही हमारे लिए उक्त जिज्ञासा में प्रमाण बन जाता है । यही प्रमाणभाव की सार्थकता है । इसी प्रमाण रहस्य को लक्ष्य में रख कर प्रमाणवादी कहते हैं—

"प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्"

(गौ०सू०१।१।१) ।

"प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः । नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम् । प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति, जिहासति वा । तस्येप्सा-जिहासा-प्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते । सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्धः । समीहमानस्तमर्थमभीप्सन्, जिहासन् वा तमर्थमाप्नोति, जहाति वा । अर्थस्तु सुखं, सुखहेतुश्च । दुःखं, दुःखहेतुश्च । सोऽयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः—प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वात् । ++++ । अर्थवति च प्रमाणे प्रमाता, प्रमेयं, प्रमितिरित्यर्थवन्ति भवन्ति । कस्मात् ? अन्यतमापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः । तत्र यस्येप्सा जिहासा प्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता । स येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम् । योऽर्थः प्रमीयते तत् प्रमेयम् । यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः । चतसृषु चैवं विधास्वर्थतत्त्वं परिसमाप्यते" (वात्स्यायनभाष्य) इति ।

प्रमेयसिद्धि का मूलभूत यह प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र भेद से तीन भागों में विभक्त है । दृष्टि, श्रुति, स्मृति, निबन्ध इन चारों प्रमाणों का उक्त तीनों प्रमाणों में ही अन्तर्भाव है । दृष्टि प्रत्यक्षप्रमाण है । श्रुति-स्मृति शास्त्रप्रमाण है, एवं निबन्ध अनुमानप्रमाण है । तीनों में प्रत्यक्षप्रमाण ही मुख्य प्रमाण है । क्योंकि इतर प्रमाणों की प्रामाणिकता प्रत्यक्षप्रमाण पर ही अवलम्बित है । यदि किसी व्यक्ति से यह प्रश्न किया जाता है कि क्या तुमने अमुक देशभक्त को जेल जाते

देखा था ? तो उत्तर में यह कहता है कि मैंने स्वयं तो नहीं देखा, परन्तु रामलाल से सुना था। रामलाल से पूछने पर "यज्ञदत्त से सुना था" यह उत्तर मिलता है। इधर प्रश्नकर्ता की यह जिज्ञासा तबतक शान्त नहीं होती, जबतक कि दृष्टिभाव पर इस का आत्मा नहीं पहुंच जाता। उसने उससे, उसने उससे इस धारावाहिक क्रम के अन्त में जब इसे-"अमुक ने देखा था" यह पता लग जाता है तो उसी समय इस की जिज्ञासा शान्त हो जाती है। इसी आधार पर इतर प्रमाणों की अपेक्षा दृष्टिरूप इस प्रत्यक्ष प्रमाण को हम मुख्य मानने के लिए तय्यार हैं। इस प्रमाण की प्रामाणिकता चक्षुभाव पर निर्भर है, एवं चक्षु की प्रामाणिकता सत्यभाव पर निर्भर है। प्रकृति में सूर्य्यदेवता सत्य के अवतार हैं। इसी सौरतत्व से चक्षुरिन्द्रिय का निर्म्माण हुआ है। अतएव चक्षु को अवश्य ही सत्य कहा जा सकता है। इसी चक्षुःसत्य का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

"*सत्यं वै चक्षुः। सत्यं हि वै चक्षुः। तस्मात्-यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातां अहमदर्शमहमश्रौषमिति। य एव ब्रूयादहमदर्शमिति, तस्मा एव श्रद्दध्यामः" (शत० ब्रा०) + + + एतद्वै मनुष्येषु सत्यं निहितं, यच्चक्षुः। तस्मादाचक्षाणमाहुः यद्राक्षमिति। यद्यु वै स्वयं पश्यति, न बहूनां चान्येषां श्रद्दध्यात। तस्माद्विचक्षणवतीमेव वाचं वदेत। सत्योत्तरा हैवास्य वागुदिता भवति" (ऐ॰ आरण्य॰)

---

* श्रुति का यह आदेश सत्यपरीक्षण के लिए अवश्य ही एक विशेष महत्व रखता है। इस सिद्धान्त का अनुगमन करने से कभी मिथ्याभ्रान्तियों का अवसर नहीं आता। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इस सिद्धान्त की उपेक्षा कर केवल सुनी सुनाई बातों के आधार पर आज हम बड़े बड़े अनर्थ कर डालते हैं। इन अनर्थों की प्रधान जड़ तो आजकल के सामयिक समाचार पत्र ही हैं। केवल पत्रों के आधार पर, अथवा किंवदन्तियों के आधार पर विश्वास कर लेने से हम कुछ का कुछ मान बैठते हैं। बड़े बड़े महापुरुष तक इन सुनी सुनाई बातों के आधार पर समाज के कोपभाजन बनते हुए देखे गये हैं। इसलिए हम अपने देशवासियों से यह नम्र निवेदन करेंगे कि जब तक वे उक्त आदेश के अनुसार स्वयं विषयसत्यता की जांच न करलें, तब तक केवल सुनी सुनाई बातों के आधार पर ही कोई निर्णय न करें। ऐसा करने से हमारा आत्मा अधिकाधिक सत्य की ओर आकर्षित होगा, फलतः आत्मबल की अभिवृद्धि होगी।

"आप के सामने दो व्यक्ति खड़े हैं। एक द्रष्टा है, एक श्रोता है। एक कहता है, मैंने अपनी आंख से ऐसा देखा है, दूसरा कहता है, अजी मैंने सुना है। इस प्रकार परस्पर में विविदमान इन दोनों व्यक्तियों में से जो व्यक्ति–मैंने देखा है, यह कहता है, उसी पर हम विश्वास करेंगे। कारण चक्षु सत्य है, । चक्षु अवश्य ही सत्य है। + + + ÷ + । मनुष्यों में यह साक्षात् सत्य है, जो कि चक्षु है। इसी लिए जो यह कहता है कि मैंने देखा है, उसी पर श्रद्धा की जाती है। जो स्वयं देखकर कहता है, उस एक ही का कथन उस सम्बन्ध में प्रमाण है। इसके सामने बहुत से, एवं दूसरों के कथन का कोई मूल्य नहीं हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह विचक्षणवती (आंखों देखी) बात ही बोले। ऐसा करने से उस की वागिन्द्रिय उत्तरोत्तर सत्यबल से युक्त होती जायगी"।

पूर्व में हमने श्रुति को शास्त्रप्रमाण कहा था। परन्तु इस प्रत्यक्षदृष्टि के सम्बन्ध में आज हम इसे प्रत्यक्ष प्रमाण हीं कहेंगे। कारण इस का यही है कि जैसे, एवं जो प्रामाणिकता प्रत्यक्षात्मिका दृष्टि को है, वही प्रामाणिकता दृष्टिमूलक वाक्य में भी विद्यमान है। वस्तुतस्तु दृष्टि प्रमाण नहीं है, दृष्टिमूलक वाक्य ही प्रत्यक्षप्रमाण है। "मैंने देखा है" यह द्रष्टा का वाक्य है। यह वाक्य ही प्रत्यक्ष-प्रमाण कहा जासकता है। द्रष्टा का वाक्य श्रोता के वाक्य की अपेक्षा अधिक प्रमाण है, एवं द्रष्टा के वाक्य की अपेक्षा स्वयं देखना अनुभवयुक्त दृढ़तम प्रत्यक्ष प्रमाण है। अपनी प्रामाणिकता के लिए अन्य शब्दप्रमाण की अपेक्षा न रखने वाला शब्द ही सङ्केतभाषा के अनुसार –"श्रुति" कहलाता है। ऐसा निरपेक्ष शब्द केवल द्रष्टा का ही शब्द होसकता है। कारण स्पष्ट है। जब तक सुनने वाले हमें कुछ सुनाते रहते हैं, तब तक "किससे सुना" इस वाक्य की अपेक्षा बनी रहती है। परन्तु जहां एक द्रष्टा–"मैंने सुना नहीं देखा है" यह बोल पड़ता है, तत्काल उक्त जिज्ञासा शान्त हो जाती है। फिर अन्यवाक्य की अपेक्षा नहीं रहती। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर मीमांसाशास्त्रने श्रुति (वेद) के–"द्रष्टुर्वाक्यं श्रुतिः"–"निर-पेक्षो रवः श्रुतिः" यह लक्षण किए हैं।

प्रत्यक्ष द्रष्टा का जो वाक्य हमारे लिए श्रुत होने से श्रुति है, वही उस द्रष्टा के लिए

दृष्टि है। द्रष्टा अपनी दृष्टि का जिस वाक्य से अभिनय करता है, वह अभिनीयमान वाक्य जहां उसके लिए दृष्टि है, वहां वही दृष्टि हम सुनने वालों के लिए श्रुति है। हम अपनी अपेक्षा से जिसे श्रुति कहते हैं, वस्तुतः द्रष्टा की अपेक्षा से वह दृष्टि है। फलतः अन्ततोगत्वा दृष्टि-श्रुति अभिन्न पदार्थ बन जाते हैं। दृष्टि प्रत्यक्ष है। फलतः श्रुति भी प्रत्यक्ष है। प्रकारान्तर से यों समझिए कि स्वप्रत्यय का नाम दृष्टि है। प्रत्ययकर्त्ता द्रष्टा अपने प्रत्यय का जिन शब्दों से अभिनय करता है, वह शब्द भी इसकी दृष्टि ही है। हमारे लिए वाक्यरूपा यह दृष्टि परप्रत्यय है। हम इसे सुन कर ज्ञान प्राप्त करते हैं। अतएव द्रष्टा की दृष्टिरूप इस वाक्य को हम अपनी अपेक्षा से श्रुति ही कहेंगे। देखने वाला अपने दृष्ट अर्थ को कहता है, एवं सुनने वाला उसे सुनता है। श्रोता के सुनने के कारण ही यह द्रष्टुर्वाक्य श्रुति कहलाया है। जिस प्रकार द्रष्टा की दृष्टि स्वतः-प्रमाण है, एवमेव दृष्टिप्रतिपादक द्रष्टा का वाक्य भी स्वतः प्रमाण ही है। अपनी आंखों देखी वस्तु के लिए जैसे अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती, एवमेव आंखों देखने वाले के वाक्य पर भी अविश्वास नहीं किया जासकता। मन्त्रब्राह्मणरूप वाक्य द्रष्टामहर्षियों के वाक्य हैं। अस्मदादि असाक्षात्कृतधर्म्मा सामान्य मनुष्यों के हित के लिए *साक्षात्कृतधर्म्मा महर्षियों नें अपनी दिव्यदृष्टि से अतीन्द्रियतत्वों का साक्षात् कर जिन मन्त्रवाक्यों को हमारे सामने रक्खा है, वही हमारे लिए स्वतःप्रमाण श्रुति है।

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद साक्षात्कृतधर्म्मा द्रष्टामहर्षियों की दृष्टि का अभिनय करने वाले हैं। अतएव **"द्रष्टुर्वाक्यं श्रुतिः"** इस उक्त लक्षण के अनुसार हम अवश्य ही उक्त वेदराशि को स्वतः-प्रमाणश्रुतिशास्त्र कहने के लिए तय्यार हैं। वेद का अक्षर अक्षर हमारे लिए साक्षात् प्रत्यक्षप्रमाण है। उस के रहस्य को न जानने पर भी उस के आदेशों को हम अप्रमाण नहीं मान सकते। प्रत्यक्ष प्रमाण का यही संक्षिप्त निदर्शन है।

---

*"साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्म्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्राहुः"।
(यास्कनिरुक्त)।

अब अनुमानप्रमाण का विचार कीजिए। "श्रोतुर्वाक्यं स्मृतिः" इस लक्षण के अनुसार श्रोता का वाक्य संग्रह ही स्मृति कहलाता है। अनुभवाहित संस्कार को ही "स्मृति" कहा जाता है। वस्तुतः अनुभवाहित संस्कार वासना कहलाता है। यह वासनासंस्कारपुञ्ज ही आगे जाकर स्मृति का जनक बनता है, अतएव ताच्छब्द्यन्याय से वासनासंस्कार को भी स्मृति कह दिया जाता है। श्रोता जो कुछ सुनता है, उस श्रुत विषय का उस के प्रज्ञानमन पर संस्कार हो जाता है। आगे जाकर श्रोता जब कभी कुछ बोलता है तो अपने संस्कारों को ही आधार बनाता है। संस्कारात्मक संचित विषय का स्मरण कर के ही वह उपदेश देने में समर्थ होता है। इसी स्मृति किंवा स्मरणभाव के कारण श्रोता का वाक्य संग्रह "स्मृति" कहलाता है। देखने वाले का वाक्य जहां श्रुति है, वहां सुनने वाले का तद्विषयक वाक्य हमारे लिए स्मृति है। श्रुति स्वतःप्रमाण है तो स्मृति परतःप्रमाण है।

द्रष्टा का अभिनय हम श्रोताओं के लिए श्रुति है। श्रोता का अभिनय हम श्रोताओं के लिए स्मृति है। द्रष्टा अपने वाक्य में जैसे "तत्रभवान्" बनता हुआ आप्त है, वैसे श्रोता अपने वाक्य में न तत्रभवान् है, न आप्त है। वह आप्त द्वारा श्रुत अर्थ का स्मर्त्ता मात्र है। दूसरे शब्दों में वह उस का प्रवर्त्तक नहीं है, अपितु प्रवर्त्तक आप्त के कथन का अभिनेतामात्र है। इसीलिए इस अभिनेता की बात तभी प्रामाणिक मानी जासकती है, जब कि वह मूलवक्ता के अनुकूल हो। अर्थात् श्रोता की बात पर पूरा विश्वास तभी होता है, जब कि श्रोता अपने श्रुत अर्थ को आप्तप्रमाण से युक्त बतला देता है। श्रोता जो कुछ कहता है, वह उस की अपनी खोज नहीं है। अपितु वह परप्रत्यय ही का अभिनय करता है। अतएव इस का यह वाक्य स्वप्रमाण के लिए वाक्यान्तरप्रमाण (श्रुतिप्रमाण) की अपेक्षा रखता हुआ परतःप्रमाण ही माना जायगा। श्रुति का प्रत्यक्षात्मिका दृष्टि से सम्बन्ध था, स्मृति का श्रुति से सम्बन्ध है। अतएव हम इसे अनुमानप्रमाण कह सकते हैं। आरम्भ में दृष्टि-प्रत्यक्ष-अनुमान निबन्ध यह चार प्रमाण बतलाए गए थे। इन में दृष्टि तो द्रष्टाओं के लिए ही प्रमाण है। वे स्वयं देखकर, परीक्षा कर के ही उस विषय की सत्यता पर पहुंचते हैं। श्रुति प्रत्यक्षप्रमाण है, एवं स्मृति अनुमानप्रमाण है।

शेष रहता है, निबन्ध । निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु, श्राद्धविवेक, आचारविवेक स्मार्त्तसंग्रह, स्मार्तकल्प, शुद्धिमयूख आदि ग्रन्थ ही निबन्ध नाम से प्रसिद्ध हैं । श्रौत-स्मार्त वचनों में हमारी अल्पज्ञता के कारण जो हमें विरोध प्रतीत होता है, उसे तर्क—न्याय द्वारा दूर कर जो एक निर्णीत व्यवस्था हमारे सामने रक्खी जाती है, वह व्यवस्थासंग्रहशास्त्र ही निबन्ध है । हमारे सम्पूर्ण कर्मकलाप इन निबन्धग्रन्थों पर ही अवलम्बित हैं । सत्यज्ञान की सिद्धि के लिए इन चारों प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाण का सर्वथा अभाव ही समझना चाहिए । जो विषय उक्त चारों प्रमाणों से बहिष्कृत है, वह आर्यसन्तान की दृष्टि में सर्वथा उन्मत्त प्रलाप है, अतएव सर्वथा त्याज्य है । भारतवर्ष ही उक्त चारों को सत्यज्ञान में प्रमाण मानता हो, यह बात नहीं है । अपितु संसार का सारा सभ्य समाज सत्यनिर्णय में इन्हीं प्रमाणों का शिष्य है । वह भी प्रत्यक्षदृष्टि को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानता है । सुनने वाले के वाक्य की अपेक्षा देखने वाले के वाक्य को विशेषरूप से प्रामाणिक मानता है । सुनने वाले के वाक्य पर वह तभी विश्वास करता है, जब कि उस का वाक्य देखने वाले के वाक्य के अनुकूल होता है । यदि दोनों में परस्पर कोई विरोध प्रतीत होता है तो तर्क—न्याय की कसोटी से एक स्वतन्त्र, किन्तु अनुकूल निर्णय निकालता है । इस प्रकार प्रमाणांशों में हम एक हैं, केवल नामों में अन्तर है । भारतवर्ष के महर्षियोंनें विज्ञानदृष्टि से इनके दृष्टि—श्रुति आदि नाम रक्खे हैं, इतर देशों में इस सूक्ष्मदृष्टि का अभाव है ।

वेद द्रष्टा का वाक्य होने से श्रुति है, स्मृति श्रोता का वाक्य होने से स्मृति है। श्रुति स्मृति नामों का यही गुप्त रहस्य है । उधर मनचले पश्चिमी विद्वान् इस रहस्य को न जानने के कारण श्रुति शब्द के सम्बन्ध में अपने यह उद्गार प्रकट करते हैं कि, वेदकाल में लिपि का अभाव था । आर्यलोग कण्ठ करके ही, सुन सुना कर ही वेद की रक्षा करते थे, अतएव उन का यह सभ्यताग्रन्थ (वेद) श्रुति नाम से सम्बोधित हुआ । परन्तु उक्त रहस्यार्थ से विज्ञ पाठकों को विदित होगया होगा कि इस सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानोंनें कितनी भयङ्कर भूल की है । महर्षियों ने किसी गुप्त रहस्य को सूचित करने के लिए वेद को जिस श्रुति शब्द से सम्बोधित किया, उस

के सम्बन्ध में वेदतत्वरहस्यानभिज्ञ पश्चिमी विद्वानों नें उक्त कल्पना की। आश्चर्य है इन की विज्ञान बुद्धि पर, एवं महा आश्चर्य है इन की हां में हां मिलाने वाले उच्छिष्ट भोगी पथभ्रष्ट भारतीयों की सद्बुद्धि पर।

उक्त प्रमाणचतुष्टयी के आधार पर हमें अब यह विचार करना है कि गीताशास्त्र स्वतःप्रमाण है, अथवा परतःप्रमाण। यद्यपि गीता प्राचीनों की दृष्टि में स्मृतिशास्त्र ही माना गया है, और यह मन्तव्य किसी दृष्टि से ठीक भी है। फिर भी अपने चतुर्विध बुद्धियोग के सम्बन्ध में हम गीता को श्रुतिमर्य्यादा से भी एकान्ततः बाहर नही निकाल सकते। गीता-विषय के कृष्ण अपूर्व द्रष्टा हैं, एवं द्रष्टा का वाक्य हीं पूर्वोक्त लक्षणानुसार श्रुति है। फलतः श्रुतिस्थानीय गीताशास्त्र का स्वतःप्रमाणत्व सिद्ध हो जाता है। यहीं कारण है कि जहां सामान्य दृष्टि से गीता स्मृति कहलाती है, वहां इसे उपनिषत् नाम से भी सम्बोधित किया गया है। प्राचीनों के मतानुसार उपनिषत् शब्द एकमात्र वेद के अन्तिम भाग का वाचक है। गीता को उपनिषत् कहना हीं यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि इस के प्रथम प्रवक्ता श्रीकृष्ण हीं हैं। जब गीताशास्त्र श्रीकृष्णोपज्ञ है तो अवश्य ही इसे भगवद्गीता कहा जासकता है।

अभिनिवेश की चिकित्सा स्वयं ब्रह्मा भी नहीं कर सकते। यही दशा गीता शब्द के सम्बन्ध में हैं। यद्यपि विप्रतिपत्ति का उक्त कथन से भलीभांति निराकरण हो जाता है, फिर भी वेदाभिनिविष्ट विद्वान् इस निराकरण को मानने के लिए तय्यार नहीं हैं। उन का तो यही दुराग्रह है कि गीता में भगवान्ने जिस अव्ययब्रह्म, एवं बुद्धियोग का निरूपण किया है, वह पहिले से ही उपनिषदों में विद्यमान है। भगवान्ने अपूर्व कुछ नहीं कहा है, अपितु वेदसिद्ध विषय का ही उपबृंहण किया है। जब गीताशास्त्र श्रीकृष्णोपज्ञ नहीं है तो इसे भगवद्गीता नामसे सम्बोधित करना भी उचित नहीं। इस प्रकार गीता नाम के सम्बन्ध में उक्त विप्रतिपत्ति के माथे "पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेतालः" यह सूक्ति मंढ जाती है।

वेदभक्तों का कहना है कि गीता की तरह उपनिषदों में भी अव्ययब्रह्म, एवं बुद्धियोग का निरूपण हुआ है। क्षरब्रह्म कार्य है, अक्षरब्रह्म कारण है। अव्ययब्रह्म न कार्य है, एवं न

कारणहै। इसी आधार पर–"न करोति न लिप्यते" (गीता१३।३१।) यह कहा जाता है। "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" यह उपनिषच्छ्रुति भी स्पष्ट शब्दों में कार्य–कारणातीत इसी अव्यय का रहस्य बतला रही है। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः यह ६ लोक रज हैं। ६ ओं की मूलप्रतिष्ठा सत्यात्मरूप अव्यय है। इसी के आधार पर ६ ओं रज प्रतिष्ठित हैं। यही सत्यात्मा अव्ययपुरुष है, जैसा कि–"यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" (गी०१५।१७)इत्यादि से स्पष्ट है। उधर–"अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्" (ऋक्-संहिता) इत्यादि मन्त्रश्रुति भी इसी अर्थ का समर्थन कर रही है। "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा" (गीता.४।६।....) के अनुसार अज शब्द अव्यय का ही वाचक है। इसीप्रकार व्यक्त पदार्थ क्षर है, अव्यक्त पदार्थ अक्षर है। अव्यय व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों से परे है। दूसरे शब्दों में क्षर अपर है। क्षर से पर, एवं अव्यय से अवर, अतएव परावर नाम से प्रसिद्ध अक्षर मध्य में है। अक्षर से पर, अतएव पर नाम से प्रसिद्ध अव्यय उत्तम कोटि में प्रतिष्ठित है। "परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः" (गीता०८.२०।)-"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" (गी.१५।१७।) "यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः" (गी०१५।१८।)-"अव्यक्तोऽक्षरमित्याहुः" इत्यादि वचन उक्तार्थ का ही स्पष्टीकरण कर रहे हैं। उधर–"अक्षरात् परतः परः" (मुण्डक०-२ १।२।)–"परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति" इत्यादि उपनिषद्वचन भी इसी सिद्धान्त का विश्लेषण कर रहे हैं। गीता अव्यय के सम्बन्ध में जो कुछ कर रही है, वह सब उपनिषदों में पहिले से ही विद्यमान है।

यही अवस्था बुद्धियोग की है। अव्यय के साथ बुद्धि का योग करदेना ही बुद्धियोग है। दूसरे शब्दों में बुद्धि द्वारा अव्यय के दर्शन कर लेना ही बुद्धियोग है। इस से सर्वविध क्लेश निवृत्त हो जाते हैं। ज्ञान एवं कर्म्म का समुचितरूप ही बुद्धियोग है। इधर वैदिक कर्म-कलाप इसी समुच्चयभाव पर अवलम्बित हैं।

> 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
> तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
> य एवं वेद, तरति शोकमात्मवित्, यो हैवं विद्वान्"।

से दो भागों में विभक्त माननी पड़ती है । वेद की अन्तिमभागरूपा, ईश-केन-कठादि शाखाभेद से अनेकधा विभक्ता उपनिषत् श्रौती उपनिषत् है । गीता यद्यपि स्मृति है, परन्तु जिस गीताचार्य ने अपने कर्म्मों से अपने आप को एक अलौकिक अमानव पुरुष सिद्ध किया है, उस के द्वारा कही गई गीता उपनिषत् से कम महत्व नहीं रखती । अवश्य ही गीताविषय के भगवान् प्रत्यक्षद्रष्टा थे। इसी आदरभाव के कारण अध्यात्मविद्याप्रतिपादिका गीतोपनिषत् स्मार्त्ती उपनिषत् कहने योग्य है । इस प्रकार हमारे सामने दो प्रकार की उपनिषदें उपस्थित हो जातीं हैं । इन दोनों के पृथक् करण के लिए ही इसे भगवद्गीतोपनिषत् नाम से व्यवहृत करना आवश्यक समझा गया । श्रौती उपनिषदें सर्वथा नियत संख्या से सम्बन्ध रखतीं हैं । ऐसी दशा में यदि गीता का केवल 'उपनिषत्" यही नाम रख दिया जाता तो भ्रम होने की सम्भावना थी । श्रुत्युक्त आत्मविद्या का प्रतिपादन करने के कारण यह उपनिषत् नाम से वञ्चित नहीं की जासकती । साक्षात् श्रुति न होने से इसे केवल उपनिषत् शब्द से भी व्यवहृत नहीं किया जासकता । वस्तुतस्तु श्रौती उपनिषदों में भी पारस्परिक भेद प्रदर्शन के लिए प्रत्येक उपनिषत् के साथ ईश-केन-कठ इत्यादि शब्दों को व्यवहार में लाया गया है । इसी भेदव्यवहार की सूचना के लिए श्रुत्यर्थानुसारिणी इस स्मार्त्ती उपनिषत् के साथ भी भगवत्-गीता इन दोनों शब्दों का योग करना आवश्यक हो जाता है ।

आप प्रश्न करेंगे कि यदि "गीता" शब्द का एकमात्र यही प्रयोजन था तो फिर इस उलझन के स्थान में "उक्ता-कथिता" इत्यादि सरल शब्दों में से ही किसी एक का सम्बन्ध क्यों नहीं जोड़ दिया गया ? इस के उत्तर में भी कुछ रहस्य है । गीता शब्द का अर्थ है "गाई हुई" । पहिले से विद्यमान पद्य में स्वरलहरी डालदेने से वही पद्य गेय रूप में परिणत हो जाता है । "**गीतिषु सामाख्या**" इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार गेयभाग सामवेद है, एवं छन्दोबद्ध पद्य ऋग्वेद है । एक ही ऋङ्मन्त्र को त्रिगुणित कर देने से वही ऋङ्मन्त्र साम बन जाता है । जितने समय में एक ऋङ्मन्त्र का उच्चारण होता है, ठीक उस से त्रिगुणित समय में यदि आप उस एक ही मन्त्र का उच्चारण करेंगे तो वही ऋङ्मन्त्र ऋङ्मन्त्र न कहला कर साममन्त्र कहलाएगा, जैसा कि— "**ऋच्यधूढं साम गीयते**"-"**ऋचा समंमेने तस्मात् साम**"-"**त्रिचं साम**" इत्यादि सिद्धान्तों

से स्पष्ट है। संकुचित भाव को फैलाना ही गान है, पद्य को फैलाकर बोलना ही तो गान है। गान शब्द प्रत्येक दशा में संकोच को मूलप्रतिष्ठा बनाए रखता है। यह सच है कि भगवान् ने अपनी इस स्मार्त्ती उपनिषत् में नवीन कुछ नहीं बतलाया। परन्तु फिर भी यह मान लेने में किसी को कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती कि श्रौती उपनिषदों में जो विषय सूक्ष्मतम भाषा में निरूपित हुआ है, उस का भगवान् ने व्यावहारिक रूप देते हुए बड़े विस्तार से निरूपण किया है। उपनिषत् का लक्ष्य जहां सम्पूर्ण आत्मप्रपञ्च है, वहां गीता का मुख्य लक्ष्य अव्यय है। यदि दूसरी दृष्टि से विचार किया जाय तो उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य परात्पर ही है। अव्यय को प्रधान लक्ष्य बनाने वाली, एवं चतुर्विधबुद्धियोग का पूरा स्पष्टीकरण करने वाली तो एकमात्र यह स्मार्त्ती उपनिषत् ही है। चूंकि श्रीकृष्ण इस के द्रष्टा थे, इसलिए तो इसे उपनिषत् कहना न्याय संगत है। साथ ही में यह श्रीकृष्णोपज्ञ ही नहीं है, इसलिए इसे गीता कहना न्यायप्राप्त है। गीताशब्द वितान (फैलाव) भाव का ही द्योतक है। जो अव्यय ब्रह्म, एवं जो चतुर्विध बुद्धियोग श्रौती उपनिषदों में सर्वथा संकुचित होने से पद्यरूप बन रहा था, वही भगवान् के द्वारा विस्तार में आकर गेयरूप बन गया। बस इसी वितानभाव को सूचित करने के लिए इसे कथिता, उक्ता, इत्यादि अन्य किन्हीं शब्दों से व्यवहृत न कर वितानसूचक "गीता" शब्द सम्बोधित किया गया।

स्मरण रखिए, गीता शब्द सर्वथा यौगिक है। पङ्कजादिवत् इसे योगरूढ नहीं माना जा-सकता। पङ्कज जिस प्रकार कमलपुष्प का नाम माना जाता है, वैसे "गीता" इस का नाम नहीं है। गीता का अर्थ है भगवान् द्वारा कही गई। गीता स्वयं क्रिया शब्द है, एवं यौगिक है। अत-एव इसे उपनिषत् शब्द का विशेषण ही माना जासकता है। स्वयं व्यास ने एक स्थान पर गीता के इसी विशेषणभाव को प्रकट किया है। देखिए !

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥ (म० १।२।३।८)।

यही कारण है कि अध्याय समाप्ति पर—"भगवद्गीतासूपनिषत्सु" यह निर्दिष्ट रहता है। यदि गीताशब्द रूढ होता तो "भगवद्गीतायामुपनिषत्सु" यह वाक्य रहता। इस प्रकार

गीताशब्द के उक्त निर्वचन के अनुसार यद्यपि गीता शब्द यौगिक बनता हुआ विशेषण ही है, तथापि अपनी अपूर्वता के कारण यह आगे जाकर इस स्मार्त्ती उपनिषत् में निरूढ भी बन गया है। इसीलिए विद्वत्समाज में यह "गीता" नाम से भी प्रसिद्ध होगई है। केवल गीता का नाम लिया जाता है, वहां अणुगीता, रामगीता, शिवगीता आदि अन्य किसी गीता पर ध्यान न जाकर एकमात्र भगवद्गीतोपनिषत् की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित होता है।

इति-गीताशब्दरहस्यम्।

२

—— ० ——

३–उपनिषच्छब्दरहस्यम्

इस सम्बन्ध में हमें विशेष वक्तव्य नहीं है । कारण उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका में उपनिषत् शब्द पर पूर्ण प्रकाश डाला जाचुका है । केवल प्रकरणसङ्गति के लिए संक्षेप से कुछ कह देना ही पर्य्याप्त होगा । पूर्व के गीतानामरहस्य में यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार ईश–केन–कठ आदि उपनिषदें 'श्रौती उपनिषत्' कहलातीं हैं, एवमेव गीताशास्त्र को हम 'स्मार्ती उपनिषत्' कह सकते हैं । इसी सम्बन्ध में हमारे सामने एक प्रश्न उपस्थित होता है ।

आत्मविद्या जिस ग्रन्थ में बतलाई जाय, वही ग्रन्थ उपनिषत् है । श्रौती उपनिषदें आत्मविद्या का निरूपण करने के कारण ही 'उपनिषत्' नाम से व्यवहृत हुई हैं । दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि आत्मविद्यात्व ही उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक है । भेदक तत्व को ही अवच्छेदक कहा जाता है । भेदक ही उस पदार्थ को अन्य पदार्थों से पृथक् करके दिखलाता है । यदि भेदक न हो तो किसी पदार्थ का स्वरूपज्ञान ही न हो । सर्वसम्मत न्यायशास्त्र के **"यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्ने शब्दस्य शक्तिः"** इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक शब्द किसी न किसी पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही सम्बद्ध रहता है । उदाहरण के लिए गो शब्द को ही लीजिए । गो इस लिए गो है कि वह इतर पदार्थ नहीं है । जिस भावने गो को इतर पदार्थों से पृथक् कर के हमारी प्रतीति का विषय बना डाला, वही भाव भेदक, अवच्छेदक, किंवा व्यावर्त्तक कहलाएगा । अवश्य ही गो पदार्थ में कोई ऐसी विशेषता है, जिस के कारण तद्वाचक गोशब्द उसे अन्य पदार्थ नहीं बनने देता । वही विशेषता न्यायशास्त्र में

*-सम्पूर्ण उपनिषदों पर **"उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका"** नाम का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा गया है । यह ग्रन्थ दो भागों में एक सहस्र पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है । भाष्यभूमिका के **"क्या उपनिषत् वेद है ?"** इस प्रश्न की मीमांसा में बड़े विस्तार के साथ उपनिषत् शब्द का रहस्यार्थ प्रतिपादित हुआ है । विशेष जिज्ञासा रखने वालों को वही प्रकरण देखना चाहिए ।

'गोत्व' (गोपना) नाम से प्रसिद्ध है। गोत्व क्या वस्तु है, इस का उत्तर 'सास्नालाङ्गूलमत्त्वम्' है। ग्रीवाभागस्थ सास्ना (लोल), एवं पुच्छभाव ही गो का गोत्व है। यही गोपदार्थ का इतर पदार्थों से भेद करवा रहा है। गोशब्द सास्नालाङ्गूलमत्व गोत्व में ही अपनी शक्ति रखता है, गोत्व ही गोशब्द का अवच्छेदक है। इसी अवच्छेदक से अवच्छिन्न बनता हुआ गोपदार्थ गो शब्द के अतिरिक्त और किसी शब्द से अभिनय में नहीं आसकता। निदर्शन मात्र है। आप जितनें भी शब्द सुनते हैं, जानते हैं, अथवा हैं, उन सब के साथ (प्रत्येक साथ) एक एक स्वतन्त्र अवच्छेदक लगा हुआ है। यह अवच्छेदक ही शब्द की महामर्यादा है। अवच्छेदक के बल पर ही अवच्छिन्न शब्द को किसी नियत अर्थ का ही प्रतिपादन करना पड़ता है। इससे हम इस निश्चय पर भी पहुंच जाते हैं कि संस्कृत साहित्य में जितनें भी शब्द हैं, वे सब स्वतन्त्र अर्थों के ही वाचक हैं। कारण शब्दस्वरूपभेद अवच्छेदकभेद का हेतु है, एवं अवच्छेदक-भेद ही वस्तुतत्व का भेदक है। ऐसी दशा में शब्दों का परस्पर में पर्य्याय सम्बन्ध मान बैठना तर्क-न्याय एवं विज्ञानदृष्टि से सर्वथा अशुद्ध है। जो शब्द जिस अर्थ का वाचक है, वह उसी अर्थ का वाचक है। समस्त विश्व में उस के जोड़ का, उसी भाव को व्यक्त करने वाला अन्य शब्द नहीं मिलेगा। राम और दाशरथि कभी अभिन्नार्थक नहीं बन सकते। इन्द्र और वृत्रहा को कभी पर्याय नहीं माना जासकता। विष्णु और नारायण को एक वस्तुतत्व समझना भयङ्कर भूल है। मिथ्या एवं अनृत का पर्याय सम्बन्ध कभी बन ही नहीं सकता। सूर्य्य एवं सविता को पर्याय मानना किसी दृष्टि से ठीक नहीं है।

अस्तु प्रकृत में उक्त अवच्छेदक मीमांसा से बतलाना यही है कि उपनिषत् शब्द का जो कोई अवच्छेदक होगा, उसी के अनुसार उसी अवच्छेदकावच्छिन्न तत्व विशेष का (उपनिषत्शब्द को) वाचक मानना पड़ेगा। चूंकि उपनिषदों में प्रधानरूप से आत्मविद्या का ही निरूपण हुआ है, अतः आत्मविद्यात्व को ही हम उपनिषत् का अवच्छेदक मानने के लिए तय्यार हैं। इस दृष्टि से जो भी ग्रन्थ आत्मविद्या का निरूपण करेगा, वही उपनिषत् नाम से व्यवहृत हो सकेगा। यद्यपि दर्शनों में भी आत्मविद्या का निरूपण हुआ है, परन्तु दर्शनदृष्टि से। दर्शन और विज्ञान में

बड़ा अन्तर है। ऐसी दशा में आत्मविद्यात्व के साथ हमें विज्ञानशब्द और जोड़ना पड़ेगा। विज्ञान-सहकृत आत्मविद्यात्व को ही उपनिषत् का अवच्छेदक कहा जायगा। यह अवच्छेदक मर्यादा जिस प्रकार ईश-केन—कठ आदि उपनिषदों के सम्बन्ध में घटित हुई है, एवमेव विज्ञानसहकृत आत्मविद्या के निरूपण के कारण वही मर्यादा उसी प्रकार गीताशास्त्र में भी चरितार्थ हुई है। अतः हम अवश्य ही गीता को स्मार्त्ती उपनिषत् कह सकते हैं।

इस प्रकार थोड़ी देर के लिए यदि विज्ञानसहकृत आत्मविद्यात्व को उपनिषत् का अवच्छेदक मान लिया जाता है तो गीता को उपनिषत् नाम से व्यवहृत करने में कोई आपत्ति नहीं रहती। परन्तु ऐसा मान लेना प्राचीनदृष्टि से सर्वथा असङ्गत है। यह ठीक है कि उपनिषदों में विज्ञानसहकृत आत्मविद्या का ही निरूपण हुआ है। यह भी ठीक है कि गीता भी इसी आत्मविद्या का निरूपण कर रही है। फिर भी गीता को उपनिषत् नहीं कहा जासकता। कारण स्पष्ट है। उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक है वेदान्तत्व। मन्त्र—ब्राह्मण—आरण्यक—उपनिषत् रूप से मन्त्र—ब्राह्मणात्मक वेद के चार विभाग माने गए हैं। मन्त्रभाग विज्ञान—स्तुति—इतिहास का निरूपक है, ब्राह्मण कर्मकाण्ड का, आरण्यक उपासनाकाण्डका, एवं उपनिषत् ज्ञानकाण्ड का निरूपण करता है। चूंकि ज्ञानयोगप्रतिपादक उपनिषत् वेद का अन्तिमभाग है, अतएव इसे—'सर्वे वेदान्ताः' इत्यादि रूप से व्यासादि प्राचीन आचार्यों ने वेदान्त नाम से सम्बोधित किया है। व्यास विरचित सुप्रसिद्ध शारीरकसूत्र इन वेदान्त वचनों (उपनिषद्वचनों) का समन्वय करने के कारण ही वेदान्तदर्शन नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार उपनिशत् शब्द एकमात्र सुप्रसिद्ध वेद के अंतिम भागरूप परिगणित ईशादि उपनिषदों में ही निरूढ है। इधर गीताशास्त्र उस वेदांत मर्यादा से सर्वथा बहिर्भूत है। गीता कभी वेद का अंतिम भाग नहीं है। ऐसी दृष्टि में वेदांतत्व अवच्छेदक की मर्यादा के कारण हम किसी भी हालत में गीता को उपनिषत् नहीं कह सकते। इस विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में विशेष न कह कर हमें केवल यही कहना है कि गीता जिस व्यक्ति के द्वारा उपदिष्ट हुई है, वह कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। उपनिषत् को वेद के अन्तिम भाग में ही निरूढ मानने वाले स्वयं व्यासादि ने

उसे पूर्णावतार माना है। वेदद्रष्टा महर्षियों से भी उस का आसन ऊंचा है। उसके द्वारा उपदिष्ट गीता का महत्व श्रौती उपनिषत् से किसी दृष्टि से भी कम नहीं माना जासकता। गीताप्रतिपादित आत्मविद्या का भगवान् ने साक्षात्कार किया है। इस दृष्टि से गीता द्रष्टा का वाक्य है। इसी साधर्म्य को लेकर, साथ ही में एक पूर्णावतार के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण हम गीता को यदि उपनिषत् कह देते हैं तो कोई विशेष विप्रतिपत्ति नहीं है। इसी साधर्म्य को लक्ष्य मे रखकर गीता को (स्मृति होते हुए भी) प्राचीनोंनें उपनिषत् नाम से सम्बोधित कर दिया। श्रुति परिगणना में यह नहीं है, साथही में श्रौती उपनिषत् की तुलना में इस का महत्व भी कम नहीं है, अतएव इसे **'स्मार्ती उपनिषत्'** कहना प्रत्येक दृष्टिसे न्यायसङ्गत हो जाता है।

गीताशास्त्र पर आज भारतीयों की अपूर्वनिष्ठा देखी जाती है। सब से बड़ा सौभाग्य तो हमारा यह है कि आर्यसाहित्य को राष्ट्रोन्नति का महाप्रतिबन्धक मानने वाले राष्ट्रीय नेता, एवं तदनुयायी सुधारक भी गीता का पूरा पूरा आदर करते हैं। इसी आदरभाव के कारण उन की ओर से भी गीतार्थ करनेका प्रयास हुआ है। परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आर्यसाहित्य (वैदिकसाहित्य) से लेश भी परिचय प्राप्त न करने वाले इन महानुभावों का उक्त प्रयास अर्थ के स्थान में अनर्थ का ही बीजवपन कर रहा है। हमें उस घटना का स्मरण है कि जब देश के एक पूज्य नेता ने गीता के **"शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः"** इस सिद्धान्त को आगे रखते हुए अपने यह उद्गार प्रकट किए थे कि गीता के अनुसार अन्त्यजों को अस्पृश्य मानना शास्त्रविरुद्ध है। इसी प्रकार जिस चातुर्वर्ण्यधर्म्म का गीता में विस्तार से निरूपण हुआ है, उस का किस प्रकार इन राष्ट्रीय नेताओं के द्वारा दलन किया जा रहा है, यह भी छिपा हुआ नहीं है। स्वधर्म्मपालन की कड़ी आज्ञा देने वाली गीता की आज कैसी दुर्दशा की जारही है, यह देख कर हमें अवाक् रह जाना पड़ता है। उदाहरण के लिए वैश्यकर्म्म को ही लीजिए। **"कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म्म स्वभावजम्"** के अनुसार खेती, गोपालन, व्यवसाय यह तीन वैश्य जाति के स्वाभाविक कर्म हैं। घातक अर्थलिप्सा, एवं वैय्यक्तिक स्वार्थमूलक व्यवसाय को छोड़ कर आज कृषि, गोरक्षा का तो नाम भी शेष नहीं है। यहीं पर सीमा समाप्त नहीं हो जाती। कितने एक अभिमानी वैश्य, जिन के

मुख से अहर्निश गीता का माहात्म्य प्रकट होता रहता है, वे भी व्यासपीठों पर प्रतिष्ठित होकर उप-देश देते हुए लज्जा का अनुभव नहीं करते। यही अवस्था इतर वर्णों की है। गीताभक्त किस राष्ट्रीय नेता ने स्व-स्वधर्मानुकूल व्यवस्था चलाने के लिए उद्योग किया। **"गीता निष्कामकर्म्म का उप-देश देती है"** याद रखिए केवल यह सिद्धान्त वाक्य ही हमारा कल्याण नहीं कर सकता। हमें यह निश्चय करना पड़ेगा कि हम किस वर्ण में हैं, एवं तदनुसार हमें कौन सा कर्म्म करने का अधिकार है। **"निष्काम कर्म्म करो"** इस उपदेश की आड़ में सर्वथा अनधिकृत उच्छृंखल-कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हुए गीता की कल्पित व्याख्याएं बना लेना ही क्या गीतोद्देश्य की इतिश्री है।

अभी कुछ समय पहिले एक ऐसे ही व्यक्ति ने गीतार्थ के सम्बन्ध में अनधिकार चेष्टा की है। पश्चिमी-पूर्वीय साहित्य की तुलनादृष्टि से यद्यपि उस का प्रयास स्तुत्य है। परन्तु गीता के मूल उद्देश्य के सम्बन्ध में उसने बड़ी भ्रान्ति की है। देश के कल्पित कर्म्मवाद के प्रवाह में पड़ कर उसने गीता को **कर्म्मयोगशास्त्र** मान लिया है। उन की दृष्टि में गीता आत्मविद्याशास्त्र नहीं है, अपितु कर्म्मयोगशास्त्र है। अपनी इस लक्ष्यसिद्धि के लिए उन्हों नें उपक्रम-उपसंहार का पर्य्याप्त बल लगाया है। अवश्य ही यह इन की अनधिकारचेष्टा है। यदि गीता कर्म्मयोग शास्त्र होता तो इसे कभी उपनिषत् शब्द से सम्बोधित न किया जाता। कारण स्पष्ट है। कर्म्म–उपासना–ज्ञान इन तीनों का प्रतिपादन पूर्व कथनानुसार क्रमशः वेद के ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत् भागों में हुआ है। कर्म्मयोग का सम्बन्ध एकमात्र ब्राह्मण भाग के साथ है। उपनिषत् ज्ञानयोग का सूचक है। तब तो गीता को ज्ञानयोगोपयिक उपनिषत् शब्द से व्यवहृत न कर कर्म्मयोगोपयिक ब्राह्मणशब्द से सम्बोधित करते हुए **"भगवद्गीतब्राह्मण"** कहना चाहिए था। उधर गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में **"इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे"** इत्यादिरूप से उपनिषत् शब्द का सम्बन्ध सुना जाता है। उपनिषत् क्योंकि ज्ञानयोगशास्त्र है, एवं गीता भी क्योंकि उपनिषत् है। ऐसी दशा में हम इसे ज्ञानयोगशास्त्र, किंवा बुद्धियोगशास्त्र ही मानने के लिए तय्यार हैं।

कदाचित् आप प्रश्न करें कि **उपनिषत्सु** के आगे **"योगशास्त्रे"** यह सामान्य उप-संहार है। एवं योगशब्द **"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ"** इस गीता सि-

द्धान्त के अनुसार कर्मयोग का सूचक है। ऐसी दशा में अवश्य ही गीता को कर्मयोगशास्त्र कहा जासकता है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि योग शब्द केवल कर्म का ही वाचक है, यह किस आधार पर मान लिया गया। सांख्य शब्द के साथ जहां योग शब्द आता है, वहां अवश्य ही योगशब्द कर्म का वाचक है। परंतु स्वतन्त्र रूप से उपात्त योगशब्द कभी कर्म्म का सूचक नहीं माना जासकता। आपको स्मरण रखना चाहिए कि गीता में जहां जहां स्वतन्त्र रूपसे योग शब्द आया है, वहां वहां वह सर्वत्र कर्मगर्भित ज्ञानयोग, किंवा बुद्धियोग का ही सूचक है। एक स्थान पर तो-**"दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय"** यह कहते हुए भगवान् ने बुद्धियोग के सामने कर्मयोग की निन्दा तक कर डाली है। **"योगः कर्म्मसु कौशलम्" "योगयुक्तात्मा" "योगी भवार्जुन" "स योगी परमो मतः" "योगी नियतमानसः" "योगी विगतकल्मषः" "योगिनं सुखमुत्तमम्" "योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः" "स योगी मयि वर्त्तते" "कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी"** इत्यादि स्थलों के योग, एवं योगी शब्द बुद्धियोग, एवं बुद्धियोगी के ही सूचक हैं। **"ददामि तं बुद्धियोगं"** के अनुसार भगवान् की ओर से बुद्धियोग का ही वर प्राप्त हुआ है। ऐसी दशा में उक्त **"योगशास्त्रे"** इस उपसंहार वाक्य को कभी कर्म्मयोगपरक नहीं लगाया जासकता। अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि यहां का योग शब्द कर्म का ही सूचक है, तो पूर्वविप्रतिपत्ति का निराकरण करना असम्भव हो जाता है। उपनिषत् शब्द ज्ञानयोग, किंवा बुद्धियोग के साथ ही सम्बद्ध है। कर्म्मयोग का सम्बन्धी तो ब्राह्मण शब्द है। योगशास्त्र से **"कर्मयोगशास्त्रे"** ही अभिप्रेत होता तो **"इति श्रीमद्भगवद्गीतेषु ब्राह्मणेषु योगशास्त्रे"** यह उपसंहार रहता। चूंकि योगशास्त्र के साथ उपनिषत् का सम्बन्ध है, एवं उपनिषत् शब्द बुद्धियोग का सम्बन्धी है तो ऐसी दशा में उपनिषत्पूर्वक पढ़े हुए **योगशास्त्र** को कभी **कर्मयोगशास्त्र** परक नहीं माना जासकता।

गीता सचमुच एक रहस्यपूर्णशास्त्र है। इसके वास्तविक मार्ग पर पहुंच जाना कोई हंसी खेल नहीं है। कर्मयोगपक्षपातियों का कहना है कि गीता कभी ज्ञानयोग शास्त्र नहीं माना

उक्त तीनों कर्म्मों की उपनिषत् सर्वथा भिन्न भिन्न है। क्रत्वर्थ कर्म्मों की उपनिषदों का स्वरूप पृथक् है, पुरुषार्थकर्म्मों की उपनिषदों का स्वरूप पूर्व से भिन्न है, एवं सामान्य कर्म्मों की उपनिषदें अपना स्वरूप स्वतन्त्र रखतीं हैं। क्रत्वर्थ कर्म्म अङ्गभूत होने से संख्या में विशेष हैं। **व्रतोपायन, अप उपस्पर्श, आचमन, प्राणायाम, ब्रह्मवरण, दीक्षा, पुरोडाशसम्पादन, कपालोपधान, इध्मसन्नहन** आदि छोटे छोटे जितने भी क्रत्वर्थ कर्म्म हैं, उन सब की उपनिषदें (मौलिकउपपत्ति) तो स्वयं ब्राह्मण भाग में उन उन कर्म्मों के साथ ही बतला दी गई है। चूंकि यह सब उपनिषदें कर्म्मप्रधान ब्राह्मण की प्रधानता से अभिभूत हैं, अतएव इन्हें विशेष रूप से उपनिषत् शब्द से व्यवहृत करने का अवसर नहीं आता। पुरुषार्थ कर्म्मों में से कुछ की उपनिषदें तो स्वयं ब्राह्मण ने हीं बतला दीं हैं। एवं जिन का महाविज्ञान से सम्बन्ध था, उन का उपनिषद् भाग में ही निरूपण किया गया है, जैसा कि उदाहरण सहित **उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका** में बतला दिया गया है। जो पुरुषार्थकर्म्मोपनिषदें ब्राह्मण भाग में आगईं हैं, उन को भी क्रत्वर्थकर्म्मोपनिषदों की तरह उपनिषत् शब्द से व्यवहृत करने का अवसर नहीं है।

शेष रहतीं हैं, सामान्यकर्म्मोपनिषदें। बोधसौकर्य्य के लिए कारुणिक महर्षियोंनें उन का स्वतन्त्ररूप से निरूपण कर दिया है, वे ही स्वतन्त्रग्रन्थ वेद के अन्तिम भाग होने से वेदान्त नाम से, एवं उपनिषत् प्रधान होने से उपनिषत् नाम से व्यवहृत हुए हैं। कर्म किया ही क्यों जाय? इस की उपनिषत् ज्ञान है। ज्ञानोदय के बिना शाश्वत शान्ति नहीं मिल सकती, एवं बिना कर्म के ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। किन कर्म्मों से ज्ञान का उदय होता है? कर्म का अनुष्ठान किस प्रकार करना चाहिए? संस्कार जनक कर्मों का संस्कारत्व किस उपाय से हटाया जासकता है? उपनिषद्ग्रन्थ इन्हीं प्रश्नों का समाधान करता हुआ ज्ञान को, किंवा बुद्धियोग को अपना लक्ष्य बनाता है। इसी आधार पर उपनिषत् ज्ञानयोग का प्रतिपादक मान लिया गया है। परन्तु इससे यह कभी सिद्ध नहीं होसकता कि उपनिषत् का अवच्छेदक एकमात्र आत्मविद्यात्व, किंवा वेदान्तत्व ही है।

थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि उपनिषत् का अवच्छेदक वेदान्तत्व ही है। ईशादि ग्रन्थ ही उपनिषत् कहला सकते हैं। यदि ऐसा है तो एक विप्रतिपत्ति हमारे सामने

ऐसी उपस्थित होती है कि जिसका निराकरण प्रयत्न सहस्रों से भी नहीं होसकता । वेदभक्तों को यह विदित है कि **इशोपनिषत्** पहिली उपनिषत् है । यह उपनिषत् यजुर्वेदसंहिता का ४० वां अध्याय है । जिसे आप वेद का अन्तिम भाग कहते हैं, वह मन्त्रात्मक वेद का भाग बनता हुआ आदिभाग है । बतलाइए आपका वेदान्तत्व कहां गया । ऋषियोंनें तो मन्त्रभाग तक को उपनिषत् शब्द से सम्बोधित करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक वेदान्तत्व नहीं है । अपितु मौलिक विज्ञान सिद्धान्त का ही नाम उपनिषत् है । और लीजिए । **शतपथब्राह्मण** ब्राह्मणग्रन्थों में अति प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह वेद का दूसरा भाग है । आप को यह सुनकर कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि शतपथब्राह्मण नाम के वेद के द्वितीय भाग के १४ वें काण्ड का ही नाम सुप्रसिद्ध **'बृहदारण्यकोपनिषत्'** है । ब्राह्मणभाग में उपनिषत् का समन्वय ! राम !! राम !!! कैसा अनर्थ । इस अनर्थ का उत्तर उसी वृद्धव्यवहार से पूंछिए ।

हम तो समझते हैं, उपनिषत् की इसी सर्वव्याप्ति को सिद्ध करने के लिए ऋषियोंनें केवल ब्राह्मणग्रन्थ में हीं **ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषत्** तीनों का समन्वय कर दिया है । शतपथब्राह्मण घन्टाघोष पूर्वक ब्राह्मण है । साथ ही में उसी घोष के साथ शतपथ के १३ काण्डों में ब्राह्मण की प्रधानता है, एवं १४ वें काण्ड में आरण्यक-उपनिषत् का विवेचन है। इन सब विस्पष्ट परिस्थितियों के रहते भी जो प्राचीन वेदांतत्व को ही उपनिषत् का अवच्छेदक मानने का अभिनिवेश कर रहे हैं, उन के सम्बन्ध में–**'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'** इस सूक्ति का स्मरण हो आता है ।

उपनिषत् शब्द को ऐसा क्लिष्ट बनाने की कोई आवश्यकता नहीं हैं । यावनी भाषा जिसे **"उसूल"** कहती है, पाश्चात्य जगत् में जो **प्रिंसिपल** (Principle) कहलाता है, ठीक उसी अर्थ में उपनिषत् शब्द प्रयुक्त हुआ है । हां उसूल एवं प्रिंसिपिल शब्द निर्वचन प्रणाली से शून्य रहते हुए अवैज्ञानिक शब्द हैं । इधर हमारा उपनिषत् शब्द निर्वचनभाव के कारण वैज्ञानिक शब्द है । यही तो संस्कृत भाषा का महत्व है ।

पूर्व सन्दर्भ से जब यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक मौलिक विज्ञान सिद्धन्त है तो अब इस गीताशास्त्र को उपनिषत् कहने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती। अध्ययात्मा, एवं बुद्धियोग गीताशास्त्र इन दोनों का मौलिक विज्ञान बतलाता है। न केवल विज्ञान ही बतलाता, अपितु साथ साथ उसे व्यवहार में लाने का बालबुद्धिसुलभ उपाय भी बतलाता है। ऐसी दशा में गीता किसी महत्त्वेतर की अपेक्षा न रखती हुई स्वतन्त्र रूप से अवश्य ही उपनिषत् है।

इति-उपनिषच्छब्दरहस्यम्।

—३—

४—भगवद्गीतोपनिषत्-नामरहस्य

व्यष्टिरूप से पाठकों के सामने गीतानाममीमांसा रक्खी गई । अब संख्याविज्ञान पूर्वक समष्टिरूप से उक्त नाम की मीमांसा की जाती है। एक दर्शनभक्त के लिए जहां यह मीमांसा केवल कल्पना का साम्राज्य है, वहां एक वैज्ञानिक की दृष्टि में इस मीमांसा का बड़ा महत्व है। अवश्य ही एक दार्शनिक, किंवा एक साम्प्रदायिक मतवाद के अभिनिवेश के कारण अपनी कल्पना के विपरीत कुछ सुनना पसन्द नहीं करता। परन्तु विज्ञानदृष्टि को प्रधानता देने वाला, प्रत्येक विषय की उपपत्ति जानने की चेष्टा करने वाला एक विचारशील वैज्ञानिक प्रकृतिसिद्ध नित्यधर्म्म का अनुयायी बनता हुआ अवश्य ही इस मीमांसा को अपने साहित्यान्वेषण में सहायक समझेगा।

नाम माहात्म्य कितनी विशिष्टता रखता है, यह बतलाने का अवसर नहीं है। आज जो भारतवर्ष में धर्मरक्षा हो रही है, उस का मुख्य श्रेय नामस्मरण को ही है। स्वयं वेद ने भी नाम (शब्द) को साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप माना है। और किसी साहित्य के सम्बन्ध में तो हमें कुछ कहने का अधिकार नहीं है, परन्तु संस्कृतसाहित्य के सम्बन्ध में तो हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि इस में तो सम्पूर्ण वैज्ञानिक रहस्य शब्दों में ही भरा पड़ा है। महर्षियों ने उन्हीं शब्दों का, उन्हीं नामों का प्रयोग किया है, जो अपनी संख्या, एवं अवयवसंनिवेश आदि की विलक्षणता से ही वैज्ञानिक भावों को प्रकट कर रहे हैं। यही नहीं, वैदिक साहित्य की तो यह भी प्रतिज्ञा है कि यदि कोई व्यक्ति शब्द ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप जान लेता है तो उसे बिना किसी अन्य प्रयास के परब्रह्म का बोध हो जाता है। नाम तत्व की इसी विलक्षणता को प्रकट करते हुए ऋषि कहते हैं—

> द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत्।
> शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

भारतीय वैज्ञानिकग्रन्थों के पद्य, श्लोक, वाक्य, शब्दों की कथा तो दूर है। उस का तो प्रत्येक अक्षर भी किसी गुप्त रहस्य से सम्बन्ध रखता है। बिना प्रयोजन के एक स्वर, मात्रा, वर्ण का भी प्रयोग नहीं हुआ है। अपने इसी अतिशय के कारण शब्दविज्ञानवेत्ताओं (वैय्याकरणों) नें

परब्रह्मवत् शब्द को नित्य माना है। इसी विलक्षणता के कारण परमवैज्ञानिक वैदिक साहित्य अपौरुषेय कहलाया है। चूंकि गीता विज्ञानशास्त्र है, एवं विज्ञान में कोई वस्तु निरर्थक नहीं हो सकती। ऐसी दशा में हम कहेंगे कि **"भगवद्गीतोपनिषत्"** इस नाम का, नाम से सम्बन्ध रखने वाली अक्षर संख्या का अवश्य ही कोई मौलिक रहस्य है। उसी रहस्य का संक्षेप से दिग्दर्शन कराना इस प्रकरण का मुख्य लक्ष्य है।

सामान्य दृष्टि से विचार करने पर गीता नाम का अर्थ करते हुए हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि–"यह स्मार्ती उपनिषत् भगवान् के द्वारा गाई गई (विस्तार से कही गई) है, अतएव यह "भगवद्गीतोपनिषत्" नाम से सम्बोधित हुई है"। पूर्वकथनानुसार एक साम्प्रदायिक अवश्य ही इस अर्थ से सन्तुष्ट हो जाता है। परन्तु रहस्यार्थ के बिना एक वैज्ञानिक का केवल उक्त अर्थ से ही सन्तोष नहीं हो सकता।

पूर्व के **उपनिच्छब्दरहस्य** प्रकरण में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि मौलिक-रहस्य, मौलिकविज्ञान, किंवा मौलिक उपपत्ति को ही उपनिषत् कहा जाता है। किसी भी विषय के, किंवा कर्म्म के मौलिक रहस्य का जब हमें यथार्थज्ञान हो जाता है, दूसरे शब्दों में जब हम किसी विषय का तात्विक स्वरूप समझ लेते हैं तो उस विषय में हमारी पूर्ण श्रद्धा, एवं पूर्ण विश्वास हो जाता है। **"जिस रहस्यविज्ञान के परिज्ञान से हम जिस विषय के निकटतम उस की गहराई में पहुंचने में समथ हो जाते हैं, वह रहस्यज्ञान ही उस विषय की उपनिषत् कहलाती है"**। 'उप-(बहुत नजदीक)-नि-(बिल्कुल गहराई में)-षत् (पहुंचने का, किंवा बैठने का साधन) ही **उपनिषत्** है। रहस्यज्ञान ही उपनिषत् है।

रहस्य शब्द भी कम रहस्य नहीं रखता। रहस्य शब्द उस तत्व का वाचक है, जो तत्‍ शास्त्रों में प्रत्यक्षरूप से प्रतिपादित न होकर परोक्षभाव से सम्बन्ध रखता है। आप को यह जान कर आश्चर्य होगा कि वैदिक साहित्य में तत्वों के जितने भी नाम प्रयुक्त हुए हैं, उन सब का परोक्ष-भाव से ही सम्बन्ध है। **अग्नि, इन्द्र, वरुण, अत्रि, मृत्यु, रथन्थर,** आदि जितने भी नाम आप सुनते हैं, सब में परोक्षभाव का समावेश है। वास्तविक नामों को छिपा कर परोक्षप्रिय विद्वानों ने

उन के स्थानों में अग्नि-इन्द्रादि शब्दों का व्यवहार किया है। उक्त नामों के वास्तविक नाम क्रमशः अग्रि, इन्ध, वरण, अत्ति, मुच्यु, रसतम हैं। यही वैदिक साहित्य का रहस्यभाव है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट हो जाता है।

१—अग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षं, परोक्षकामा हि देवाः।

(शत०६।१।१।११)।

२—इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षं, परोक्षकामा हि देवाः।

(शत०६।१।१।२)।

३—तं वा एत वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षम्।

परोक्षकामा हि देवा मत्यक्षद्विषः। (गो० ब्रा०पू० १।७)।

४—अत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्त्रिरिति। (शत०१४।५।२।२)।

५—तं वा एतं मुच्युं सन्तं मृत्युरित्याचक्षते परोक्षम्।

परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः। (गो०पू०१।७)।

६—रसतमं ह वै तद् रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्।

(शत०९।१।२।३६)।

उक्त वचनों से हमें कैसे उदात्त लोकरक्षावृत्त का आदेश मिलता है, यह भी ध्यान में रखना चाहिए। सत्य की कल्पित परिभाषा बनाने वाले काल्पनिकों की कृपा से आज हम परोक्षभाव से सर्वथा पीछे हट गए हैं। हमने इसी में अपना महत्व समझ रक्खा है कि प्रत्येक विषय का, प्रत्येक कर्म्म का डिण्डिम घोष करते हुए ही आगे बढ़ें। हमें यह पता नहीं है कि जिस विषय को रहस्य में नहीं रक्खा जाता, वह आत्मशक्ति से वञ्चित होता हुआ निर्बल बन जाता है। क्योंकि आत्मा सर्वथा परोक्ष है। फलतः सर्वत्र काम करती हुई भी आत्मशक्ति प्रत्यक्ष में नहीं आती। हमारा प्रत्येक कार्य रहस्य में होना चाहिए। मन्त्रणा ही कर्तव्य कर्म का जीवन है। किया कुछ नहीं, घोषणा सारे विश्व में कर दी, यही हमारी अवनति का मूल

कारण है। सचमुच आज हम बिलकुल कोरा होगए हैं। आचार, व्यवहार, सम्भाषण सब में सत्यता का पुट लगाते हुए आज हम निर्लज्ज बन गए हैं, परोक्षभाव सर्वथा छोड़ दिया है, मर्यादा को जलाञ्जलि समर्पित कर दी है। इसी महाराजयक्ष्मा ने हमारे अन्तर्जगत् को खोकला कर डाला है। स्मरण रखिए आप अपने कर्तव्य में जितने ही गुप्त रहेंगे, आप की आत्मशक्ति उतनी हीं अधिक विकसित होगी। शक्तिवृद्धि के लिए परोक्षभाव से बढ़कर अन्य उपाय का अभाव है।

अस्तु प्रसङ्ग यह था कि आर्यसाहित्य के प्रत्येक शब्द में गुप्त रहस्य रहता है। एवं वह गुप्त रहस्य या तो ईश्वरदत्त दिव्य अलौकिक प्रतिभा से सुरक्षित रहता है, अथवा गुरुपरम्परा में सुरक्षित रहता है। अपने परिमित सामान्य ज्ञान से बिना किसी गुरू का आश्रय लिए केवल शब्दों के आधार पर उस रहस्य पर आप का आत्मा कभी नहीं पहुच सकता। जो व्यक्ति अपने बुद्धिवाद के अभिमान में पड़कर सम्प्रदाय की उपेक्षा कर अपने आप ही शास्त्रों के गुप्त रहस्य को जानने की चेष्टा करता है, उसका यह प्रयास सर्वथा व्यर्थ चला जाता है। गुरू हमें दिव्यदृष्टि प्रदान करते हैं। उसी दृष्टि के बल पर हम गुप्त रहस्यों पर पहुंचने में समर्थ बनते हैं। अर्जुन जैसा महाबुद्धिमान् मनुष्य भी तबतक उस बुद्धियोग को, भगवान् के उस गुप्त रहस्य को न समझ सका, न देख सका, जब तक कि भगवान् ने उसे दिव्यदृष्टि प्रदान नहीं कर दी। सच्छिष्य अर्जुन सद्गुरू कृष्ण के अनुग्रह से ही गीतोपनिषत् नाम के रहस्य-शास्त्र के सम्यक् परिज्ञान का अधिकारी बन सका। इस परिस्थिति से कहना हमें यही है कि केवल भाष्य, टीका, टिप्पणियों के आधार पर बिना गुरुदीक्षा के रहस्य शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लेना सर्वथा असम्भव है। अतएव आगमशास्त्र ने दीक्षा को ही ज्ञानप्राप्ति का मुख्य द्वार माना है। तन्त्र की दृष्टि से अदीक्षित मनुष्य किसी भी ज्ञान का अधिकारी नहीं है।

रहस्य रहस्य है, एकान्त की वस्तु है, गुप्तनिधि है। सभी मनुष्य इस के अधिकारी नहीं बन सकते। यही कारण है कि देवयुगकाल में होने वाली ब्रह्मपर्षदों में किसी कुलपति के उपदेश करने पर यदि कोई रहस्य की बात आजाती थी तो कुलपति गुरू सब के सामने उस

को प्रकट न कर अपने जिज्ञासु प्रिय शिष्य को हाथ पकड़ कर एकान्त स्थान में लेजाते थे, एवं उस रहस्य का उपदेश देते थे। महर्षि गार्ग्य ने अपने सच्छिष्य अजातशत्रु को इसी प्रणाली से रहस्य का उपदेश दिया था [देखिए शत० १४।५।१।]। रहस्य परिज्ञान रहसि [एकान्ते] में होने से ही रहस्य कहलाता है, एवं उसके लिए प्रत्येक दशा में गुरुपरम्परा का आश्रय ही अपेक्षित है। इसी अभिप्राय से अभियुक्त कहते हैं—

१—यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

(गीता० २।७।) ॥

२—स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ (गीता० ४।३।) ॥

३—तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ (४।३४।) ॥

सचमुच गीता एक रहस्य शास्त्र है। रहस्यज्ञान ईश्वरीय ज्ञान होने से ईश्वर की देन है। इसीलिए तो इस रहस्यग्रन्थ [वेद] को महर्षियों नें अपौरुषेय कहा है। ऋषियों के पवित्र अन्तःकरण में उन के अजस्र तपःप्रभाव से जिस अलौकिक रहस्य ज्ञान का, किंवा ईश्वरीय ज्ञान का उदय हुआ, उसी को उन्हों नें मन्त्रवाक् द्वारा संसार के सामने रक्खा। यही इलहाम है, पाक साफ खुदा के पाक साफ कलाम है। यही वेद है। इधर हमारा गीताशास्त्र यद्यपि वेद नहीं है, परन्तु रहस्यज्ञानात्मक यह गीताशास्त्र भी श्रुति से कम महत्व नहीं रखता। तभी तो यह [स्मृति होते हुए भी] उपनिषत् शब्द से सम्बोधित हुआ है।

श्रौती उपनिषत्, एवं इस स्मार्त्ती गीतोपनिषत् में विज्ञान दृष्टि से यद्यपि समानता है। तथापि वाक्दृष्टि से दोनों में अहोरात्र का अन्तर है। इसी अन्तर के कारण इसे अपौरुषेय नहीं माना गया, इसीलिए इस की गणना श्रुतिशास्त्र में नहीं की गई, अतएव इसे वेदवत् स्वतःप्रमाण नहीं माना गया। श्रौती उपनिषत् का जहां विज्ञानवाक् से सम्बन्ध है, वहां इस स्मार्त्ती गीतोप-

निषत् का शब्दवाक् से सम्बन्ध है। विज्ञानवाक् को मन्त्र कहा जाता है। मन्त्र की परिभाषा सर्वथा स्वतन्त्र है। प्राकृतिक विज्ञान तत्व का जिस रूप से, जिस उच्चावचभाव से, जिस स्वरलहरी से प्रकृति में सन्निवेश है, ठीक उसी की प्रतिकृति पर जिस वाक् का सन्निवेश हुआ है, वही वाक् विज्ञानवाक् कहलाती है, उसे ही मन्त्र कहा जाता है। जो महत्व मन्त्रप्रतिपाद्य विषय का है, वही महत्व तद्वाचक मन्त्र का है, यही मन्त्र का मन्त्रत्व है। उदाहरण के लिए गायत्रीमन्त्र को ही लीजिए। अग्निप्रधान देवता गायत्र है। वह गायत्री छन्द से छन्दित रहता है। गायत्री मन्त्र उस गायत्री तत्व की प्रतिकृति है। गायत्री मन्त्र में उसी के अनुसार उदात्तादि स्वरों का समावेश हुआ है। यदि उस गायत्री देवता को आप अपने अध्यात्मजगत् में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं तो गायत्री मन्त्र का जप कीजिए। चूंकि यह उस की प्रतिकृति है, अतएव इस के अजस्र जप से समानाकर्षण सिद्धान्त के अनुसार वह देवता आकर्षित होता हुआ आप के आत्मा में प्रतिष्ठित हो जायगा। यदि आप ने मन्त्रप्रयोग में एक मात्रा की, स्वर की, वर्ण की भी त्रुटि कर डाली तो सम्बन्ध टूट जायगा, एवं उस दशा में वही मन्त्र अभ्युदय के स्थान में नाश का कारण बन जायगा। साथ ही में आप को यह भी ध्यान रखना पड़ेगा कि, आप गायत्रीदीक्षा के अधिकारी हैं, अथवा नहीं। एकहेलया सभी गायत्री जप करने लगें, यह असम्भव है। जिस के अन्तरात्मा में जन्म से बीज रूप से इस देवता की प्रतिष्ठा होती है, वही द्विजाति कहलाता है। वही इस दीक्षा का अधिकारी है। इसीलिए धर्म्मसूत्रों ने शूद्र को इस सम्बन्ध में अनधिकारी माना है। वक्तव्य यह है कि मन्त्र का स्वरूप सर्वथा निश्चित है, एवं उस के उसी रूप से प्रयोग करने में लाभ है। यदि कोई मन्दबुद्धि भाषान्तर में उस का जप करने का दुःसाहस करता है तो यह उस की भ्रान्ति है। मन्त्र बाजारू सौदा नहीं है। मन्त्र मन्त्र है, रहस्यविज्ञान की प्रतिच्छाया है। जरा भी गड़ बड़ कर देने से मन्त्र-शब्द दुष्ट हो जाता है, इष्टजनकता के स्थान में अनिष्ट जनक बन जाता है। देखिए इस सम्बन्ध में श्रुति क्या कहती है—

> दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
> स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

वही शैली इसकी भी है । मन्वादि स्मृतियों का कर्त्तव्य केवल विधि–निषेधभावों पर ही समाप्त हो जाता है। वे धर्म्म का मौलिक रहस्य बतलाने में तटस्थ हैं। यदि उनसे कोई रहस्य ज्ञान की जिज्ञासा करता है तो उनकी ओर से इस जिज्ञासु को–"धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" यह उत्तर मिलता है । उत्तर का अभिप्राय यही है कि यदि तुम धर्म्म के रहस्य-ज्ञान की जिज्ञासा रखते हो तो इस के लिए तुम्हें वेद की शरण में ही जाना चाहिए। वही मौलिक रहस्य का उपदेष्टा है। ठीक यही स्थिति गीता की समझिए । विधि–निषेधभावों के साथ साथ गीता वेद पर अपना भार न छोड़कर–"इसलिए ऐसा करो, इसलिए ऐसा मत करो" इत्यादि उपपत्तिएं भी स्वयं बतला देती है। मौलिक उपपत्ति ही तो ज्ञानकर्म का रहस्य है, रहस्य ही तो उपनिषत् है । इसीलिए अपने विधि–निषेधभावों के कारण जहां गीता की अनुमान-प्रमाणरूप स्मृतिशास्त्र में गणना की है, वहां श्रुतिवत् रहस्यज्ञान का प्रतिपादन करने के कारण इसे उपनिषत् भी कहना उचित मान लिया गया है । इस प्रकार भगवत् शब्द भगभाव का सूचक है, गीताशब्द शब्दवाक् का सूचक है, एवं उपनिषत् शब्द रहस्य ज्ञान का परिचायक है। गीताशास्त्र से भगवद्भाव की प्राप्ति होती है, इसलिए यह **भगवत्** है । यह शास्त्र शब्द वाङ्मय है, इसलिए यह **गीता** है। यह शास्त्र रहस्य का प्रतिपादक है, इसलिए यह **उपनिषत्** है। इस दृष्टि से "**भगवद्गीतोपनिषत्**" इस नाम का "**भगवत्प्राप्त्युपायभूतशब्दवाङ्मयरहस्यशास्त्र**" यही निष्कर्ष निकलता है। यही इस नाम की द्वितीय व्याख्या है।

१–भगवत्प्राप्त्युपायभूतं-शास्त्रम्––→भगवत्,
२–शब्दवाङ्मयं-शास्त्रम् ———→गीता } → "**भगवद्गीतोपनिषत् शास्त्रम्**"
३–रहस्यज्ञानमयं-शास्त्रम् ———→उपनिषत्

प्रकारान्तर से विचार कीजिए । शब्दब्रह्मरहस्यवेत्ता विद्वानों को यह विदित है कि **व्यञ्जन** एक भिन्न वस्तु है, एवं **स्वर** एक स्वतंत्र तत्व है । इन दोनों का **आलम्बन,** अतएव

सर्वालम्बन स्फोट एक तीसरा ही तत्व है । व्यञ्जन अर्द्धमात्रिक है, स्वर मात्रिक है, एवं स्फोट अमात्रिक है । व्यञ्जन की प्रतिष्ठा स्वर है । इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि बिना स्वर को आधार बनाए आप विशुद्ध व्यञ्जन का उच्चारण नहीं कर सकते । इसी प्रकार स्वर की प्रतिष्ठा स्फोट है । इसी से अर्थ स्फुट होता है ।

यह एक बड़ा ही चमत्कार है कि जहां व्यञ्जन अपनी प्रतिष्ठा, किंवा स्थिति के लिए केवल एक बिन्दु की अपेक्षा रखता है, वहां स्वर स्वप्रतिष्ठाके लिए २ बिन्दुओं का आश्रय लेता हुआ ९ बिन्दुओं को अपना व्याप्ति स्थान बनाता है । ९ बिन्दुओं में से ५-६ इन दो बिन्दुओं पर तो स्वयं स्वर उक्थ [मूलबिम्ब] रूप से प्रतिष्ठित रहता है, एवं शेष ७ बिन्दुओं में [४ पूर्व की बिन्दुओं, एवं ३ उत्तर की बिन्दुओं में] वही स्वरतत्व अर्क (रश्मि) रूप से व्याप्त होता है । अपनें इन्ही अर्कों के आधार पर स्वर व्यञ्जनों को अपने धरातल पर प्रतिष्ठित रखता है । स्वर का ऐसा स्वरूप क्यों है ?, यह ९ बिन्दुओं में ही अपनी व्याप्ति क्यों रखता है ?, व्यञ्जन क्यों नहीं बिना स्वर के उच्चारण का विषय बनता ? इन सब प्रश्नों की उपनिषत् सूर्य्यदेवता है ।

छन्दोविज्ञान के अनुसार सूर्य्य बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित माना गया है। क्रान्तिवृत्त में सात अहोरात्रवृत्त माने गए हैं । इन्हीं को पूर्वापर वृत्त भी कहते हैं । इन्हीं सातों को विज्ञान भाषा में दक्षिण से आरम्भ कर क्रमशः **गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती** इन नामों से व्यवहृत किया जाता है । यही सूर्य के हिरण्मय [अग्निमय] रथ के सातों अश्व हैं, अश्व को ही छंद कहा जाता है । छन्द पर ही प्राकृतिक देवता प्रतिष्ठित रहते हैं ।

उक्त सातों छन्दों में मध्य का छन्द सबसे बड़ा है, अतएव इसे बृहतीछन्द कहा जाता जाता है । इसी को आसुर ज्योतिष में विषुवद्वृत्त, किंवा विष्वद्वृत्त कहा गया है । यही पाश्चात्य भाषा में इक्वेटर (Equator) नाम से प्रसिद्ध है । गायत्री के ६ अक्षर हैं, उष्णिक् ७ अक्षर का, अनुष्टुप् ८ अक्षर का है, एवं बृहतीछन्द ९ अक्षर का माना गया है । नवाक्षर बृहतीछन्द ही सूर्य्य की प्रतिष्ठा है । इसीलिए सूर्य्य को 'बृहत्' भी कहा जाता है,

जैसा कि-"सूर्यो बृहतीमध्यूढस्तपति"-"बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः"-'विभ्राड् बृहत् पिबतु" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है ।

बृहतीछन्द के दो अक्षरों में तो स्वयं सूर्य्य बिम्ब प्रतिष्ठित है। एवं शेष ७ अक्षरों में सूर्य्य की रश्मिएं व्याप्त हैं। इस प्रकार अक्षररूप बृहती की ६ बिन्दुओं में सौर संस्था प्रतिष्ठित है। इस की रश्मिसंस्था में हीं पृथिव्यादि उपग्रह प्रतिष्ठित हैं। "निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च" इस यजुःसिद्धान्त के अनुसार सूर्य्य में अमृत-मृत्यु दोनों भाव हैं, जैसा कि पूर्व के भगवच्छन्द-रहस्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अमृतभाग असङ्ग है, मर्त्यभाग ससङ्ग है। ससङ्ग मर्त्य भाग से ही पृथिवी उत्पन्न हुई है। अमृत ही मर्त्यभाव की प्रतिष्ठा है। अतएव मर्त्या पृथिवी अमृतसूर्य्य की अमृतरश्मियों के आकर्षण से ही स्वस्थान पर (क्रान्तिवृत्त की परिधि पर) प्रतिष्ठित रहती हुई अपने प्रभव (सूर्य्य) के चारों ओर परिक्रमा लगाती रहती है।

अमृत सूर्य्य से ही अकार-इकार-उकारादि स्वरों का विकास हुआ है। एवं मर्त्या पृथिवी से ही ककार-चकार-टकारादि व्यञ्जनों की उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार अमृत सूर्य के मर्त्यभाग से उत्पन्न पृथिवी अमृतसूर्य्य के बिना स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकती, एवमेव अमृतसूर्यात्मक स्वरों के बिना मर्त्य पृथिव्यात्मक व्यञ्जन उच्चारण के विषय नहीं बन सकते। "स्वरर्देवाः सूर्यः" इत्यादि रूप से सूर्य का स्वरत्व स्पष्ट है। इसी स्वरभाव के कारण सूर्य स्वर्लोक, स्वर्ग आदि नामों से प्रसिद्ध है। स्वर का चूंकि अमृत असङ्ग सूर्य से सम्बन्ध है, अतएव उच्चारण काल में हम स्वरों को सर्वथा असङ्ग पाते हैं। स्वरोच्चारण काल में हमारे कण्ठ-ताल्वादि का स्पर्श नहीं होता। यही स्वर का असङ्गभाव है। उधर व्यञ्जनों का ससङ्ग मर्त्य भूपिण्ड से सम्बन्ध है, अतएव उच्चारणकाल में हम व्यञ्जनों को सर्वथा ससङ्ग पाते हैं। व्यञ्जनोच्चारणकाल में कण्ठ ताल्वादि का स्पर्श होता है। यही व्यञ्जन का ससङ्गभाव, किंवा मर्त्यभाव है। इसी आधार पर-"कादयो मावसानाः स्पर्शाः" यह वचन प्रसिद्ध है। बृहती छन्द के सम्बन्ध से सूर्य चूंकि नवाक्षर में अपनी व्याप्ति रखता है, अतएव तदभिन्न स्वर भी ६ बिन्दुओं में ही अपनी व्याप्ति रखता है।

उक्त स्वर-व्यञ्जन निदर्शन से पाठकों को यह भी विदित हो गया होगा कि एक स्वर की छत्र छाया में १-२-३-४-५-६-७ तक व्यञ्जन प्रतिष्ठित रह सकते हैं। यदि ८ वां व्यञ्जन आवेगा तो वह एक स्वर उसे आश्रय देने में असमर्थ हो जायगा। तत्काल दूसरा स्वर आकूदेगा। उदाहरण के लिए "स्त्र्यर्क्ट्" शब्द को लीजिए। निम्न लिखित परिलेख में पाठक देखेंगे कि स्वर एक है, एवं व्यञ्जन सात हैं। एक ही स्वर ने ७ व्यञ्जनों का भार अपने आत्मा पर ले रक्खा है।

उक्थम्

१	२	३	४	५	६	७	८	९
०	०	०	०	०	०	०	०	०
स्	त्	र्	य्	अ		र्	क्	ट्
१	२	३	४			५	६	७

स श्म यः

स्त्र्यर्क्ट्

स्वरव्याप्तिः

स्-त्-र्-य्-र्-क्-द् इस सप्तव्यञ्जन समष्टि का आलम्बन अकार है, एवं स्त्र्यर्कद् इस समष्टि का (व्यञ्जनयुक्त स्वर का) आलम्बन अवारपारीण आलम्बनतत्व वही तीसरा स्फोट है। यह स्फोट सर्वथा नित्य है। व्यञ्जन सर्वथा अनित्य है, एवं मध्यस्थ स्वर स्फोट के अनुग्रह से नित्य, व्यञ्जनोपाधि से अनित्य बनता हुआ नित्यानित्य है। तीनों की समष्टि ही शब्दब्रह्म है। वैय्याकरण इस शब्दब्रह्म में स्फोट की आराधना करते हैं। चूंकि स्फोट नित्य है, अतएव नित्यस्फोटानुयायी वैय्याकरणों की दृष्टि में शब्द नित्य है। भौतिक पदार्थ मर्त्यभावप्रधान हैं। उधर व्यञ्जन भी पूर्व-कथनानुसार मर्त्य हैं। इसीलिए पदार्थ विद्या के आचार्य्य नैय्यायिकों का प्रधान उपास्य व्यञ्जन भाग है। व्यञ्जन चूंकि अनित्य है, अतएव यह शब्द को अनित्य मानते हैं। दोनों ही मत स्फोट, एवं व्यञ्जन दृष्टि से सर्वथा मान्य हैं।

इसी शब्दब्रह्म के समानधरातल पर **परब्रह्म** प्रतिष्ठित है। जैसा संस्थानक्रम शब्दब्रह्म का है, ठीक वैसा ही क्रम परब्रह्म का है। शब्दब्रह्म ही परब्रह्म का वाचक है। **"ओम्"** इत्याकारक शब्द से ही परब्रह्म का अभिनय किया जाता है, जैसा कि-"तस्य वाचकः प्रणवः" (पा० यो० १।२७)-**"ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः"** (गी० १७।१३) इत्यादि से स्पष्ट है। **"ओम्"** शब्द में एक अक्षर है, किंवा "ओम्" स्वयं एकाक्षर है। "स्वरो**ऽक्षरम्**" इस प्रातिशाख्य सिद्धान्त के अनुसार स्वर को ही अक्षर कहा जाता है। 'ओम्" ही उसका वाचक है, इस लिए **"ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्"** इत्यादि रूप से ओङ्कार द्वारा ही आत्मलक्षण परब्रह्म की उपासना का विधान है। वाच्य वाचक से अभिन्न है। अतएव वाचक शब्द ब्रह्म, एवं वाच्य परब्रह्म दोनों का अभेद सिद्ध हो जाता है। शब्दार्थनित्यता का यही मौलिक रहस्य है। इसी रहस्य के आधार पर वाचक शब्द एवं वाच्य अर्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध माना गया है-(देखिए पूर्वमीमांसा १।१)। इसी अधार पर दाक्षीपुत्र भगवान् पाणिनि का -**"सर्वे सर्वार्थवाचकाः"** यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। शब्दब्रह्म से समतुलित परब्रह्म का यद्यपि आगे के आत्मप्रकरण में विस्तार से निरूपण होने वाला है। तथापि प्रकरणसङ्गति के लिए यहां भी उस का संक्षेप से दिग्दर्शन करा देना अनावश्यक न होगा।

शब्दब्रह्म के स्फोट, स्वर, व्यञ्जन किंवा वर्ण की तरह परब्रह्म के भी **अव्यय, अक्षर, क्षर** यह तीन हीं विवर्त्त हैं। अर्थप्रधान क्षर विश्वमूर्त्ति है, क्रियाप्रधान अक्षर पुरुष विश्व का निमित्त कारण है, एवं ज्ञानमूर्ति अव्यय विश्व का आलम्बन है। अक्षर क्षर की प्रतिष्ठा है, अव्यय सर्वप्रतिष्ठा है। भौतिक क्षणिक विश्व क्षरात्मक है, वह वाक्प्रधान है, मर्त्य है, अनित्य है। क्षणिक, भौतिक, वाङ्मय, अर्थप्रधान, विश्वमूर्त्ति क्षरकूट की आलम्बनभूमि, प्राणमय क्रियाप्रधान अक्षरपुरुष है। दोनों का आलम्बन मनोमय ज्ञानप्रधान अव्ययपुरुष है। अव्यय नित्य है, क्षर अनित्य है, मध्यपतित अक्षर दोनों धर्म्मों से आक्रान्त रहता हुआ नित्यानित्य है। इन तीनों में अव्यय को स्फोटस्थानीय समझिए, अक्षर को स्वरस्थानीय मानिए, एवं क्षर को वर्ण के समकक्ष समझिए। तीनों की समष्टि को परब्रह्म मानिए। इसी परब्रह्म से आगे जाकर **ईश्वर, जीव, जगत्** इन तीन स्वतन्त्र संस्थाओं का उदय होता है। इन तीनों में ईश्वर **भगवान्** है, जीव-क्लेशवान् है, एवं विश्व क्लेशमूर्त्ति है। मध्यस्थ जीव जब तक क्लेशमूर्त्ति विश्व का (भौतिक विषय वासनाओं का) अनुचर बना रहता है, तब तक इस क्लेशसम्पत्ति के लेप से यह क्लेशवान् बना रहता है। यही जब क्लेशरूप विश्व से पराङ्मुख बन कर भगमूर्त्ति ईश्वर का अनुगामी बन जाता है तो उस भगवान् की भगवत्ता का इस पर अनुग्रह होजाता है। उस समय यह अपने जीवसंस्था सम्बन्धी क्लेशवान् जीवन का परित्याग करता हुआ भगवान् बन जाता है। यही इस आध्यात्मिक पुरुष का परम पुरुषार्थ है।

क्षर अक्षर के गर्भ में, एवं अक्षर अव्यय के गर्भ में यदि चला जाता है तो अव्ययपुरुष प्रधान बन जाता है। इस दशामें अव्यय का पूर्ण विकास रहता है। **"बिभर्त्यव्यय ईश्वरः"** (गी. १५।१७) इस गीता सिद्धान्त के अनुसार अव्यय साक्षात् ईश्वर है। इस ईश्वर की ईश्वरता क्षर अक्षर के गौणभाव पर ही अवलम्बित है। अतएव क्षराक्षरगर्भित अव्यय को ही हम ईश्वर, किंवा भगवान् मानने के लिए तय्यार हैं। क्षर अव्यय के गर्भ में, एवं अव्यय अक्षर के गर्भ में यदि समाविष्ट है तो अक्षर पुरुष की प्रधानता हो जाती है। इस दशा में अक्षर का विकास रहता है। **"जीवभूतां महाबाहो"** (गी० ७ ५) इस गीता सिद्धान्त के अनुसार **पराप्रकृति** नाम से प्रसिद्ध यह अक्षर ही

जीवात्मा, किंवा चेतनप्राणी का स्वरूप समर्पक है। यह भगलक्षण अव्ययसम्पत्ति से च्युत है। अतएव इस जीव को हम अवश्य ही क्लेशवान् कहने के लिए तय्यार हैं। अव्यय अक्षर के गर्भ में, एवं अक्षर क्षर के गर्भ में यदि चला जाता है तो क्षर पुरुष प्रधान आसन ग्रहण कर लेता है। इस परिस्थिति में क्षर का पूर्ण विकास रहता है। "क्षरः सर्वाणि भूतानि" (गी० १५। १६) इस गीता सिद्धान्त के अनुसार **अपराप्रकृति** नाम से प्रसिद्ध यह क्षर ही **विश्व**, किंवा विश्व का स्वरूप समर्पक है। यही भूतभाग जीव के क्लेश का कारण है, अतएव भूतात्मक इस क्षर को, किंवा क्षरात्मक विश्व को हम अवश्य ही क्लेश कहने के लिए तय्यार हैं। इस प्रकार त्रिपुरुष के तारतम्य से एक ही परब्रह्मने तीन स्वरूप धारण कर रक्खे हैं। यद्यपि तीनों ही स्वरूपों में (प्रत्येक में) **अव्यय-अक्षर-क्षर** तीनों पुरुष प्रतिष्ठित हैं, परन्तु प्रधानता तीनों में क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षर की ही है, अतएव **तद्वादन्याय** के अनुसार अव्यय को ईश्वर, अक्षर को जीव, एवं क्षर को विश्व मान लिया जाता है।

साक्षात् परब्रह्म को उक्त तीन स्वरूपों में परिणत होने की क्या आवश्यकता हुई? इस प्रश्न की उपनिषत् वही त्रिगुणभावमयी माया, किंवा प्रकृति है। प्रकृति का सत्वभाव ईश्वरसृष्टि का, रजोभाव जीवसृष्टि का, एवं तमोभाव विश्वसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। अज अव्यय को स्वस्वरूप से अजन्मा रहते हुए भी इसी दुरत्यया माया की कृपा से ईश्वर-जीव-विश्व इन तीन स्वरूपों में परिणत होना पड़ता है, जैसा कि-"**अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया**" इत्यादि गीता सिद्धान्त से स्पष्टतम है। सम्पूर्ण विश्व तमोगुणप्रधान बनता हुआ क्लेशरूप है। तम अविद्या है। अविद्या भाग ही रागद्वेष, मोह, अस्मिता, अभिनिवेश भेद से चार भागों में विभक्त है, यही साक्षात् क्लेश हैं। इन्हीं क्लेशों के आक्रमण से जीवात्मा दुःख पाया करता है। क्लेशप्रधान विश्व में रहने वाले, विश्वासक्त (विषयासक्त) जीवमात्र रजोगुणप्रधान बनते हुए क्लेशवान हैं। रजोगुण ही कामनामयी प्रवृत्ति का मूल है, एवं कामना ही विषयासक्ति की जननी है। इसी प्रकार विश्व में एक रूप से असङ्गभावेन व्याप्त ईश्वर सत्वगुणप्रधान बनता हुआ भगवान् है। सत्व ही विद्या है। विद्याभाग

ही वैराग्य–ज्ञान–ऐश्वर्य–धर्म भेद से चार भागों में विभक्त है। यही चारों साक्षात् भग हैं। तद्वान् ईश्वर अवश्य ही भगवान् है। जिस जीव ने प्रकृति के इस गुप्त रहस्य को समझ कर भगवत्ता प्राप्त कर ली, वह सचमुच बड़ा भाग्यवान् है।

उधर भगवान् (ईश्वर) है, इधर क्लेश (विश्व) है, मध्य में सदंश पतित क्लेशवान् (जीव) है। यदि इस क्लेशवान् की प्रवृत्ति क्लेशरूप विश्व की ओर है तो यह क्लेशवान् है। यदि बुद्धियोग का आश्रय लेता हुआ, तद्द्वारा अव्ययात्मा का साक्षात्कार करने में यह समर्थ हो जाता है तो इस आत्मज्ञान के प्रभाव से इस का कर्मात्मा स्वत एव क्लेशमय विश्व से पराङ्मुख बन जाता है। फलतः अव्ययेश्वर की भगवत्ता के अनुग्रह का सत्पात्र बनता हुआ यह भगवान् है। भगवान् ने क्लेशवान् को भगवान् बनाने के लिए ही तो गीतायोग का संस्करण किया है।

दूसरे शब्दों में यों समझिए कि ज्ञानप्रधान ईश्वर नित्य सुखी है, अर्थप्रधान विश्व दुःखमूर्त्ति है, मध्यपतित जीव समयानुसार दोनों से युक्त होता हुआ कभी सुखी है तो कभी दुःखी है। इस का यह क्षणस्थायी सुख भी रागात्मक बनता हुआ अन्ततः क्षोभरूपा अशान्ति का ही जनक बन जाता है। ऐकान्तिक सुखप्राप्ति के लिए तो इसे उस अव्ययेश्वर की शरणागति ही अपेक्षित है। वहीं उसे "तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्" यह आश्वासन मिल सकता है।

ईश्वर–जीव–विश्व तीनों हीं यद्यपि परब्रह्म के विवर्त्त हैं। परन्तु आगे जाकर यह उपाधि केवल ईश्वर के लिए नियत हो जाती है। कारण इसका यही है कि संकेतभाषा के अनुसार पर शब्द अव्यय का वाचक है, परावर शब्द अक्षर का, एवं अवर शब्द क्षर का वाचक है। यद्यपि तीनों हीं संस्थाओं में पर अव्यय, परावर अक्षर, अवर क्षर तीनों प्रतिष्ठित हैं। ऐसी दशा में तीनों को ही परब्रह्म, परावरब्रह्म, अपरब्रह्म इन तीनो नामों से ही व्यवहृत किया जा सकता है। तथापि अव्यय-अक्षर-क्षर की क्रमिक प्रधानता से परब्रह्म शब्द अव्ययप्रधान ईश्वर में हीं, परावरब्रह्मशब्द अक्षरप्रधान जीव में हीं, एवं अवरब्रह्मशब्द क्षरप्रधान विश्व में ही निरूढ बन गया है। इन तीनों संस्थाओं में से प्रकृत में परब्रह्म नाम की ईश्वरसंस्था का ही दिग्दर्शन कराया जाता है।

परब्रह्मतत्व विश्व से सम्बन्ध करके प्रजापति रूप में परिणत हो जाता है। इस प्राजापत्य दशा में हीं परब्रह्म ईश्वर कहलाता है। विशुद्ध दशा में तो उसे केवल परब्रह्म शब्द से ही पुकारा जायगा। कारण इसका यही है कि ईश्वरशब्द साकांक्ष है। शासन करने वाले प्रभु को ही ईश, किंवा ईश्वर कहा जाता है। ईश शब्द सुनते ही किसका ईश? यह जिज्ञासा होतो है। क्षर–और अक्षर तो अव्यय की अन्तरङ्ग प्रकृतिएं हैं, स्वभाव है, यह तो शासन के द्वार हैं। अवश्य ही शासित होनें वाले पदार्थ क्षर अक्षर से पृथक् होनें चाहिएं। बिना उन के सम्बन्ध के ईश्वर की ईश्वरता अपूर्ण है। इस कमी को विश्व ही पूरा करता है।

उदाहरण के लिए अध्यात्मसंस्था को अपने सामने रखिए। इस संस्था में आत्मा और शरीर यह दो भाग हैं। आत्मा इस शरीर का प्रभु है, ईश्वर है। यही दो विभाग आपको आधिदैविक संस्था में मानने पड़ेंगे। महाविश्व उस का शरीर है, विश्व के पर्व में प्रतिष्ठित रहने वाला क्षराक्षरगर्भित वही अव्यय इस का आत्मा है, दोनों की समष्टि ईश्वर है। हम जिस महाविश्व के दर्शन कर रहे हैं, वह साक्षात् ईश्वर के दर्शन हैं। शरीर ही चक्षु का विषय बनता है, आत्मा आंख से देखने की वस्तु नहीं है। इस दृष्टि से विश्वरूप ईश्वर के शरीर के दर्शन करना ईश्वर का प्रत्यक्ष कहा जासकता है। इसी विश्वशरीर के कारण उसे **विश्वात्मा, विश्वेश्वर, जगदाधार, जगन्नियन्ता, जगदीश्वर, विश्वम्भर** इत्यादि उपाधियों से विभूषित किया गया है। अब देखना यह है कि वह परब्रह्म इस विश्व में किस रूप से प्रतिष्ठित होता है।

उत्तर स्पष्ट है। स्वयं परब्रह्म के (ईश्वरात्मा के) जब अव्यय, अक्षर, क्षर यह तीन रूप हैं तो विश्व में इन तीन रूपों के अतिरिक्त उस की प्रतिष्ठा का स्वरूप और क्या हो सकता है। विश्वदृष्टि से वही तीन संस्थाएं क्रमशः **अव्यक्तसंस्था, व्यक्ताव्यक्तसंस्था, व्यक्तसंस्था** इन नामों की अधिकारिणीं हैं। **स्वयम्भू-परमेष्ठी** यह पर्व अव्यक्तसंस्था से, **सूर्य्य** व्यक्ताव्यक्तसंस्था से, एवं **चन्द्रमा-पृथ्वी** व्यक्तसंस्था से सम्बन्ध रखते हैं। प्रथम संस्था अव्ययप्रधान है, दूसरी अक्षरप्रधान है, एवं तीसरी क्षरप्रधान है। अव्ययप्रधानसंस्था मे अमृत की, क्षरप्रधानसंस्था में मृत्यु की, एवं अक्षरप्रधानसंस्था में अमृत-मृत्यु दोनों की प्रतिष्ठा है। अध्यात्मसंस्था में प्रत्य-

१—

- १—अव्ययप्रधानोऽव्ययः-अव्ययः
- २—अव्ययप्रधानोऽक्षरः—अव्ययः
- ३—अव्ययप्रधानः क्षरः—अव्ययः

} → क्षराक्षरगर्भितोऽव्ययपुरुषः-**भगवान्-परब्रह्म**

२—

- १—अक्षरप्रधानोऽक्षरः-अक्षरः
- २—अक्षरप्रधानोऽव्ययः-अक्षरः
- ३—अक्षरप्रधानः क्षरः-अक्षरः

} → क्षराव्ययगर्भितोऽक्षरपुरुषः-**क्लेशवान्-परावरब्रह्म**

३—

- १—क्षरप्रधानः क्षरः—क्षरः
- २—क्षरप्रधानोऽक्षरः—क्षरः
- ३—क्षरप्रधानोऽव्ययः-क्षरः

} → अव्ययाक्षरगर्भितः क्षरपुरुषः-**क्लेशः-अवरब्रह्म**

१—

- १—क्षराक्षरगर्भितोऽव्ययपुरुषः—→ अव्ययः → ईश्वरः—भगवान्-सत्वमूर्त्तिः—नित्यसुखी
- २—क्षराव्ययगर्भितोऽक्षरपुरुषः—→ अक्षरः—→ जीवः—क्लेशवान्-रजोमूर्त्तिः—सुखी-दुःखी
- ३—अव्ययाक्षरगर्भितः क्षरपुरुषः → क्षरः—→ जगत्—क्लेशः-तमोमूर्त्तिः—नित्यदुःखी

परब्रह्मसंस्थानपरिलेखः (सैषा–अधिदैवतसंस्था)।

१—१–स्वयम्भूः
२–परमेष्ठी } —सत्वगुणविकासभूमिः—अव्यक्तसंस्था——अव्ययप्रधाना

↓ ↓ ↓ ↓

२—१–सूर्य्यः } —रजोगुणविकासभूमिः—व्यक्ताव्यक्तसंस्था–अक्षरप्रधाना

↑ ↑ ↑ ↑

३—१–चन्द्रमाः
२–पृथिवी } —तमोगुणविकासभूमिः—व्यक्तसंस्था——क्षरप्रधाना

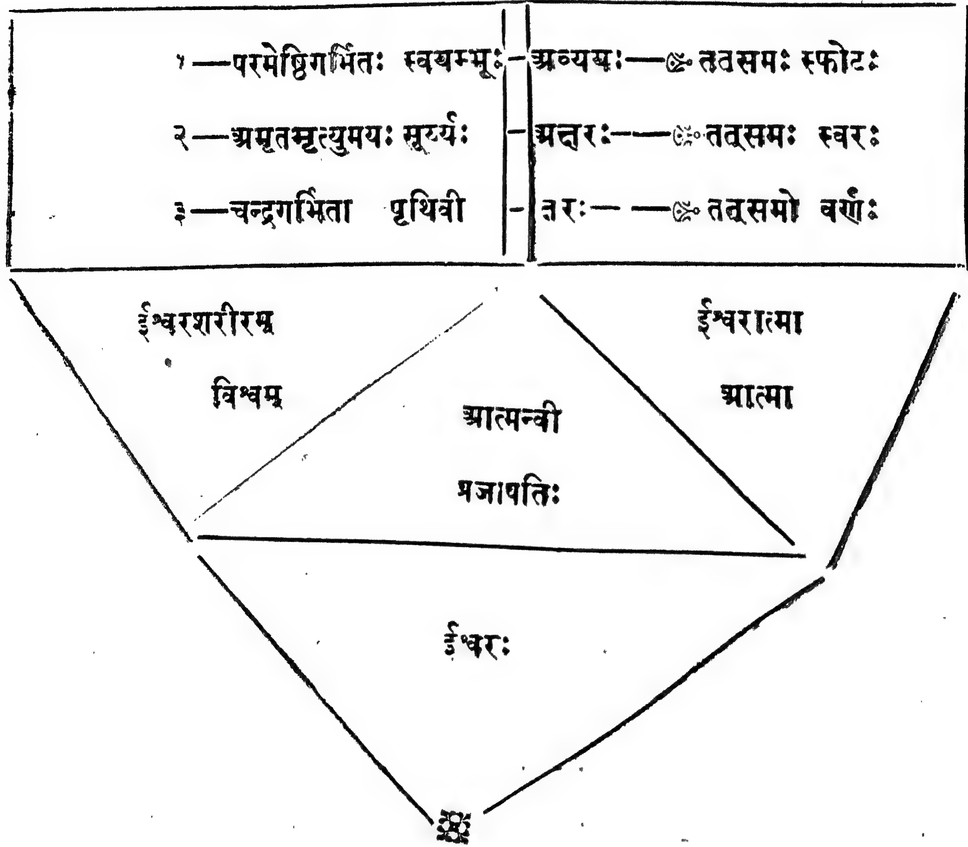
———०———

१—परब्रह्मात्मिका-अव्यक्तसंस्था——अव्ययप्रधाना-प्रत्यगात्मप्रतिष्ठाभूमिः
२—परब्रह्मात्मिका-व्यक्ताव्यक्तसंस्था–अक्षरप्रधाना–शारीरकात्मप्रतिष्ठाभूमिः
३—परब्रह्मात्मिका-व्यक्तसंस्था——क्षरप्रधाना—शरीरप्रतिष्ठाभूमिः

———०———

१—प्रत्यगात्मा——आध्यात्मिकः परमात्मा
२—शारीरकात्मा-जीवात्मा
३—शरीरम्——आध्यात्मिकं विश्वम्
} —→सैषा–अध्यात्मसंस्था

———०———



उक्त विषय का ही दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। अव्यय–अक्षर–क्षर की समष्टि ही सर्व हैं। आत्मन्वी प्रजापति के यही प्रधान तीन आत्मविवर्त्त हैं। अव्यय **ईश्वरात्मा है,** यही **आधिदैविक आत्मा** नाम से प्रसिद्ध **है। अक्षर जीवात्मा है,** इसी को **आध्यात्मिक आत्मा** कहा जाता है। एवं क्षर शिपिविष्टात्मा है, यही **आधिभौतिक आत्मा है।** अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत की समष्टि ही सर्व है। यह तीनों ही स्वतन्त्र आत्मन्वी, किंवा प्रजापति हैं। सपरिग्रहआत्मा को ही आत्मन्वी कहा जाता है। आत्मन्वी ही प्रजापति कहलाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक आत्मन्वी के **आत्मा–शरीर** यह दो दो पर्व होजाते हैं।

महामायावच्छिन्न, पञ्चपुण्डीरात्मक सहस्रवल्शामूर्त्ति ब्रह्माश्वत्थ ही महाविश्व है। यही उस त्रिपुरुषात्मक, परब्रह्ममूर्त्ति, अव्ययलक्षण, व्यापक ईश्वरात्मा का शरीर है। भूः, भुवः, स्वः, इन तीन महाव्याहृतियों से युक्त उक्त महाविश्व में यह ईश्वरात्मा अविभक्त रूप से व्याप्त हो रहा है। यह ईश्वरात्मा अव्ययप्रधान है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि इस प्रथमसंस्था में क्षर-अक्षर गर्भ में हैं, एवं अव्यय पूर्णरूप से विकसित है। अव्यय का पूर्ण विकास ही चतुर्विध भग की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव इस पहिले आत्मन्वी को हम अवश्य ही भगवान् कहने के लिए तय्यार हैं। यही भगवान् शब्द आगे जाकर भगवत् स्वरूप में परिणत हो गया है। कारण स्पष्ट है। विद्या को ही ज्ञान शब्द से सम्बोधित किया गया है। उधर मनोमय अव्यय ज्ञानशक्तिघन बनता हुआ विद्याप्रधान है। यह विद्या उस विद्यामय अव्यय से अभिन्न है। विद्या शक्ति है, अव्यय शक्तिमान् है। शक्ति शक्तिमान् से उसी प्रकार अभिन्न है, जैसे कि तापशक्ति शक्तिमान् अग्नि से अभिन्न है। अतएव विद्याशक्तिमय अव्यय को हम अवश्य ही विद्यामूर्त्ति कहने के लिए तय्यार हैं। इस अव्ययविद्या के वैराग्य ज्ञान ऐश्वर्य्य-धर्म्म भेद से चार पर्व हैं। यही विद्या के चार पाद हैं। इन चार विद्यापादों के सम्बन्ध से अव्ययब्रह्म चतुष्पाद्ब्रह्म है। एक एक पाद एक एक अक्षर है, विशुद्ध अव्यय इन चार पादों के कारण **चतुरक्षर** है।

चतुरक्षर, किंवा चतुष्पाद् अव्यय ब्रह्म से ही अक्षर द्वारा क्षरोपादान से सारी सृष्टिएं हुईं हैं, जैसा कि—"**मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्**"—"**अहं सर्वस्य प्रभवः**"—"**मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते**"—"**प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम्**" इत्यादि गीतासिद्धान्तों से स्पष्ट है। चतुष्पाद् अव्यय ब्रह्म के तीन अक्षर, किंवा तीन पाद स्वतन्त्र रहते हैं, केवल एक ही पाद सृष्टिधारा में संयुक्त बनता है। सृष्टि मर्त्य है। इस मर्त्यसृष्टि में उसका एक ही अक्षर समाविष्ट है। शेष तीन अक्षर अमृतरूप से सर्वथा असङ्ग रहते हैं, जैसा कि-"**त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः**" (यजुः ३१।४।) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। चतुरक्षर ईश्वर एक ही अक्षर से मृत्युमय विश्व में व्याप्त रहता है, एक ही अक्षर मर्त्यभाव से संश्लिष्ट बन कर अक्षर मर्य्यादा से च्युत हो जाता है, चारों अक्षर विशुद्ध अमृतमय न रहकर

तीन हीं अक्षर अक्षर रहते हैं। इन्ही सब रहस्यों को लक्ष्य में रखकर उसे तीन अक्षरों के नाम से ही सम्बोधित किया गया है। ईश्वर शब्द में भी तीन हीं अक्षर हैं, एवं भगवान् शब्द में भी तीन ही अक्षर हैं।

"स्वरोऽक्षरं सहाद्यैर्व्यञ्जनैः" इस प्रातिशाख्य सिद्धान्त के अनुसार स्वर को ही अक्षर कहा जाता है। साथ ही अक्षर से व्यञ्जन परिगृहीत रहते हैं, अतएव अक्षरगणना में उन की स्वतन्त्र गणना नहीं की जाती। उदाहरण के लिए स्वयं अक्षर शब्द को ही लीजिए। इस में यद्यपि वर्ण **"अ–क्–ष्–अ–र्–अ–म्"** यह ७ हैं। परन्तु अक्षर (स्वर) तीन हीं हैं। अतएव **"अक्षरमिति"** (अ-क्ष-रम्-इति) त्र्यक्षरम्(ता०ब्रा०४।४ ३।) के अनुसार अक्षर तीन हीं माने जाते हैं। वाक् शब्द में–व्–अ–अ–क् यह ४ वर्ण हैं, परन्तु अक्षर दृष्टि से वाक् एक ही अक्षर माना जाता है। **"वागित्यक्षरम्"** [तां४।४।३।] यह इसी अक्षर रहस्य को सूचित करता है। इसी आधार पर वर्णानेकता के रहने पर भी **"ओम्"** को एकाक्षर ही माना गया है। इसी श्रुतिसिद्ध विज्ञानसिद्धान्त के आधार पर **भगवान्-ईश्वर-भगवत्** शब्दों में जहां "भ्–अ–ग्–अ–व्–अ–अ–त् (भगवान्)–"इ–इ–श्–व्–अ–र्–अ–ः"-(ईश्वरः,-"भ-अ–ग्–अ व्–अ–त भगवत्) इत्यादि रूप से क्रमशः ८,८,७, वर्ण हैं, वहां अक्षर तीन तीन हीं हैं। तीनों ही शब्द भ–ग–वान्, ई–श्व–रः, भ–ग–वत् इस रूप से त्र्यक्षर हैं। यही विशुद्ध अव्ययब्रह्म की त्रिपाद्विभूति है। यही पहिली आधिदैविक संस्था है।

योगमायावच्छिन्न, पञ्चप्राणात्मक, कर्माश्वत्थरूप पाञ्चभौतिक शरीर ही सेन्द्रिय जीवात्मा का विश्व है। अव्यय-क्षरगर्भित, अक्षरानुगृहीत वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति कर्म्मात्मा ही जीवात्मा है। इसमें अक्षर का विकास है। इस का यह अक्षर भाग क्षरमूर्त्ति विश्व की ओर झुका हुआ है। इसी लिए यह क्लेशवान् बन रहा है। यही दूसरी आध्यात्मिक संस्था है।

विश्वमायावच्छिन्न चित्याग्निमय भौतिक पिण्ड ही शिपिविष्टात्मा का शरीर है। एवं अव्यय, अक्षरगर्भित क्षरानुगृहीत चितेनिधेय प्राणाग्नि ही इस शरीर का आत्मा है। यही तीसरी आधिभौतिक संस्था है।

१–अव्ययप्रधानः	ईश्वरात्मा	आधिदैविकसंस्था	}	तदिदं सर्वम्
२–अक्षरप्रधानः	जीवात्मा	आध्यात्मिकसंस्था		
३–क्षरप्रधानः	शिपिविष्टात्मा	आधिभौतिकसंस्था		



१—१–क्षराक्षरगर्भितः–अव्ययात्मा——आत्मा	}	आत्मन्वी-ईश्वरः
२–क्षरप्रधानं ब्रह्माश्वत्थात्मकं विश्वम्–शरीरम्		



२—१–क्षराव्ययगर्भितः–अक्षरात्मा——आत्मा	}	आत्मन्वी-जीवः
२–क्षरप्रधानं कर्म्माश्वत्थात्मकं शरीरम्–शरीरम्		



३—१–अव्ययाक्षरगर्भितः क्षरात्मा——आत्मा	}	आत्मन्वी-शिपिविष्टः
२–क्षरप्रधानश्चित्याग्निपिण्डः——शरीरम्		



ईश्वर ज्ञानप्रधान है, शिपिविष्टात्मक जगत् विज्ञानप्रधान है, मध्यस्थ जीव उभयात्मक है। ज्ञानप्रधान आत्मा भगवान् है, यह उस छोर में है, यही प्रथमपर्व है। विज्ञानप्रधान विश्व अन्तिम पर्व है। यह विश्व ही उस ज्ञानमूर्ति भगवान् की उपनिषत् (बैठने की जगह) है। यदि आप भगवान् से साक्षात्कार करना चाहते हैं तो आप को विश्वलक्षण उपनिषत् की ही आराधना करनी पड़ेगी। निराकार भगवान् की प्राप्ति साकार विश्व की उपासना से ही होगी। वह आप को मिलेगा अवश्य, परन्तु यहीं, इसी शरीर में, इसी विश्व में, विश्वान्तर्गत इन्हीं भौतिक पदार्थों में। "एष

सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (कठोप० १।३।१२।) के अनुसार वह इन्हीं भूतों में प्रतिष्ठित है। बुद्धियग ही उस के दर्शन का अन्यतम उपाय है। "भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति" (केनोप. २।१३) के अनुसार धीर बुद्धियोगी इन भूतों में हीं उसे पाकर मुक्त होते हैं। यदि आपनें यहीं, इसी शरीर से उसे प्राप्त न किया तो विनाश है। इसी जगह ढूंढिए। मिलेगा, अवश्य मिलेगा। यदि आपनें यहीं उसे पा लिया तो आपका जीवन धन्य है। भूतात्मिका इसी भगवदुपनिषत् का माहात्म्य बतलाते हुए ऋषि कहते हैं—

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्मसमश्नुते ॥

उस ओर भगवत्सम्पत्ति है, इस ओर उपनिषत्सम्पत्ति है, मध्य में जीवसम्पत्ति है। जीव क्या है? इस का उत्तर है, उसी सूक्ष्म भगवान् का वितान। भगवान् का गीत ही (वितत भाव ही) जीव है "एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" के अनुसार वह एक ही (ईश्वर ही) नाना रूपों में (जीवस्वरूपों में) परिणत हो रहा है। ईश्वर सत्यमूर्त्ति है, जीव यज्ञमूर्त्ति है। ईश्वरसत्य अपने आप को यज्ञरूप में परिणत कर इस यज्ञ से ही जीवसृष्टि का वितान करता है, जैसा कि- "यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै" इत्यादि ब्राह्मणश्रुतियों से स्पष्ट है। "सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः" इत्यादि गीतासिद्धान्त भी ईश्वर प्रजापति के यज्ञ से ही प्रजोत्पत्ति मान रहा है। सत्य उस का सूक्ष्मरूप है, निगूढ रूप है, संकुचित रूप है। यज्ञ उसी का स्थूलरूप है, प्रकट रूप है, फैला हुआ स्वरूप है। विततभाव ही गीत, किंवा गान है, जैसा कि पूर्व के गीताशब्द-रहस्य में विस्तार से बतलाया जा चुका है। यज्ञात्मक जीव सत्यात्मक ईश्वर का गीत है। गीत नहीं, गीता है। स्वयं अव्यय का वितान होता, तब तो जीव को गीत कहा जा सकता था। परन्तु "मध्याध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" के अनुसार अव्यय की अक्षर प्रकृति ही जीवस्वरूप

में परिणत होती है, जैसा कि—"जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्" इत्यादि वचन से स्पष्ट है। अक्षर को ही पूर्व में हमनें जीवसंस्था का स्वरूप समर्पक बतलाया है, एवं—"तथाऽऽक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" इत्यादि श्रुति भी उक्त कथन का ही समर्थन कर रही है। यह अक्षर उस की पराप्रकृति है, यही जीव का जीवत्व है। इसी स्त्रीभावप्रधान अक्षरप्रकृतिभाव के कारण हम यज्ञमूर्त्ति जीव को गीत न कह कर भगवान् की गीता कहेंगे।

भगवद्गीता वाक्य स्वतन्त्र है, उपनिषत् वाक्य स्वतन्त्र है। भगवान् की उपनिषत् भी विश्व ही है, एवं गीतारूप जीव की उपनिषत् भी विश्व ही है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि उस की उपनिषत् वह महाविश्व है वह इस के गर्भ में प्रतिष्ठित है, एवं इस की उपनिषत् यह छोटासा शरीर है, यह इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित है। ईश्वर जहां अपनी उपनिषत् (विश्व का सदुपयोग करता हुआ नित्यमुक्त है, वहां जीव अपनी उपनिषत् (शरीर) को विषयासक्त बनाता हुआ बद्ध है। जीव के इसी बन्धनभाव को हटाने के लिए भगवान् की यह उपनिषत् हमारे सामने आई है। शास्त्रोपदेश एकमात्र मनुष्य से सम्बन्ध रखता है। मनुष्यावच्छिन्न जीवात्मा को सन्मार्ग बतलाने के लिए ही शब्दशास्त्र का संकलन हुआ है। इस प्रकार जीवात्मा ही शास्त्र का प्रधान लक्ष्य है। गीताशास्त्र भी उसी मर्य्यादा से आक्रान्त है। "अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच" यह प्रतिज्ञा उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन कर रही है। चूंकि जीवात्मा अक्षरप्रधान है, एवं यही गीताशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है, ऐसी दशा में हम इस गीताशास्त्र को अवश्य ही "अक्षरशास्त्र" कह सकते हैं। यही कारण है कि भगवत्-गीता-उपनिषत् तीनों में से केवल गीता शब्द ही आगे जाकर रूढ बना है। केवल भगवत् शब्द से, एवं केवल उपनिषत् शब्द से कभी गीताशास्त्र का बोध नहीं होता। परन्तु केवल गीता शब्द सुनने से तत्काल हमारी दृष्टि गीताशास्त्र पर पर चली जाती है। गीताशब्द जीवात्मा का सूचक है, यह कहा ही जाचुका है।

इस प्रकार यद्यपि गीताशास्त्र का अक्षरशास्त्रत्व ही सिद्ध होता है, परन्तु साथ साथ ही गीता ने भगवल्लक्षण अव्यय, एवं विश्व का भी सुविशद निरूपण किया है। इस दृष्टि से हम इसे

सर्वशास्त्र, किंवा पूर्णशास्त्र भी कह सकते हैं। **"किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः"** का यही मूल है। इसी पूर्णता को व्यक्त करने के लिए यह **भगवद्गीतोपनिषत्** इतने बड़े नाम से सम्बोधित हुई है। भगवद्गीतोपनिषत् एकमात्र भगवत्-गीता-उपनिषत् (ईश्वर-जीव-जगत्) इन तीन विवर्त्तों का ही विश्लेषण करती है। स्वयं नाम ही इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण कर रहा है। गीता मध्यस्थ जीव को उस की आत्मसम्पत्ति का परिचय कराती है। गीतोपदेश मध्यस्थ जीव को ज्ञान (भगवत्)-विज्ञान (उपनिषत्) द्वारा समत्वयोग पर ले जाती है।

ईश्वर-जीव-शिपिविष्ट यह तीन अर्थ हैं। इन तीनों के वाचक क्रमशः भगवत्-गीता-उपनिषत् यह तीन शब्द हैं। ये अर्थभाव क्रमशः त्र्यक्षर, द्व्यक्षर, चतुरक्षर हैं। अतएव तद्वाचक शब्द भी क्रमशः त्र्यक्षर-द्व्यक्षर चतुरक्षर ही हैं। ईश्वर आदि में है, शिपिविष्ट अन्त में है, जीव मध्य में है। इसी क्रम के अनुसार ईश्वरार्थवाचक भगवत् शब्द को आदि में, शिपिविष्टार्थ-वाचक उपनिषत् शब्द को अन्त में, एवं जीवार्थवाचक गीताशब्द को मध्य में रखते हुए ईश्वर-जीव-शिपिविष्टात्मक इस शास्त्र को भगवद्गीतोपनिषत् कहा गया है।

गीता को हमनें पूर्ण शास्त्र कहा है। विचारणीय विषय यह है कि विज्ञानदृष्टि से पूर्ण क्या तत्व है ? संक्षेप से इस का भी उत्तर हृदयङ्गम कर लेना चाहिए। **"शून्यमन्यत् स्थानं, पूर्णमन्यत् स्थानम्"** इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्म के शून्य-पूर्ण दो स्थान माने जाते हैं। शून्य स्थान ही पूर्ण स्थान की प्रतिष्ठा है, पूर्णता ही शून्यभाव की जननी है। अतएव शून्य को पूर्ण कहा जाता है, एवं पूर्ण को शून्य कहा जाता है। संख्याविज्ञान के अनुसार ९ संख्या को पूर्ण संख्या माना गया है। यद्यपि लोकदृष्टि से १० संख्या पूर्ण है, एवं ९ संख्या अपूर्ण है। परन्तु विज्ञानदृष्टि से ९ को ही पूर्ण माना गया है। कारण इस का यही है कि पूर्णता में आगे का सम्बन्ध टूट जाता है, आगमन रुक जाता है। अपूर्णता में आगे से सम्बन्ध बना रहता है। इसीलिए दान सम्बन्ध में ९-११-२१-५१-१०१-१००१ यही व्यवस्था रक्खी

॥ श्रीः ॥

५—गीताशब्दनिरुक्ति

नाममीमांसा समाप्तप्राय है। व्यष्टि, एवं समष्टिरूप से उभयथा नाम का रहस्य पाठकों के सम्मुख रक्खा जाचुका है। अब इस सम्बन्ध में कोई विशेष वक्तव्य नहीं है। अब केवल गीता शब्द के सम्बन्ध में दो अक्षर और कहने हैं। पूर्वप्रतिपादित गीताशब्दरहस्य में यह बतलाया जाचुका है कि गीता कोई रूढ शब्द नहीं है। जिस प्रकार **श्रीमद्भागवत, वैशेषिकदर्शन, सांख्यदर्शन, न्यायदर्शन** आदि नाम तच्छब्दग्रन्थों में हीं निरूढ हैं, ऐसे गीता शब्द नाममर्यादा में आता हुआ भी वस्तुतः इस ग्रन्थ का नाम नहीं है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है वृद्धव्यवहार। गीता के प्रत्येक अध्याय के उपसंहार में '**इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु**" यह उल्लेख मिलता है। यदि गीताशब्द श्रीमद्भागवतादि की तरह इस ग्रन्थ का नाम होता तो "**इति श्रीमद्भागवते महापुराणे**" इत्यादिवत् इस ग्रन्थ के अध्यायों के उपसंहार में भी "**इति श्रीमद्भगवद्गीताशास्त्रे उपनिषत्सु**" यह वचन उद्धृत रहता। फलतः पूर्व उल्लेख के अनुसार गीता शब्द का यौगिकत्व ही सिद्ध होता है।

इस शास्त्र में जितनीं भी उपनिषदें हैं, वे सब भगवान् के द्वारा गाईं गईं (कहीं गईं) हैं, एकमात्र इसी हेतु से इसे गीता कहा गया है। गीता शब्द शब्दार्थक "**गै**" धातु से निष्पन्न हुआ है–(कै गै शब्दे पा० धातुपा० भ्वादि)। ऐसी दशा में मुखशास्त्र के अनुसार भी गीता शब्द का '**कथिता–प्रोक्ता–शब्दिता–उक्ता**" यह यौगिकार्थ ही सिद्ध होता है।

यह एक और चमत्कार है कि उक्त शब्दों में से किसी का प्रयोग न कर व्यास ने गीता शब्द का ही प्रयोग किया है। दो एक रहस्य तो इसके पूर्व में बतलाए जाचुके हैं। अब एक रहस्य का दिग्दर्शन और कराया जाता है। शब्द को वागिन्द्रिय से बाहर निकालने का नाम हीं शब्दव्यवहार, किंवा कथन है। इस कथन का वाक्तत्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वाक्समुद्र में उत्पन्न होनें वालीं वीचिएं (तरंगें) हीं शब्द की जननीं हैं। बोलने से सर्वव्यापक वाक्समुद्र में लहरें पैदा होतीं हैं, वे ही लहरें कर्णशष्कुली पर आके वहां बैठे हुए प्रज्ञान मन से परिगृ-

हीत बनकर शब्दवाक् की जननी बनतीं हैं। यही शब्दवाक् श्रुति है। इसी प्रकार हम जो शब्द मुख से बोलते हैं, उसकी जननी भी वाक् ही है। लोम, एवं नखाग्रों को छोड़कर हमारे सर्वाङ्ग शरीर में वैश्वानर अग्नि धधक रहा है। इसी अग्नि को "तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्" (शत० १० ।५।१।१।) के अनुसार वाक् कहा जाता है। यही वागग्नि मन की प्ररणा से वायु द्वारा प्रत्याहत बनकर मुखद्वार से निकलती हुई शब्दरूप में परिणत होती है। अग्निमयी मूल-वाक् ही शब्दात्मिका तूल वाक् रूप में परिणत होकर हृदय स्थान से चलकर मुखस्थान में मे प्रवेश करती है, जैसा कि-""अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" (ऐ०उप०२।४।) इत्यादि से स्पष्ट है। पाणिनीय शिक्षाने भी शब्दोत्पत्ति का यही क्रम माना है-(देखिए पा० शिक्षा६-१०)। तात्पर्य्य कहने का यही है कि शब्दतत्व उक्ति-श्रुति भेद से दो भागों में विभक्त है। हम जो शब्द मुख से बोलते हैं, वह उक्तिरूप शब्द है। एवं जो शब्द हम कानों से सुनते हैं, वह श्रुतिरूप है। दोनों का मूल वाक्तत्व ही है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि उक्तिरूप शब्द का आध्यात्मिक वागग्नि से सम्बन्ध है, एवं श्रुतिरूप शब्द का आधिदैविक वागग्नि से सम्बन्ध है। शरीर में रहने वाला वागग्नि आध्यात्मिक है, एवं इस विशाल आकाश में सर्वत्र समुद्ररूप से व्याप्त वागग्नि आधिदैविक है। पूर्वकथनानुसार आध्यात्मिक वागग्नि को तरंगों से उक्तिरूप शब्द उत्पन्न होता है। इस शब्द का उस आधिदैविक वागग्नि पर आघात होता है। इससे उसमें तरंगें पैदा हो जातीं हैं। यही तरंगें पूर्वकथनानुसार कान पर आकर श्रुतिरूप शब्द की जननी बनती है। उभयथा वाक् ही शब्द की जननी है, यह सिद्ध विषय है।

गीताशास्त्र वाङ्मय है, शब्दवाक्प्रधान है, उधर श्रौती उपनिषदों का विज्ञानवाक् से सम्बन्ध है, जैसा कि पूर्व के गीताशब्दरहस्य में कहा जाचुका है। इसी वाक्भाव को सूचित करने के लिए इसे "उक्ता" "कथिता" इत्यादि शब्दों से व्यवहृत न कर गीता शब्द से निर्देश किया है। द्व्यक्षरभाव जहां जीवात्मा का सूचक है, वहां गीताशब्द वाक्प्रपञ्च का द्योतक है। वाक्प्रपञ्च की सूचना से व्यास का तात्पर्य क्या है? यह भी जान लेना आवश्यक होगा।

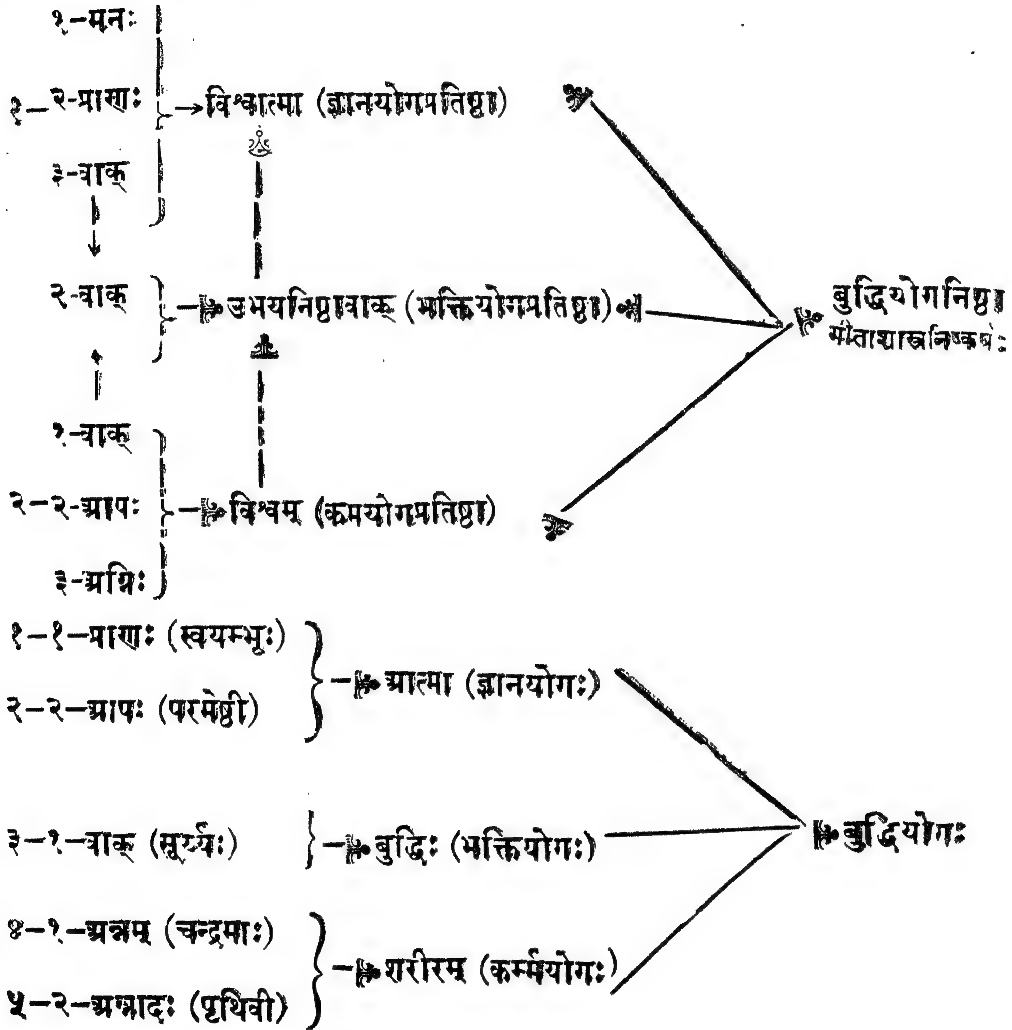
हम बतला आए हैं कि गीता में आत्मा-विश्व (ज्ञान-विज्ञान) दोनों का निरूपण

हुआ है । गीताशास्त्र दोनों का निरूपण करता है, वाङ्मय गीताशब्द के प्रयोग का यही कारण है । आत्मतत्व के अनेक विवर्त्त होते हैं । उन सब का यथाशक्य आगे के आत्मप्रकरण मे निरूपण किया जायगा । यहां इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना बस होगा कि आत्मब्रह्म के **विश्व, विश्वात्मा, विश्वातीत** यह तीन प्रधान विवर्त्त माने गए हैं । **आनन्द–विज्ञान–मनोमय** वही आत्मा विश्वातीत है । **मन–प्राण-वाङ्मय** वही आत्मा विश्वात्मा है, एवं **वाक्-आप-अग्निमय** वही आत्मा विश्व है । इन तीनों में विश्वातीत आत्मा शब्दातीत बनता हुआ शास्त्रानधिकृत है । शेष रहते हैं विश्वात्मा, एवं विश्व । इन दोनों आत्मविवर्त्तों के मध्य में दोनों से सम्बन्ध रखने वाला वाक्तत्व ही है । मनःप्राणवाङ्मय विश्वात्मा भी वाक् से संगृहीत है, एवं वाक् आप–अग्निमय विश्व भी वाक् से ही परिगृहीत है । वाक् संदशपतित है । इस प्रकार उपभयनिष्ठ यह वाक्तत्व आत्मा–विश्व दोनों का संग्राहक बन रहा है ।

आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञानयोग का इसी से सम्बन्ध है । सुप्रसिद्ध सांख्यनिष्ठा का मूलाधार ज्ञानमूर्त्ति यही आत्मा है । विश्व कर्म्ममय है, कर्म्मयोग का इसी से सम्बन्ध है । प्रसिद्ध योगनिष्ठा (कर्मयोग) का मूलाधार कर्म्ममूर्त्ति यही विश्व है । उधर मध्यस्थ वाक्तत्व आत्मा के ज्ञान से ज्ञानमय, एवं विश्व के कर्म्म से कर्मनय बनता हुआ ज्ञानकर्म्ममय है । भगवान् की दृष्टि में विशुद्ध ज्ञानयोग भी अच्छा नहीं है, एवं विशुद्ध कर्मयोग को भी यह बुरा समझते हैं । इनका प्रधान विषय **है–ज्ञानकर्म्ममय बुद्धियोग** ।

भगवान् बुद्धि का योग चाहते हैं । बहिरंग प्रकृति **प्राण–आप–वाक्–अन्न–अन्नाद** भेद से पांच भागों में विभक्त है । इन पांचों का क्रमशः विश्वात्मा के पञ्चपर्वा विश्व के स्वयम्भू-परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी इन पांचों पर्वों से सम्बन्ध है । सूर्य्य से नीचे का भाग मर्त्य विश्व है, सूर्य्य से उपर विश्वातीत आत्मा है । मध्य में सूर्य है । इस प्राकृतिक क्रम में सूर्य्य की मूलप्रकृति वाक्तत्व ही है । वाङ्मय यही सूर्य बुद्धि का प्रभव है । अतएव हम बुद्धि को अवश्य ही वाङ्मयी कहने के लिए तय्यार हैं । गीताशास्त्र चूंकि वाङ्मयी, किंवा वाक्प्रकृतिक बुद्धि–योग का निरूपण करता है, वाक्तत्व शब्द की मूल प्रतिष्ठा है, एवं गीता शब्द शब्दार्थक गै

धातु से संपन्न हुआ है, ऐसी दशा में इस शास्त्र को "गीता" शब्द से सम्बोधित करना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है।



इति गीतानाममीमांसायां गीताशब्दनिरुक्तिः

——५——

समाप्ता चेयं गीतानाममीमांसा

——७——

८–गीताशास्त्र की अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता

(प्रेरणा) है। यही इस पूर्वमीमांसा का मुख्य विषय है। इसी आधार पर मीमांसा ने धर्म्म का— "चोदनालक्षणोऽर्थोधर्म्मः" (पू० मी०..........) यह लक्षण किया है। शाण्डिल्य प्रणीत शाण्डिल्यदर्शन आरण्यकोक्त भक्ति की मीमांसा करता है। ईश्वर के साथ अनुरक्ति ही पराभक्ति है। इसी आधार पर शाण्डिल्यदर्शन का आरम्भ "सा परानुरक्तिरीश्वरे" (..........) से हुआ है। व्यासप्रणीत शारीरकदर्शन उपनिषदुक्त ज्ञान की मीमांसा करता है। उपनिषत् चूंकि वेद का उत्तर, एवं अन्तिम भाग है, अतएव तदूमीमांसक इस व्यासदर्शन को **उत्तरमीमांसा, वेदान्त** आदि कहा गया है। ज्ञान ब्रह्म का सूचक है। "**ब्रह्म कर्म्म च मे दिव्यम्**" में ज्ञान के अभिप्राय से ही ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी आधार पर ज्ञानप्रतिपादक वेदान्तदर्शन का आरम्भ '**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**' (व्यास सू० १।१।१) इस रूप से हुआ है। इस प्रकार वेद का कर्त्तव्य भाग प्रतिपादक ब्राह्मणभाग (विधि–आरण्यक–उपनिषत् भाग), एवं तदूमीमांसारूप तीनों दर्शनशास्त्र क्रमशः कर्म्म–भक्ति–ज्ञान का स्वतन्त्र रूप से निरूपण कर रहे हैं।

१—विधिः	२—आरण्यकः	३—उपनिषत्
पूर्वभागः	मध्यभागः	उत्तरभागः
कर्म्मप्रतिपादकः	भक्तिप्रतिपादकः	ज्ञानप्रतिपादकः
जैमिनिदर्शनम्	शाण्डिल्यदर्शनम्	व्यासदर्शनम्
पूर्वमीमांसा	मध्यमीमांसा	उत्तरमीमांसा
कर्म्मयोगः	भक्तियोगः	ज्ञानयोगः
सांख्यनिष्ठा	भक्तिनिष्ठा	योगनिष्ठा

तानीमानि-आध्यात्मिकानि त्रीणि शास्त्राणि

यदि उक्त शास्त्रदृष्टि को प्रधानता देते हुए हम विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से ही गीता के प्रतिपाद्य विषय का विचार करते हैं तो इसमें हमें कोई अपूर्वता नहीं मिलती। तब तो हम गीता के सम्बन्ध में केवल यही कह सकते हैं कि जिन कर्म्म-भक्ति-ज्ञानयोगों का वेद के पृथक् पृथक् तीन भागों में निरूपण हुआ है, एवं जिन तीनों का तीन आचार्योंनें पृथक् पृथक् निरूपण किया है, भगवान् नें केवल एक ही शास्त्र में तीनों का संग्रह कर लिया है। गीताशास्त्र कर्म्म-भक्ति-ज्ञान अधिकारी भेद से तीनों का ही निरूपण करता है। ऐसी दशा में गीताशास्त्र एक प्रकार से सर्वथा व्यर्थ, एवं केवल पिष्टपेषण रह जाता है। सभी तो तीनों के अधिकारी हैं नहीं, एवं तीनों का निरूपण पूर्व से सिद्ध है ही। फिर व्यास को इस स्वतन्त्र रचना की कोई आवश्यकता न थी। गृहस्थी पूर्वमीमांसायुक्त विधिभागद्वारा कर्म्मकाण्ड में, वानप्रस्थी मध्यमीमांसायुक्त आरण्यकभागद्वारा भक्तिकाण्ड में, एवं सन्यासी उत्तरमीमांसायुक्त उपनिषत् भागद्वारा ज्ञानकाण्ड में प्रवृत्त होता हुआ बिना गीता के भी अपने पुरुषार्थ को जब सिद्ध कर सकता था तो फिर गीता का एक भार और हमारे मत्थे डाल देना कोई महत्व नहीं रखता। जब हम प्राचीन व्याख्याताओं से इस प्रश्न का उत्तर पूंछते हैं तो वे मौन धारण करलेते हैं। कारण उनकी दृष्टि दर्शनमात्र से सम्बन्ध रखती है। एवं दार्शनिक दृष्टि से **"तीनों का एक ही ग्रन्थ में निरूपण हुआ है"** इस के अतिरिक्त और उत्तर बन नहीं सकता।

गीता की विषयसङ्गति प्राचीनोंनें इसी रूप से हमारे सामने रक्खी है। प्राचीनों के मतानुसार आरम्भ के ६ अध्याय ज्ञानयोग का निरूपण करते हैं, मध्य के ६ अध्याय भक्तियोग के प्रतिपादक हैं, एवं अन्त के ६ अध्यायों में कर्म्मयोग का निरूपण हुआ है। ज्ञानयोगप्रतिपादिका षडध्यायी ६ अध्यायों में क्रमशः **१-विषादयोग, २-सांख्ययोग ३-कर्म्मयोग ४-ज्ञानकर्म्मसंन्यासयोग, ५-कर्म्मसंन्यासयोग, ६-आत्मसंयमयोग** इन ६ योगों का निरूपण हुआ है। प्रत्येक में क्रमशः ४७/१, ७२/२, ४३/३, ४२/४, २९/५, ४७/६ इतने इतने, सम्भूय २८० श्लोक हैं।

भक्तियोगप्रतिपादिका मध्य की षडध्यायी के ६ अध्यायों में क्रमशः **१–ज्ञानविज्ञानयोग २–अक्षरब्रह्मयोग, ३–राजगुह्ययोग, ४–विभूतियोग, ५–विश्वरूपदर्शनयोग ६–भक्तियोग** इन ६ योगों का निरूपण हुआ है। प्रत्येक में क्रमशः ३०, २८, ३४, ४२, ५५ २० (१ २ ३ ४ ५ ६) इतने इतने, सम्भूय २०९ श्लोक है।

कर्मयोगप्रतिपादिका अन्त की षडध्यायी के ६ अध्यायों में क्रमशः **१–प्रकृतिपुरुषविभागयोग, २–गुणत्रयविभागयोग, ३–पुरुषोत्तमयोग, ४–देवासुरसंपत्तियोग, ५–श्रद्धात्रययोग, ६–संन्यासयोग** इन ६ योगों का निरूपण हुआ है। प्रत्येक में क्रमशः ३४, २७, २०, २४, २८, ७८ (१ २ ३ ४ ५ ६) इतने इतने सम्भूय २११ श्लोक हैं। इस प्रकार काण्डत्रय में विभक्त ७०० श्लोकों का यह गीता शास्त्र तीन योगों का ही निरूपण करता है। प्राचीन व्याख्याताओंनें उक्त विषय विभाग को ही प्रधानता दी है। फलतः उनके अनुयायी भारतीय विद्वान भी इसी पथ का अनुगमन कर रहे हैं। यह त्रिपथ सम्प्रदायवाद का जनक बना है। इसी विभक्तिने सम्प्रदायों में कलह का बीज वपन किया है। होसकता है, साधारण लौकिक मनुष्य केवल इसी विभक्ति पर विश्राम करले। परन्तु एक वैज्ञानिक इस विषय विभाग को किसी भी दृष्टि से उपयोगी नहीं मान सकता, जैसा कि आगे आने वाले **विषयविभागप्रदर्शन** में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

प्राचीनदृष्टिसम्मतविषयविभाग

काण्ड	अध्याय	श्लोक	योग		निष्ठा
ज्ञानकाण्डम् १	१———विषादयोगः······	४७	२८०	ज्ञानयोगप्रतिपादिका षडध्यायी	सांख्यनिष्ठा
	२———सांख्ययोगः·····	७२			
	३———कर्म्मयोगः······	४३			
	४———ज्ञानकर्म्मसंन्यासयोग	४२			
	५———कर्म्मसंन्यासयोगः	२९			
	६———आत्मसंयमयोगः····	४७			
भक्तिकाण्डम् २	७ (१)–ज्ञानविज्ञानयोगः····	३०	२०९	भक्तियोगप्रतिपादिका षडध्यायी	भक्तिनिष्ठा
	८ (२)–अक्षरब्रह्मयोगः····	२८			
	९ (३)–राजगुह्ययोगः········	३४			
	१०(४)–विभूतियोगः······	४२			
	११(५)–विश्वरूपदर्शनयोगः	५५			
	१२(६)–भक्तियोगः ······	२०			
कर्म्मकाण्डम् ३	१३(१)–प्रकृतिपुरुषविभागयोगः	३४	२११	कर्म्मयोगप्रतिपादिका षडध्यायी	योगनिष्ठा
	१४(२)–गुणत्रयविभागयोगः	२७			
	१५(३)–पुरुषोत्तमयोगः····	२०			
	१६(४)–दैवासुरसम्पत्तियोगः	२४			
	१७(५)–श्रद्धात्रययोगः······	२८			
	१८(६)–संन्यासयोगः········	७८			
३	स एष गीताशास्त्रनिष्कर्षोदार्शनिकः		७००		

प्राचीन व्याख्याताओं का उक्त विषय विभाग, एवं अध्याय विभाग सर्वथा निर्मूल हो यह बात तो नहीं है। अवश्य ही ऐतिहासिक दृष्टि से गीता के १८ अध्याय मानना, एवं दार्शनिक दृष्टि से गीता के ३ काण्ड मानना एक प्रकार से युक्तिसङ्गत अतएव आदरणीय है। सर्वसाधारण के लिए यही विषय विभाग सहज रूप से ग्राह्य भी है। सभी व्यक्ति विज्ञान के अधिकारी नहीं बन सकते। फलतः विज्ञानसम्मत विषय विभाग सर्वसाधारण का उपयोगी नहीं बन सकता। **"कश्चिद्यतति सिद्धये"–'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः"** के अनुसार गीता के वैज्ञानिकतत्त्व को समझने वाले विरले ही मिलते हैं। यही कारण था कि अर्जुनोपदेशकाल से पहिले कई शताब्दियों तक वह विद्यातत्त्व सर्वथा विलुप्त ही बना रहा। उस समय विद्वान् न थे, यह बात न थी। परन्तु वे इस रहस्य को भूले हुए थे। **"स कालेन महता योगो नष्टः परन्तप"**। इत्यादि रूप से भगवान् स्वयं यह सिद्ध कर रहे हैं कि मैंने देवयुग में जिस गीताविज्ञान का, किंवा सहकृत-कर्म्मरूप बुद्धियोग का उपदेश दिया था, वह नष्ट होगया है। कुछ शताब्दियों से लोक में ज्ञान एवं योग नाम की दो स्वतन्त्र निष्ठाएं प्रचलित हैं। ज्ञान–कर्म्म की समुच्चयरूपा बुद्धियोगनिष्ठा को लोग भूल गए हैं। मैं आज तुझे वही विलुप्तयोग (अपना प्रिय समझ कर) बतला रहा हूं।

क्या आश्चर्य है, भगवान् का यह उपदेश कुछ समय तक तो यथावत् चलता रहा हो, एवं पुनः इसने उन्हीं लोकनिष्ठाओं का रूप धारण कर लिया हो। आश्चर्य नहीं, ऐसा ही हुआ है। इतिहासग्रन्थ (महाभारत) में पड़े रहने के कारण अवश्य ही गीताशास्त्र आगे जाकर व्याख्याताओं के द्वारा पुनः विलुप्त होगया है। फिर भारतवर्ष में वही सांख्य एवं कर्म्मनिष्ठा पनप गई है। परिणाम स्वरूप आज भारतवर्ष में अनेक सम्प्रदाएं उत्पन्न होगई हैं। गीता का सार्वदेशिक सिद्धान्त जनता भूल गई है। अद्वैत पक्षपाती व्याख्याताओंने इसे केवल ज्ञानप्रधान ग्रन्थ मान लिया है। वल्लभ–रामानुज--निम्बार्क--माध्वादि वैष्णवों ने इसे एकमात्र भक्तिग्रन्थ मान लिया है। एवं इधर कुछ समय से कुछ राष्ट्रवादियोंनें अपनी कल्पना के बल पर इसे कर्म्म योग की उपाधि से विभूषित कर डाला है। इस प्रकार गीता आज व्यक्तितुष्टि का कारण बनती हुई अवश्य ही अपनी व्यापक बुद्धियोगनिष्ठा से वञ्चित होगई है।

गीता का उपदेश महाभारत युद्ध के समय हुआ था। युद्ध प्रसङ्ग से भगवान् व्यास ने महाभारत ग्रन्थ लिखा। चूंकि गीतोपदेश भी इस ऐतिह्यकाल से सम्बन्ध रखता था, अतएव उसी इतिहास ग्रन्थ में व्यासने अपने शब्दों से गीता का भी समावेश करदिया। किसी कारणविशेष से महाभारत में १८ पर्व रक्खे गए हैं। यह अष्टादशभाव इतिहास मर्य्यादा का सूचक माना गया है, जैसा कि आगे आनेवाले संख्याविज्ञान में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। ऐतिह्य-मर्य्यादा के रक्षक, साथ ही में परोक्षप्रिय व्यासने इतिहास दृष्टि को प्रधान लक्ष्य मानते हुए गीता को भी १८ ही अध्यायों में विभक्त किया। गीता का वास्तविक विद्यातत्व क्यों तिरोहित होगया, इसका एक कारण जहां यह ऐतिह्यभाव है। वहां दूसरा कारण व्याख्याताओं की संकुचित बुद्धि है। उन्होंने पहिले अपना एक सिद्धान्त निश्चित कर लिया है, अनन्तर स्वसिद्धान्तानुसार गीता के अर्थ करने का प्रयास किया है। गीता क्या कहती है, इसकी उपेक्षा कर व्याख्याताओंने-"हमनें जो समझ रक्खा है, वह गीता में है, अथवा नहीं" इस दृष्टि से गीता की व्याख्या की है। यही कारण है कि आज लगभग सभी व्याख्याएं (अभिनवगुप्ताचार्य की व्याख्या को छोड़ कर) इसी ऐतिह्यदृष्टिमूल दार्शनिक रंग से रंगी हुई है। इसी व्याख्यादोष से गीता का विज्ञानरहस्य तिरोहित होरहा है।

गीता इतिहास में उद्धृत है, इस दृष्टि से इस के १८ अध्याय होना न्यायसङ्गत है। किन्तु एकमात्र इसी हेतु से गीता को विद्यामर्य्यादा से पृथक् नहीं किया जासकता। विद्या का गुरु-शिष्य सम्प्रदाय से सम्बन्ध है, तत्वदर्शी विद्वान् विद्या के उपदेष्टा हैं। गीता ने "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्"- "उपदेक्ष्यति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में अपने आप को जब विद्याग्रन्थ बतलाया है तो ऐसी दशा में इसे केवल ऐतिह्यग्रन्थ नहीं माना जासकता। फलतः एक दृष्टि से गीता शास्त्र अपने १८ अध्यायों, एवं उक्त तीनों काण्डों को साथ लेता हुआ जहां ऐतिहासिक, किंवा इतिहास मर्य्यादा से आक्रान्त दार्शनिकग्रन्थ है, वहां अपनी चतुर्विधा विद्या, एवं चतुर्विध वैद्याबुद्धियोग निरूपण के कारण अवश्य ही एक विज्ञानशास्त्र है। जो महानुभाव इतिहास, दर्शन, एवं सम्प्रदायवाद के भक्त हैं, उन के लिए

दार्शनिकगीता, एवं प्रचलित विषय विभाग आदरणीय है, परन्तु जो विद्या के अनुयायी तत्वदर्शी कश्चित् मर्य्यादा से युक्त विद्वान् हैं, उन की दृष्टि में न प्रचलित अध्याय क्रम का ही कुछ मूल्य है, एवं न स्वतन्त्र तीन काण्डों का ही कुछ महत्व है। विद्योपदेश का जैसा क्रम है, उसी के अनुसार एक विद्वान् गीता का विषय विभाग करेगा। एवं उसी विषय विभाग के बल पर वह गीता की इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता सिद्ध करेगा। साथ ही में उस का यह सिद्धिभाव विज्ञानजगत् के लिए अवश्य ही एक अपूर्व, पूर्ण, एवं विलक्षण वस्तु होगी।

गीता पर पीछे दृष्टि डालिए, पहिले स्वयं गीताचार्य की ही परीक्षा कीजिए। भगवान् कृष्ण आर्यजाति के परम उपास्य देव हैं, इस में कोई सन्देह नहीं। परन्तु हम देखते हैं कि उन की यह उपासना भी आज दो भागों में बंटी हुई है। आज ही क्या, यह उपासना द्वैविध्य चिरकाल से चला आरहा है। इस द्वैधीभाव का मुख्य कारण स्वयं भगवान् का द्वैविध्य है। भगवान् का जीवन **मनुष्यभाव, ईश्वरभाव** भेद से दो भागों में बटा हुआ है। बालसुलभ साधारण चरित्र, मित्रगोष्ठी, युद्धप्रसंगों में सहयोग, दूतभाव, विवाह पुत्र-कलत्र संगति, आदि मनुष्य सुलभ भाव भी कृष्ण में विद्यमान थे, साथ ही में विराट्स्वरूपप्रदर्शन, असंगता, परमैश्वर्य, परमवैराग्य, ज्ञानोदय, धर्म्मोदय, आदि ईश्वरानुगत धर्म्म भी इन में पूर्णरूप से विकसित थे। भगवान् आधिकारिक जीव थे। लोककल्याण के लिए भगवान् का अवतार हुआ था। लोक सामान्य, एवं विशेषभावों से दो भागों में विभक्त है। भगवान् को दोनों का ही कल्याण अभीष्ट था। अतएव उन्हें अपने जीवन को दो भागों में विभक्त करना पड़ा। अपने मनुष्यरूप से जहां उन्होंने बालकों, स्त्रियों, एवं सामान्य मनुष्यों का कल्याण किया, वहां अपने ईश्वरभाव से वे योगियों की उपासना के धरातल बने।

भगवान् के इन्हीं दोनों रूपों को हम क्रमशः ऐतिहासिक, एवं वैज्ञानिकरूप कह सकते हैं। इतिहासदृष्ट्या भगवान् ने एक स्थान में जन्म लिया था, एवं अपने अलौकिक गुणों, एवं अतुलित शक्तियों के आधार पर दुष्टों का दमन किया था। विज्ञानदृष्टि से यह सम्पूर्णविश्व के आत्मा थे। स्वयं नन्ददम्पति भी भगवान् के इन सर्वथा विरुद्ध दोनों रूपों को देख कर कभी कभी व्यामोह में पड़ जाते थे। साधारणरूप से नन्ददम्पति इन्हें अपना प्रिय बालक समझते थे। भगवान् भी

योगमायाद्वारा इन की इस वात्सल्यभावना को सुरक्षित रखते थे। परन्तु जिन्होंने इस सामान्य रूप से कृष्ण को देखा था, वे भी कभी कभी इन के उन अद्भुत ईश्वरीय चरित्रों को देख कर अवाक् रह जाते थे। थोड़ी देर के लिए वे अपना वह सखाभाव भूल जाते थे। परन्तु तत्काल भगवान् योगमायाद्वारा उन्हें विस्मृति के गर्भ में डाल देते थे।

भगवान् के यही दोनों स्वरूप हमारी दृष्टि में **नन्दनन्दन**, एवं **वसुदेवनन्दन** इन नामों से व्यवहृत होनें चाहिएं। पहिला रूप मनुष्यविध है, ऐतिहासिक है। दूसरा रूप ईश्वरविध है, वैज्ञानिक है। यही कारण था कि जिस आयु तक भगवान् नन्दनन्दन बने रहे, तभी तक उन में मानुषभावों की प्रधानता रही। जिस क्षण में गोकुल से लोट कर उन्होंने वसुदेवनन्दन का बाना पहिना, उसी क्षण से उन का जीवन एक गम्भीर भाव में परिणत होगया। इन दोनों में पहिले रूप के उपासक अधिक संख्या में हैं, परन्तु दूसरे रूप के उपासक परिगणित हैं। नन्दनन्दन को सभी जानते, एवं मानते हैं. बालभाव सभी को प्रिय है। परन्तु वासुदेवकृष्ण का स्वरूप जानने वाले वैज्ञानिक दुर्लभ ही नहीं, अपितु सुदुर्लभ हैं। **"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः"** इत्यादिरूप से स्वयं भगवान् ने अपने इस वासुदेवरूप को क्वाचित्क बतलाया है।

उक्त निदर्शन से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि जिन साम्प्रदायिकों की दृष्टि कृष्ण के ऐतिहासिक मानुष रूप पर है, दूसरे शब्दों में जो नन्दनन्दन के उपासक हैं, वे अवश्य ही गीता के इतिहास सम्बद्ध अध्याय विभाग का आश्रय लेते हुए केवल अक्षरार्थ द्वारा, अथवा गीता पारायण से सन्तोष कर सकते हैं। परन्तु जिन की दृष्टि कृष्ण के वैज्ञानिक ईश्वरभाव पर है, जो वासुदेवसत्यकृष्ण को व्यापक समझते हैं, उन के लिए विज्ञानभाव ही सन्तोष का कारण बन सकता है। वे ही तात्विकदृष्टि से गीता का विचार कर सकते हैं। उन्हीं की दृष्टि में गीताशास्त्र इतरशास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पूर्ण, एवं विलक्षण हो सकता है। साथ ही में हमारा यह विज्ञान-भाष्य भी उन्हीं की तुष्टि कर सकता है। विज्ञानदृष्टि को प्रधान मानने से गीता में क्या अपूर्वता आजाती है? इसी प्रश्न का समाधान कर यह प्रकरण समाप्त किया जाता है।

आत्मतत्त्व स्वस्वरूप से सर्वथा आनन्दघन है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि आत्मा कभी भूल कर भी दुःख की कामना नहीं करता। इस प्रकार अपने रूप से नित्यानन्दघन बनता हुआ भी यह आत्मा संस्कार विशेषों की कृपा से दुःख पाया करता है। यही संस्कार विशेष इस की जन्मप्रवृत्ति के कारण हैं। संचित संस्कारों के भोग के लिए ही इसे दुःखघन (बलघन) संसार में जीवरूप से आना पड़ता है। प्रवृद्ध विश्वदुःख के आघात से ताडित, एवं योगमाया के दृढ बन्धन से सर्वथा परतन्त्र बनता हुआ आनन्दमय (भी) आत्मा दुःखी होजाता है। इस सांसारिक दुःखसंघ को हटाकर आत्मा को उसके वास्तविक (शान्ति लक्षण आत्मरूप) आनन्द का अधिकार दिलाने के लिए ही हमारा गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। **"अपने आप को पहिचान लेना"** दूसरे शब्दों में **"आत्मा के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करलेना"** ही जीवात्मा का परम पुरुषार्थ है। आत्मा के स्वरूपज्ञान से मोह की ऐकान्तिक निवृत्ति होजाती है। मोहनिवृत्ति के अव्यवहितोत्तर काल में ही दुःखत्रय की (आध्यात्मिक—आधिदैविक—आधिभौतिक दुःखों की) सर्वथा निवृत्ति होजाती है। बिना आत्मा का ज्ञान प्राप्त किए दुःखनिवृत्ति सर्वथा असम्भव है। **"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"** इस यजुः श्रुति के अनुसार आत्मज्ञान के अतिरिक्त शाश्वतशान्ति के लिए अन्य उपाय का अत्यन्ताभाव ही है।

"सर्वं चतुरस्रम्" इस आभाणक के अनुसार सर्वता, किंवा पूर्णता चतुःस्रक्ति (चार कोनों)-भाव पर निर्भर है। इसी आधार पर लोक में सर्वाधिपत्य के सम्बन्ध में **"अमुकने चारों कोनें रोक लिए"—"अमुक ने चारों कूटें रोकली, अब वहा दूसरे का प्रवेश असम्भव है"—"अमुक ने अमुक को चारों खानें चित्त कर डाला" "अमुक का तो राज्य चारों दिशाओं में फैला हुआ है"** इत्यादि किंवदन्तिएं प्रचलित हैं। इसी आधार पर वेद का **"चतुष्टयं वा इदं सर्वम्"** [कौ० ब्रा० २।१।] यह अनुगम प्रतिष्ठित है। आत्मा को **"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते"** के अनुसार पूर्ण माना जाता है। पूर्णता, किंवा सर्वता चतुःस्रक्ति भाव पर, किंवा चतुष्पर्वसत्ता पर निर्भर है।

विचार यह प्रस्तुत है कि आत्मा की वे चारों स्रक्तिएं कौनसी हैं, जिनके सम्बन्ध से

पूर्ण बनाता है। अतः हम इस शास्त्र को अवश्य ही इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पूर्ण, एवं विलक्षण मानने के लिए तय्यार हैं।

गीताशास्त्र के अतिरिक्त और और शारीरक, वैशेषिक, प्राधानिक जितने भी आत्म-शास्त्र, किंवा आत्मदर्शन हैं, वे सब इस प्रयत्न में आंशिक रूप से ही सफल हुए हैं, जैसाकि आगे के **आत्मपरीक्षाप्रकरण** मे विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रकृत में विषय संगति के लिए केवल यही जानलेना पर्याप्त होगा कि वैशेषिक दर्शन क्षरतत्व को आत्मा मानता है। इसीलिए उसने आत्मा को भी द्रव्य शब्द से सम्बोधित किया है। प्राधानिक (सांख्य) शास्त्र की दृष्टि अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध अक्षरतत्व पर है। एवं शारीरकदर्शन क्षरयुक्त अक्षर को ब्रह्म (आत्मा) मानता है। वेदान्तदर्शन का ब्रह्म पदार्थ कभी शाश्वत पदार्थ नहीं होसकता। कारण स्पष्ट है। ब्रह्म की जिज्ञासा शान्त करने के लिए व्यासनें **"जन्माद्यस्य यतः" "तत्तुसमन्वयात्"** यह कहा है। इन सूत्रों का तात्पर्य यही है कि जिससे जन्म, स्थिति, भंग की प्रवृत्ति होती है, जो समन्वय के कारण विश्व की जन्म, स्थिति, भंग का कारण बनता है, वही ब्रह्म है। यह लक्षण क्षरयुक्त अक्षर पर ही चरितार्थ होता है। जन्म-स्थिति-भंग से सम्बन्ध रखने वाला आत्मा कभी मुख्य आत्मा नहीं माना जासकता। उपनिषत् सिद्धान्त के अनुसार आत्मा तो अजर, अमर, अभय, एवं द्वन्द्वातीत है। उसका जन्म-भोग-मृत्यु से क्या सम्बन्ध।

क्षराक्षररूप आत्मा मृत्युप्रधान बनता हुआ संसार में आता है, संसार से जाता है, संसार में रह कर अनुकूलवेदनात्मक सुखों, एवं प्रतिकूलवेदनात्मक दुःखों का भोग किया करता है। शास्त्रान्तर इसी आत्मा पर अपने प्रतिपाद्य विषय को समाप्त कर देते हैं। उन की दृष्टि मुख्य आत्मा पर जाती ही नहीं। जिस आत्मा के साथ शास्त्रान्तर जन्म-स्थिति-भंगात्मक मृत्युभावों का सम्बन्ध बतला रहे हैं, उसे हम किसी भी दृष्टि से आत्मा कहने के लिए तय्यार नहीं है। चूंकि इतर शास्त्रों ने क्षराक्षर को आत्मा कहा है, साथ ही में उस के साथ मृत्युत्रयी का सम्बन्ध भी माना है, एवं आत्मा इस मृत्युत्रयी से सर्वथा असंस्पृष्ट हैं। ऐसी दशा में हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि आत्मा अवश्य ही क्षर-अक्षर से कोई

में प्राचीनों का मन्तव्य सर्वथा अपूर्ण है। उनकी दृष्टि में सर्वकर्म्मसंन्यासलक्षणा सांख्यनिष्ठ ज्ञानयोग है, कर्म्मपरिग्रहलक्षणा कामनामयी कर्म्मनिष्ठा कर्म्मयोग है, एवं उभयधर्म्मावच्छिन्ना, किन्तु ईश्वरानुग्रहरूपफलोन्मुखा ईश्वरप्रणिधानलक्षणा भक्तिनिष्ठा भक्तियोग है। तीनों का धरातल सर्वथा स्वतन्त्र है। ज्ञानयोगानुयायी ऐहलौकिक पारलौकिक सभी कर्म्मों को छोड़ने में अपना परम पुरुषार्थ समझ रहे हैं। कर्म्मयोगी कामनामयीफलासक्ति को आगे कर कर्म्म में प्रवृत्त होरहे हैं। एक भक्तियोगी ईश्वरानुग्रहरूपफल की कामना से बद्ध होरहे हैं। एक में ज्ञानासक्ति है, एक में कर्मासक्ति है, एक में ईश्वरासक्ति है। आसक्ति की दृष्टि से तीनों ही योग कामनामय हैं। जहां कामना है, वहां संस्कारलेप है। जहां संस्कारलेप है, वहां आत्मा बन्धन में है। एवं बंधन ही आत्मा की अपूर्णता है। फलतः प्राचीनाभिमत तीनों ही योगों की अपूर्णता सिद्ध होजाती है।

इसी अपूर्णता के कारण गीताशास्त्र की दृष्टि में उक्त तीनों ही योग आत्मा की पूर्णता को उससे वियुक्त करनें के कारण बनते हुए अयोग, किंवा भ्रष्टयोग हैं। एक देहधारी के लिए कर्म्म का एकान्त संन्यास सर्वथा असम्भव है, इसलिए तो प्राचीनों की सांख्यनिष्ठा का कोई महत्त्व नहीं। प्रवृत्तिमूलक कर्म्म आसक्तिमय बनते हुए मुक्ति के स्थान में बंधन के कारण हैं, इसलिए उनकी इस कर्म्मनिष्ठा का भी आत्मदृष्टि से कोई महत्व नहीं। उधर भक्तियोगनिष्ठा भी ईश्वर प्राप्तिरूपफल की अनुगामिनी बनती हुई उत्कृष्ट नहीं रहती।

तीनों निष्ठाएं अपूर्ण हैं। अपूर्णता विषमता की जननी है। विषमता समता की विघातिका है। समता का अभाव ही पारस्परिक क्लेश का, किंवा मताभिनिवेश का जनक है। यही कारण है कि उक्त तीनों निष्ठाओं के अनुयायी तीनों दल एक दूसरे की निष्ठा के आगे एक दूसरे की निष्ठा को निन्दनीय बतलाते हुए परस्पर में झगड़ते रहते हैं। सांख्यनिष्ठ ज्ञानी कर्म्मनिष्ठ कर्म्मठ को, साथ ही में उसकी योगनिष्ठा को, एवं भक्तिनिष्ठ भक्त को, साथ ही में भक्तिनिष्ठा को, हेय बतला रहा है। भक्तिपथानुगामी ज्ञान--कर्म्म को तिरस्कार की दृष्टि से देख रहे हैं। एवं कर्म्मठ ज्ञानी--एवं भक्त का उपहास कर रहे हैं।

आश्चर्य तो यह है कि आज यह तीनों अपूर्णयोग भी स्वस्वरूप से सुरक्षित नहीं है । हां कहने भर को आज भक्ति ने अवश्य ही अपना प्रभुत्व जमा रक्खा है । ज्ञान-कर्म्म का कहीं पता भी नहीं है । बाल-वृद्ध-युवा-स्त्री-धनिक-निर्धन-मूर्ख-विद्वान् सब अपने आपको भक्तराज मानने का दम भर रहे हैं । कर्त्तव्यकर्म्म में असमर्थ आज का भारतवर्ष अपने आलस्य को भक्ति के पर्दे से ढकने का प्रयास कर रहा है । वर्णाश्रमधर्म्म का आज कोई महत्व नहीं है ।

हमारा तो विश्वास है कि यदि शास्त्र में कुछ भी सत्यता है, यदि "**स्वे स्वे कर्म्मण्य-भिरतः संसिद्धिं लभते नरः**" इस भगवदादेश में कुछ भी तथ्य है तो शास्त्रप्रतिषिद्ध आज की भक्ति का कोई महत्त्व नहीं है । स्मरण रखिए, हाथ जोड़ देने से ही भगवान् कभी हमारे पाप क्षमा नहीं कर सकते । हमें अपने कृताकृत का फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा । भगवान् के दर्शन से, नाम स्मरण से पापजनित दुःखों को भोगने के लिए, आत्मा में एक प्रकार का बल अवश्य आजाता है । परन्तु भगवान् ऐसे दयालु नहीं है कि हम रातदिन जघन्य सांसारिक स्वार्थों में लिप्त रहें, पूर्ण विषयासक्त बने रहें, और मन्दिर में जाकर हाथ जोड़कर-"हे भगवान् ! तू बड़ा दयालु है, हमारे पाप क्षमा करना" यह कह देने मात्र से, अथवा लोक-ख्याति के व्याज से घन्टे दो घन्टे के लिए झांझ-मंजीरे-ढोलक-करताल लेकर घुंघुरू बांध-कर हरे राम, हरे राम कर लेने मात्र से भगवान् हमारे ऊपर सचमुच प्रसन्न हो जांय । बड़ा मिथ्या विश्वास है ।

हमारा तो यह भी विश्वास है कि ऐसे उत्पथगामी भगवान् के पवित्र नाम की ओट में भोली जनता को व्यामोह में डाल कर अपनी वासना को और भी अधिक उत्तेजित करते हैं । भक्ति बाजारू चीज नहीं है । वह एकान्त की वस्तु है । **सर्वश्री साधु तुकाराम, ज्ञानेश्वर महाराज, समर्थ रामदास स्वामी, नरसी मेहता, भक्तिपरायणा मीरा,** आदि महापुरुषों के उदाहरण हम संसारियों के लिए कोई काम नहीं दे सकते । हमें इनके चरित्रों की ओट में भक्ति का स्वांग भरने का कोई अधिकार नहीं है । यदि हम वैसे ही बन जांय, तब लोक-शास्त्र

मर्य्यादा की अवहेलना की जासकती है। भगवत् सम्पत्ति से युक्त महापुरुषों का आचरण हमा लिए प्रमाण नहीं है, अपितु उनका आदेश ही हमारे लिए हितकर है। [देखिए श्रीमद्भागवत १० स्कन्ध पू० ३३ अ० ३०-३१-३२ श्लो०।

अस्तु, वक्तव्य यही है कि शास्त्रान्तरों में जिन ज्ञान-भक्ति-कर्म्मनिष्ठाओं का निरूपण हुआ है, वे सब पूर्वकथनानुसार अपूर्ण हैं। इधर हमारे गीताशास्त्र ने इन तीनों की मर्य्यादा सुरक्षित रखते हुए, तीनों के समष्टिरूप, अतएव तीनों की अपेक्षा सर्वथा अपूर्व बुद्धियोग का उपदेश दिया है, जो कि अन्यशास्त्रों में सर्वथा अनुपलब्ध है। भगवान् ने-**"न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते-न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति"-"कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताजनकादयः" -"नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्मज्यायोह्यकर्म्मणः"** इत्यादि रूप से बड़े आवेश के साथ प्राचीनाभिमत सर्वकर्म्मात्यन्तसंन्यास लक्षण ज्ञाननिष्ठा का एकान्तत खण्डन करते हुए, साथ ही में **"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्योभवार्जुन"-"कामात्मान स्वर्गपराः"-"भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां"-"स शान्तिमाप्नोति न कामकामी"** इत्यादि रूप से प्रवृत्तिप्रधान वैदिककर्म्ममयकर्म्मयोग का खण्डन करते हुए, साथ ही में भक्तियोगनिष्ठा की फल प्रवृत्ति का एकान्ततः निरोध करते हुए, इस में ज्ञान-वैराग्य का समावेश करते हुए निम्न लिखित रूप से बड़े आरोप के साथ बुद्धियोगनिष्ठा का उपदेश दिया है।

कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्मातेसङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥ १ ॥
दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ २ ॥
दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ॥ ३ ॥
कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ४ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५ ॥

इस प्रकार गीताशास्त्र त्रिब्रह्म में से अव्यय ब्रह्म का, एवं त्रियोग से विलक्षण, सर्व अपूर्व बुद्धियोग का निरूपण करता हुआ अवश्य ही इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पू एवं विलक्षण है ।

इस सम्बन्ध में एक आक्षेप उपस्थित होता है । **"गीताशास्त्र अपूर्व अव्ययात का, एवं सर्वथा अपूर्व बुद्धियोग का निरूपण करता हुआ अवश्य ही अपूर्व, ए विलक्षणशास्त्र माना जा सकता है । परन्तु जिन क्षर–अक्षर नाम के दो आत्मा का, एवं जिन ज्ञान-भक्ति-कर्म्म योगों का वैशेषिकादि अन्य शास्त्रों में निरूपण हु है, उन का चूंकि गीताशास्त्र निरूपण नहीं करता । ऐसी दशा में गीता को अपू एवं विलक्षण शास्त्र मानते हुए भी हम इसे पूर्ण, किंवा सर्वशास्त्र नहीं मान सकते"**

कहना नहीं होगा कि उक्त आक्षेप का गीता की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। केव इसी आक्षेप के बल पर गीता की पूर्णता की कोई क्षति नहीं होती । यदि गीताने आत्मविव में से अव्ययविवर्त्त का, एवं योगविवर्त्तों में से बुद्धियोगविवर्त्त का निरूपण कर दिया तो कुछ शेष नहीं रहा । क्षर–अक्षरादि इतर खण्डात्माओं की मूलप्रतिष्ठा **परमात्मा नाम से** प्रसि अव्ययपुरुष ही है । **"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय"–"मयि सर्वमिदं प्रो सूत्रे मणिगणा इव"-"परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः पर"–"गतिर्भर्त्ताप्र साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम्"-"यो लोक यमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः"–"भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः" "मय ध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्" "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते"** इत्या रूप से गीताशास्त्र ने स्पष्ट शब्दों में अव्ययात्मा को ही इतर आत्मप्रपञ्च की मूलप्रतिष्ठा ब लाया **है** । वास्तव में कोशात्मक अव्ययब्रह्म सर्वालम्बन है । अव्यय के सुप्रसिद्ध वे पांचों को **आनन्द-विज्ञान-मन प्राण-अन्न** (तै०उप०ब्र०व०) नामों से प्रसिद्ध है । पञ्चकल अक्षरात्मा,

पञ्चकल क्षरात्मा दोनोंकी प्रतिष्ठा यही पञ्चकल अव्यय है । **अक्षरब्रह्मा**, एवं **क्षरप्राण** अव्यय के आनन्दमयकोश से गृहीत हैं। **अक्षरविष्णु**, एवं **क्षरआप** अव्यय के विज्ञानमयकोश से गृहीत है । **अक्षरइन्द्र**, एवं **क्षरवाक्** अव्यय के मनोमयकोश से संगृहीत हैं । **अक्षरसोम**, एवं **क्षर अन्न** अव्यय के अन्नमयकोश में अन्तर्भूत हैं । **अक्षर, अग्नि**, एवं **क्षर-अन्नाद** अव्यय के प्राणमयकोश में अन्तर्भुक्त हैं । इसप्रकार अक्षर–क्षर दोनों पञ्चकल अव्यय से सगृहीत है । यदि सर्वालम्बन अव्यय को पकड़लिया तो बाकी क्या रह गया । सर्वालम्बन अव्यय की इसी सर्वता, किंवा पूर्णता का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है–

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् । (कठ० १।२।१७) ।

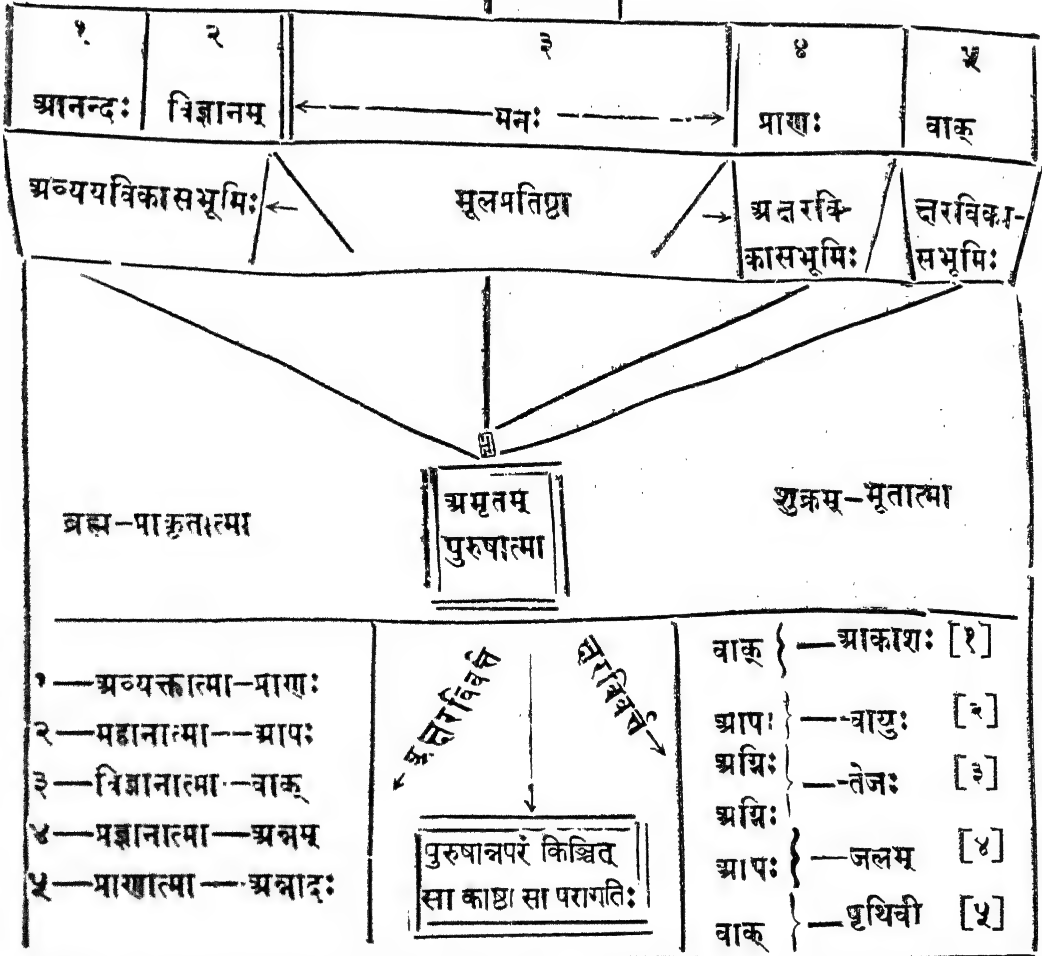
अपिच आत्मा के ***अमृत–ब्रह्म–शुक्र** यह तीन विवर्त्त मानें गये हैं। **वाक्–आप अग्नि** यह तीन शुक्र हैं। शुक्रत्रय की समष्टि ही **भूतात्मा** है। **प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद** यह पांचों बहिरङ्ग प्रकृतियों की समष्टि **ब्रह्म** है । प्राणब्रह्म **अव्यक्तात्मा है**, आपोब्रह्म **महानात्मा** है, वाग्ब्रह्म **विज्ञानात्मा** [बुद्धि] है, अन्नब्रह्म प्रज्ञानात्मा [मन] है, एवं अन्नादब्रह्म **प्राणात्मा** (कर्म्मात्मा–जीवात्मा–शारीरकआत्मा) **है** । अव्यय, अक्षर, क्षर की समष्टि **अमृतम् है** । अमृतात्मा **पुरुषात्मा**, किंवा **पुरुष** है । ब्रह्मात्मा **प्राकृतात्मा** किंवा **प्रकृति है** । एवं शुक्रात्मा **वैकारिकआत्मा**, किंवा **विकृति है** । शुक्ररूप वैकारिक आत्मा, किंवा भूतात्मा की प्रतिष्ठा अमृतात्मा का क्षर भाग है–"**क्षरः सर्वाणि भूतानि**" । ब्रह्मरूप पांचों प्राकृतात्माओं की प्रतिष्ठा अमृतात्मा का अक्षरभाग है–"**अक्षरं ब्रह्म परमम्**" । स्वयं अमृतात्मा अव्ययप्रधान है । आनन्द विज्ञान–मनोमूर्ति ज्ञानात्मा अव्यय स्वयं अपनी प्रतिष्ठा **है**–"**स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः**" । इस ज्ञानात्मक अव्यय से युक्त प्राणमूर्त्ति अव्यय अक्षर का प्रवर्त्तक है, एवं वाङ्मूर्ति अव्यय क्षर का

---

* इन तीनों विवर्त्तों का विशद वैज्ञानिक विवेचन **ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य** (प्रथमखण्ड) में देखना चाहिए।

प्रवर्त्तक है। इसप्रकार अन्ततोगत्वा वही अव्यय अमृत है, वही अव्यय ब्रह्म है, वही अव्यय शुक्र है। अमृत–ब्रह्म–शुक्रात्मक अव्यय में सब कुछ अन्तर्भूत है। जिसने अव्यय को पहिचान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। अव्यय की इसी पूर्णता को लक्ष्य में रखकर महर्षि कठ कहते हैं—

> "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
> तदेवशुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते।
> तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन। एतद्वै तत्"
> (कठोप० ५।१)।



अपिच अव्ययनिरूपक गीताशास्त्र ने–"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च"–"इन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसस्तु परा बुद्धिः" इत्यादि रूप से स्पष्टशब्दों में इतरखण्डात्माओं पर भी पूर्ण प्रकाश डालते हुए अपनी सर्वशास्त्रता को सर्वात्मना चरितार्थ किया है। यही स्थिति बुद्धियोग की है। भगवान् ने बड़े विस्तार के साथ ज्ञान-भक्ति-कर्म्म तीनों योगों का निरूपण करते हुए, तीनों में संशोधन कर, इन्हें बुद्धियोग का बाना पहिनाया है। भगवान् की दृष्टि में तीनों ही योग स्वतन्त्र रहते हुए ज्ञान-कर्म्म की विषमता के कारण श्रेयोभाव के स्थान में प्रेय के ही कारण बनते हैं। इन की विषमता समत्वमूलकशान्तिभाव की महाविरोधिनी है। इसीलिए भगवान् ने तीनों का समन्वय करते हुए अपूर्वबुद्धियोग का स्वरूप हमारे सामने रक्खा है। जो अन्यत्र है, वह तो यहां है ही, परन्तु जो अन्यत्र नहीं है, वह भी यहां विद्यमान है। इस प्रकार आत्माओं में अव्ययात्मा को, योगों में बुद्धियोग को अपना प्रधान लक्ष्य बनाता हुआ गीताशास्त्र इतर शास्त्रों में प्रतिपादित आत्म-योगों का संग्रह करता हुआ अवश्य ही पूर्ण शास्त्र है।

आत्मविद्या ब्रह्मविद्या है, यही ज्ञानसम्पत् है। बुद्धियोग योग है, यही कर्म्मसम्पत् है। चतुर्विध आत्मविद्या की दृष्टि से गीता **ब्रह्मविद्याशास्त्र** है, एवं चतुर्विधबुद्धियोग की दृष्टि से गीता **योगशास्त्र** है। गीता दोनों का निरूपण कर रही है। इसीलिए अध्यायोपसंहार में–"इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" यह उद्धृत रहता है। यह अध्याय समाप्ति सूचक वचन भी गीता की इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता ही सिद्ध कर रहा है।





६-विज्ञानगीता का विषय विभाग

॥ श्रीः ॥

६–विषयविभागप्रदर्शन

गीताशास्त्र की इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता बतलाते हुए पूर्व के प्रकरण में हमने आत्मशास्त्रों को **वैशेषिक, प्राधानिक, शारीरक** इन तीन भागों में विभक्त बतलाया है- देखिए ८ प्रकरण पृष्ठ सं० १४८ से १६७ तक । यदि वास्तविक दृष्टि [विज्ञान-दृष्टि] से विचार किया जाय तो इन तीनों शास्त्रों में से हम शारीरकशास्त्र (वेदान्तदर्शन) को ही प्रधानरूप से आत्मशास्त्र कहेंगे । कारण इसका यही है कि वैशेषिकशास्त्र क्षरात्मा का निरूपण करता है, एवं प्राधानिकशास्त्र क्षरविशिष्ट अक्षरात्मा का निरूपण करता है । इन दोनों में क्षर तो मुख्य आत्मा किसी भी दृष्टि से नहीं माना जासकता । रहा क्षरयुक्त अक्षर । यह भी प्रकृतिभाव के कारण व्यापक आत्मा की विभूति से वञ्चित रहता हुआ आत्ममर्य्यादा से बहिर्भूत ही है । इसीलिए सांख्यने प्रतिशरीरमें भिन्न भिन्न आत्मा माना है । क्षरयुक्त अक्षर वास्तव में प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है । यही **शारीरक** (शरीराभिमानी) आत्मा है । इस दृष्टि से सांख्य का प्रतिशरीरभिन्नतालक्षण आत्मभेद सर्वथा सुव्यवस्थित है । यही आत्मा सुख–दुःख–पुण्य-पाप उच्च–नीच आदि द्वन्द्वभावों का अधिकारी है । इसी शारीरक आत्मा के साथ एक प्रत्यगात्माका और सम्बद्ध रहता है । यह सर्वत्र समानरूप से, एकरूप से प्रतिष्ठित है । इसी को साक्षी कहा जाता है । सांख्यदर्शन जहां क्षररूपभूतात्मा को उद्देश्य बनाकर अक्षररूप शारीरक-आत्मा का विधान करता है, वहां शारीरकतन्त्र इस शारीरकआत्मा को उद्देश्य बनाकर इसके स्थान में सर्वत्र समरूप से व्याप्त प्रत्यगात्मा का विधान करता है ।

पदार्थों में परस्पर में जो भेद देखा जाता है, वही तत्तत् पदार्थों की विशेषता है । अणुभेद ही विशेषता का कारण है । भौतिक अणु, किंवा परमाणुओं की विशेषता ही भूत-भौतिकरूप पदार्थों की विशेषता है । चूंकि कणाददर्शन इसीका निरूपण करता है, अतएव इसे (विशेषभाव प्रवर्त्तक अणुवाद के कारण) **वैशेषिकशास्त्र** कहागया है ।

क्षरकूट ही विशेष है। इस विशेष का अध्यक्ष अक्षर है। परमाणुओं को एक सूत्र में बांधकर उन्हें पिण्डरूप देना इसी अक्षर का काम है। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में बैठाहुआ यही अक्षर अपनी प्राणशक्ति से उस पदार्थ के क्षरकूट का नियमन किया करता है, अतएव इस विधर्त्ता अक्षर को **अन्तर्यामी** कहाजाता है, जैसा कि **"तस्य वा एतस्य अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः"** [शत० १४।६।८।] इत्यादि से स्पष्ट है। अक्षर की इसी कूटस्थता को लक्ष्य में रखकर—**"कूटस्थोऽक्षर उच्यते"** यह कहा गया है। यह कूटस्थ अक्षर ही विश्व का कारण है। क्षरकूटरूप विश्व कार्य है। इस कार्य की पूर्वावस्था कारणरूप अक्षर ही है। अव्यक्त अक्षर ही व्यक्तविश्व का निर्माता बनता है, जैसाकि— **"अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे"** इस सिद्धान्त से स्पष्ट है। इसी कारणता को सूचित करने के लिए अक्षर को **प्रकृति** (कृतेः प्राक्—कृतेः कार्यस्य पूर्वावस्था) कहा गया है। विश्वरचना में इसी की प्रधानता है। अतएव इसे **प्रधान** कहा जाता है। **अक्षर—अव्यक्त—प्रकृति—प्रधान** सब शब्द प्रायः समानार्थक हैं। यही अक्षर पराप्रकृति है। **"जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत्"** इस सिद्धान्त के अनुसार यही अक्षरप्रकृति प्रतीशरीरभिन्न जीवात्मा की स्वरूपसमर्पिका बनती है। सांख्यशास्त्र का लक्ष्य प्रकृतिरूप, किंवा अक्षररूप यही जीवात्मा है। अतएव इस शास्त्र को **"प्राधानिकदर्शन"** कहा गया है।

अक्षर का आलम्बन अव्यय है। अव्यय की प्रतिच्छाया, किंवा प्रतिबिम्ब ही आध्यात्मिक ईश्वर है। इसी आध्यात्मिक ईश्वर को प्रत्यगात्मा कहा जाता है। प्रत्यगात्मा शरीर में रहता हुआ भी अपने विभूतिभाव के कारण असङ्ग है। यह किसी आध्यात्मिकद्वन्द्व से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता। **"असङ्गोऽयं पुरुषो, न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति"** **"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे"** इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त प्रमाणों के अनुसार वास्तव में यह द्वन्द्वातीत है। यही देहस्थित, किन्तु देहाभिमानशून्य पर पुरुष है, जैसाकि—**"उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः"** इत्यादि से स्पष्ट

है। वेदान्तदर्शन शारीरक को उद्देश्य मानकर उसके स्थान में अद्वयलक्षण इसी प्रत्यग्ब्रह्म का विधान करता है। चूंकि इसका प्रधान उद्देश्य शारीरक का कल्याण करना है, अतएव इस दर्शन को **शारीरकदर्शन** कहा गया है।

पूर्व के ८ वें प्रकरण में हमनें शारीरक को अक्षरप्रतिपादक बतलाया था। एवं यहां प्रत्यगात्मलक्षण अव्ययप्रतिपादक बतला रहे हैं। इसमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिए। शारीरक अव्यय का निरूपण करता है, परन्तु अध्यात्मदृष्टि से। अध्यात्म का अक्षरसे सम्बन्ध है। "**अक्षरधिया०**"इत्यादि शारीरक सिद्धान्त के अनुसार इसमें अव्ययको अक्षर का रूप दे-दिया गया है। बिना अक्षर सम्बन्ध के शारीरकशास्त्र का विजिज्ञास्य ब्रह्म पदार्थ '**जन्माद्यस्य-यतः**" के अनुसार कभी जन्म-स्थिति-भंग का कारण नहीं बनसकता। अव्ययब्रह्म अक्षरप्रकृति के साथ युक्त होकर ही जन्मादि का कारण बनता है। इसी प्रकृतिभाव को सूचित करने के लिए व्यासने आगे जाकर—"**तत्तुसमन्वयात्**" यह कहा है। चूंकि अक्षरद्वारा इसने अव्ययात्मा का निरूपण किया है, इसलिए तो हम इसे अक्षरशास्त्र कह सकते हैं। साथ ही में अक्षर-द्वारा यह तटस्थ बुद्धि से हमारा ध्यान प्रत्यगात्मलक्षण अव्यय की ओर भी आकर्षित कर रहा है, इसलिए हमने इसे यहां अव्ययशास्त्र कह दिया है। समष्टिरूप से शारीरकशास्त्र अव्ययुक्त अक्षरशास्त्र है, प्राधानिकशास्त्र अक्षरशास्त्र है, एवं वैशेषिकशास्त्र क्षरशास्त्र है। तीनों में अव्यय ही मुख्य आत्मा है। गौणरूप से ही सही, परन्तु शारीरकनें अव्यय का स्पर्श अवश्य किया है। ऐसी दशा में इन तीनों शास्त्रों में शारीरकशास्त्र को ही हम प्रधानरूप से **आत्मशास्त्र** कहने के लिए तय्यार हैं।

शारीरकशास्त्र के अतिरिक्त आत्मा का निरूपण करनेवाली स्मार्त्तीउपनिषत्, एवं श्रौतीउपनिषत् और बचजाती हैं। स्मार्त्तीउपनिषत् **गीता है**, श्रौतीउपनिषत् **ईश-केन-कठा-दि** नाम से प्रसिद्ध वेद का अन्तिम भाग है। इस प्रकार आत्मा का निरूपण करनेवाले हमारे सामने **शारीरकदर्शन-गीता-उपनिषत्** यह तीन शास्त्र उपस्थित होते हैं। इन तीनों में से [किसी कारण विशेष को लक्ष्य में रख कर] हमनें मध्यस्थ गीताशास्त्र को ही इतर आत्म-

शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पूर्ण, एवं विलक्षण कहा है ।

आत्मस्वरूप की चरमसीमा पर पहुंचने वाले वैज्ञानिकों ने आत्मस्वरूप ज्ञान के सम्बन्ध में हमारे सामने **ज्योति-वीर्य्य-अन्न** यह तीन तत्व रक्खे हैं । इन तीन तत्वों के सम्बन्ध से एक ही आत्मा की अनेक, किंवा प्रधानरूप से तीन संस्थाएं बनजातीं हैं । **ज्ञानतत्व**, किंवा **चित्**तत्व का ही नाम **ज्योति**[1] है । **बल-प्राण-क्रिया** आदि विविधनामों से प्रसिद्ध **गतितत्व** का ही नाम **वीर्य्य**[2] है । मायाबल की कृपा से उद्भूत, **मायायुक्त**[1] **कला**[2]-**गुण**[3]-**विकार**[4]-**अञ्जन**[5]-**आवरण**[6] की समष्टि ही **अन्न**[3] है । दूसरे शब्दों में यों समझिए कि ज्ञानरूप ज्योति की विकृतावस्था ही गतिरूप वीर्य्य है, एवं बलरूप वीर्य्य की विकृतावस्था ही मायाकलादिरूप अन्न है ।

उक्त तीनों तत्वों में से **रसलक्षण** ज्योति, एवं **बललक्षण** वीर्य्य, इन दोनों की समष्टि तो विशुद्ध आत्मा है । यह विशुद्ध आत्मा सर्वथा निर्गुण, परिग्रहशून्य, अतएव शास्त्रानधिकृत है । यही मुख्य आत्मा है । तीसरा अन्नतत्व आत्ममर्य्यादा से सर्वथा बहिष्कृत है । इसी को **आत्मवित्त**, किंवा **आत्मपरिग्रह** कहा जाता है । चूंकि यह परिग्रह आत्मा का भोग्य है, एवं भोग्य पदार्थ को ही विज्ञानभाषा में अन्न कहा जाता है, अतएव हम इस परिग्रह को अवश्य ही "**अन्न**" शब्द से सम्बोधित करने के लिए तय्यार हैं ।

अन्नरूप यह आत्मपरिग्रह **अन्तःपरिग्रह**, **बहिःपरिग्रह** भेद से दो प्रकार के माने गए हैं । **माया-कला-गुण** यह तीन तो अन्तःपरिग्रह हैं, एवं **विकार**, **आवरण**, **अञ्जन** यह तीन बहिःपरिग्रह हैं । मायादि तीनों अन्तःपरिग्रह आत्मा के **स्वरूपधर्म्म** कहलाते हैं, एवं विकारादि तीनों बहिःपरिग्रह आत्मा के **आश्रितधर्म्म** कहलाते हैं । स्वरूपधर्म्मावच्छिन्न ज्योति-वीर्य्यलक्षण वह विशुद्ध आत्मा सोपाधिक बनता हुआ-"**सगुणआत्मा**" कहलाने लगता है, एवं आश्रितधर्म्मावच्छिन्न वही सगुणआत्मा "**सर्वधर्म्मोपपन्न**" नाम से व्यवहृत होने लगता है । इस प्रकार अन्न, किंवा परिग्रह द्वैविध्य से सविशेष, किंवा सोपाधिक आत्मा के दो विवर्त्त होजाते हैं । तीसरा एक विवर्त्त सर्वथा स्वतन्त्र निरुपाधिक बचजाता है । समष्टि-

रूप से ज्योति-वीर्य्य अन्न के सम्बन्धतारतम्य से निरुपाधिक, सोपाधिकसगुण, सोपाधिकसर्वधर्म्मोपपन्न यह तीन आत्मसंस्थाएं हो जातीं हैं। तीनों में निरुपाधिक आत्मा पर शब्द की गति असम्भव है। फलतः उस का निरूपण करना शब्दशास्त्र के लिए असम्भव है। शेष रहते हैं सोपाधिक दोनों विवर्त्त। जो शास्त्र इन दोनों का, अथवा दोनों में से एक का निरूपण करता है, उसी को आत्मशास्त्र कहा जाता है।

१—ज्योतिः—ज्ञानम् (रसः)
२—वीर्य्यम्—क्रिया (बलम्) } → निर्विशेष आत्मा–परात्परः–परमेश्वरः १

३—अन्नम्—अर्थः (विकृतिः) } → सविशेष आत्मा–विश्वेश्वरः-प्रजापतिः २

स्वरूपधर्म्माः { १—माया, २—कलाः, ३—गुणाः } → अन्तःपरिग्रहात्मकमन्नम् (अन्तर्वित्तम्)

आश्रितधर्म्माः { १—विकाराः, २—आवरणानि, ३—अञ्जनानि } → बहिःपरिग्रहात्मकमन्नम् (बहिर्वित्तम्)

(दोनों मिलकर) —षाट्कौशिकमन्नम्

निर्विशेषः { १—सर्वविधधर्म्म-(स्वरूपाश्रितधर्म्म)-विरहितः → निर्गुण आत्मा-(विश्वातीतः)

सविशेषः { २—अन्तरङ्गपरिग्रहात्मकस्वरूपधर्म्मावच्छिन्नः → सगुण आत्मा—(विश्वात्मा)।
३—बहिरङ्गपरिग्रहात्मकाश्रितधर्म्मावच्छिन्नः → सर्वधर्म्मोपपन्नः-(विश्वमूर्त्तिः)। }

उक्त ६ ओं परिग्रहों के सम्बन्ध की विलक्षणता का यदि विचार किया जाय तो सविशेष आत्मा के ६ विवर्त्त हो जाते हैं। इन ६ आत्मविवर्त्तों में चार तो प्रजापति विवर्त्त हैं, एवं दो पुरुषविवर्त्त हैं। साथ ही में इतना और ध्यान रखिए कि उत्तर उत्तर के आत्मविवर्त्त के साथ पूर्व पूर्व के आत्मविवर्त्त का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि

उक्त सात आत्मविवर्त्तों में से परात्पर नाम के पहिले निर्गुण आत्मा का तो शब्दशास्त्र से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। शेष ६ ओं आत्मविवर्त्तों का शास्त्रों में बड़े विस्तार के साथ निरूपण हुआ है। जिन शास्त्रोंनें इन ६ आत्मसंस्थाओं का निरूपण किया है, वे ही आज दिन भारतवर्ष में (विज्ञान सम्प्रदाय में) **आत्मशास्त्र** नाम से प्रसिद्ध हैं। देखना यह है कि किस आत्मशास्त्रने किस आत्मविवर्त्त का विशेष रूप से निरूपण किया है।

ऋक्, यजुः, साम, अथर्व (शाखासहित) इन चारों वेदों की समष्टिरूप **मन्त्रसंहिताभाग**, एवं विधि नाम का ब्राह्मणभाग प्रधानरूप से प्रजापतिलक्षण **सर्वधर्म्मोपपन्न** आत्मा का निरूपण करता है। **विश्व, विराट्, यज्ञ,** इन तीन प्रजापतियों की समष्टि ही **"सर्वधर्म्मोपपन्नआत्मा"** है। वेदने (मन्त्र और विधिभाग ने) इस आत्मा के विश्व-विराट्-यज्ञ तीनों का सुविशद निरूपण किया है। यही तीन प्रजापतिसंस्थाएं इसके प्रधान उद्देश्य हैं। इन तीनों को उद्देश्य मान कर तीनों के स्थान में सगुण आत्मा के अन्तिमपर्व रूप गुणात्मक **सत्यप्रजापति** का विधान करना ही इस वेद भाग का मुख्य उद्देश्य है। दूसरे शब्दों में विश्व का सम्यक् निरूपण कर इस की ओर से हमारे कर्म्मात्मा को विराट् की ओर, विराट् से यज्ञ की ओर, एवं यज्ञ से सत्य की ओर लेजाना ही इस शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है। **"सत्यप्रजापति कैसे यज्ञप्रजापतिरूप में परिणत होजाता है?"-"यह यज्ञप्रजापति कैसे विराट्प्रजापति की उत्पत्ति का कारण बनगया?" "विराट् प्रजापति से सम्पूर्ण विश्व कैसे उत्पन्न होगया"?-"एवं विराट् से उत्पन्न विश्व का क्या स्वरूप है?"-इस प्राजापत्य विज्ञान से हम कैसे क्या लाभ उठा सकते हैं?"** इन सब प्रश्नों का सम्यक् समाधान करता हुआ यज्ञ द्वारा **यह शास्त्र हमें** सत्य पर प्रतिष्ठित कर देता है। चूंकि इसमें प्रजापतिविवर्त्त की ही प्रधानता है, अतएव हम इसे **"प्रजापतिशास्त्र"** किंवा **"प्राजापत्यशास्त्र"** कह सकते हैं। वेद के इस भाग का प्रधान निशाना प्रजापति ही है। इसी भाव को व्यक्त करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥
(यजुः० सं० २३.६५)

दूसरा है सगुण आत्मा। इसके **पुरुष-षोडशी-सत्य** यह तीन विवर्त्त हैं। स्वरूप-धर्म्मोत्पन्न [माया-कला-गुणपरिग्रहधर्म्मोत्पन्न] आत्मा का निरूपण **आरण्यक** गर्भित वेद के **उपनिषत्** भागने किया है उपनिषच्छास्त्र सगुण आत्मा को अपना मुख्य उद्देश्य मानता हुआ अवश्य ही **"सगुण आत्मशास्त्र" है**। यह शास्त्र सत्य-षोडशी-पुरुष [क्रमशः अधिकारी भेद से] इन तीनों सगुणात्मसंस्थाओं को उद्देश्य मानकर, इनके स्थान में उस निर्गुण, विश्वातीत परात्पर का विधान करता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि यह हमारे कर्म्मात्मा को सत्य से षोडशी पर लेजाता है, षोडशी से विशुद्ध अव्ययपुरुष पर लेजाकर छोड़ देता है। वहां पहुंचे बाद [अव्यय को प्राप्त किए बाद] बिना प्रयास के अपने आप यह पुरुष उस परात्पर में लीन होजाता है। उपनिषत् स्वयं पुरुष को परात्पर पर पहुंचाने में असमर्थ है। क्योंकि शब्दात्मक उपनिषत् शास्त्र की वहां गति नहीं है। यह तो पुरुष पर पहुंचा मात्र देता है। परात्पर के सम्बन्ध में इस की ओर से **"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमैवेष वृणुते तेन लभ्यः"** यही उत्तर मिलता है।

इस प्रकार मन्त्र-विधि, आरण्यक-उपनिषत् रूप वेदशास्त्र द्वारा सम्पूर्ण आत्मविवर्त्त गतार्थ बन जाते हैं। मन्त्र-विधिभाग अज्ञान-आवरण-विकार परिग्रहयुक्त सर्वधर्म्मोत्पन्न आत्मा का निरूपण कर डालता है, एवं आरण्यक-उपनिषत् भाग गुण-कला-माया परिग्रहयुक्त सगुण आत्मा का निरूपण कर डालता है। आत्मसम्बन्ध में दो ही निरूपणीय विषय थे, एवं दोनों का ही **मन्त्र-विधि-आरण्यक-उपनिषत्** रूप वेदभागने निरूपण कर डाला। अब बाकी क्या रहा। तभी तो इस अपौरुषेय शास्त्र के सम्बन्ध में—'सर्वं **वेदात्** प्रसिद्ध्यति" [मनु० १२।९७) यह प्रसिद्ध है।

जब कि आत्मा के सम्बन्ध में अपेक्षित जिज्ञासा उक्त रूप से वेद से ही पूरी हो जाती है तो प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इतरशास्त्रों का क्या उपयोग ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में **"आत्म-परीक्षा"** शब्द को ही हम पाठकों के सम्मुख उपस्थित करेंगे। वैदिकसाहित्यने आत्मा का जो स्वरूप बतलाया है, उसे सर्वसाधारण के लिए सुगम बनाने के लिए ही इतर आत्मशास्त्रों की प्रवृत्ति हुई

सम्बोधित करते हैं, ठीक उसी अर्थ में मीमांसा शब्द प्रयुक्त हुआ है । दर्शन जहां ज्ञानप्रधान है, वहां मीमांसा विज्ञानप्रधान है । दर्शन शास्त्र जहां फिलॉसफी [Phelashapy] है, वहां मीमांसाशास्त्र सायन्स [Saienc] है । सुप्रसिद्ध मीमांसा [पूर्वमीमांसा] दर्शन ने अपने १२ अध्यायों से आत्मा की विज्ञानदृष्टि से परीक्षा की है, अतएव इसे हम विज्ञानयुक्तआत्मपरीक्षाशास्त्र कह सकते हैं ।

इन सब के अन्त में गीताशास्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है । सर्वमूलभूत जिस मायी अव्यय पुरुष पर पूर्व के किसी आत्मशास्त्र, किंवा आत्मपरीक्षाशास्त्र ने विशेषरूप से प्रकाश न डाला था, गीता ने प्रधानरूप से उसी अव्ययपुरुष को अपना प्रधान लक्ष्य बनाया है । सब से बड़ा महत्त्व तो इस शास्त्र का यह है कि आत्मशास्त्रों नें जिन विषयों का निरूपण किया है, एवं आत्मपरीक्षकशास्त्रों नें जिन विषयों की परीक्षा की है, अव्ययनिरूपण के साथ साथ उन सब का भी गीता शास्त्र में समावेश हुआ है । इसीलिए तो वेदवत् हम इसे सर्वशास्त्र कहते हैं । इसीलिए तो वेद न होने पर भी इसे उपनिषत् शब्द से सम्बोधित किया गया है । निम्न लिखित श्लोकों पर दृष्टि डालते जाइए, एवं गीता की महत्ता का यशोगान करते जाइए, समाधान हो जायगा ।

१—विश्वप्रजापतिनिरूपक वचन

१—मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि नचाहं तेष्ववस्थितः ॥ [९।४] ।

२—भूमिरापोनलोऽवायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ [७।४] ।

—— ० ——

२—विराट्प्रजापतिनिरूपक वचन

१—एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ [११।३] ।

२—इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ (११।७)

३—यज्ञप्रजापतिनिरूपक वचन

१—सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनने प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ गी० [३।१०]

२—कर्म्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ [३।१५] ।

४—सत्यप्रजापतिनिरूपक वचन

१—प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ १६।७ ।

२—असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥ १६।८ ।

षोडशीनिरूपक वचन

१—द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १५।१६ ।

२—उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १५।१७ ।

६—अव्ययपुरुषनिरूपकवचन

१—गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ (९।१८।)

२—उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ (१३।२२।)

आत्मशास्त्र के अतिरिक्त दर्शन ने जिस ज्ञानदृष्टि से आत्मा की परीक्षा की है, एवं मीमांसा ने जिस विज्ञानदृष्टि से आत्मा की परीक्षा की है, उन दोनों का भी—"ज्ञानतेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः । यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते" इत्यादि रूप से गीता में पूर्ण समावेश है । ऐसी अवस्था में यदि हम गीताशास्त्र को (सर्वसम्मिश्रण के कारण) सर्वशास्त्र कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी । फलतः वेद (मन्त्रभाग, एवं विधिभाग), वेदान्त [आरण्यकभाग, एवं उपनिषत्भाग], दर्शन [३ आस्तिकदर्शन, ३ नास्तिक दर्शन], मीमांसा, गीता भेद भिन्न इन पांचों आत्मशास्त्रों, एवं आत्मपरीक्षाशास्त्रों में गीता की ही सर्वोत्कृष्टता सिद्ध होती है ।

१—वेदशास्त्रम् (मन्त्र-विधिभागात्मकम्)—→ आत्मशास्त्रम् ।

१-सत्यप्रजापतिः } — सगुणावयवः-विधेयः

१— { [विकारयुक्तः] १-यज्ञप्रजापतिः; [आवरणोपेतः] २-विराट्प्रजापति; [अञ्जनोपेतः] ३-विश्वप्रजापतिः } — सर्वधर्म्मोपपन्नः-उद्देश्यः

} सर्वधर्म्मोपपन्नात्मशास्त्रम्

२—वेदान्तशास्त्रम् (आरण्यक-उपनिषद्भागात्मकम्) आत्मशास्त्रम्।

१—परात्परः — निर्गुणः—विधेयः

२— [मायोपेतः] १—पुरुषः
[कलोपेतः] २—षोडशी
[गुणोपेतः] ३—सत्यप्रजापतिः
— सगुणः—उद्देश्यः

— सगुणात्मशास्त्रम्।

———०———

३—दर्शनशास्त्रम् (षड्दर्शनशास्त्रम्) आत्मपरीक्षणशास्त्रं-ज्ञानप्रधानम्

आस्तिकदर्शनम्

१—शारीरकदर्शनम् — अव्ययगर्भिताक्षरपरीक्षाशास्त्रम् — षोडशीशास्त्रम्
२—प्राधानिकदर्शनम् — अक्षरपरीक्षाशास्त्रम् — सत्यप्रजापतिशास्त्रम्
३—वैशेषिकदर्शनम् — क्षरपरीक्षाशास्त्रम् — विराट्-यज्ञप्र॰शास्त्रम्

नास्तिकदर्शनम्

१—स्याद्वाददर्शनम्
२—वैनाशिकदर्शनम्
३—लौकायतिकदर्शनम्
— विकारक्षरपरीक्षाशास्त्रम्— विश्वप्रजापतिशास्त्रम्

———०———

४—मीमांसाशास्त्रम्

आत्मपरीक्षणशास्त्रं—विज्ञानप्रधानम्।

———:०:———

५—गीताशास्त्रम्

अव्ययब्रह्मविद्यात्मकं बुद्धियोगशास्त्रम् ।
ज्ञान–विज्ञानमयं *सर्वशास्त्रम् ॥

—————:०:—————

महाभारत नाम के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ से पृथक् करके निकाला हुआ **अर्जुन** के प्रति उपदिष्ट भगवान् **कृष्ण** का उपदेशसंग्रहात्मक शब्द प्रपञ्च ही **गीताशास्त्र** है । इस ग्रन्थ में ७०० श्लोक हैं । इन श्लोकों के रचयिता भगवान् **कृष्णद्वैपायन** हैं । गीताप्रतिपादित ऐतिहासिक विषय को छोड़ कर शेष सम्पूर्ण वैज्ञानिक विषय चूंकि भगवान् कृष्ण की मौलिक सम्पत्ति है, अतएव इतिहास मर्य्यादा से सीमित बनता हुआ भी, एवं श्लोकदृष्ट्या व्यास की रचना बनता हुआ भी यह शास्त्र "**भगवद्गीतोपनिषत्**" नाम से ही प्रसिद्ध हुआ ।

महाभारत समर के उपक्रम में क्लैब्यभावापन्न अर्जुन को स्वधर्मशिक्षण के लिए १६० उपदेशात्मिका जिन २४ उपनिषदों का भगवान्ने उपदेश दिया था, उन का व्यास ने अपनी प्राञ्जल भाषा द्वारा उपबृंहण किया है । भगवदुपदेशों का वही उपबृंहितरूप विद्वत् समाज में गीताशास्त्र नाम से प्रसिद्ध है । जिसप्रकार श्रौती उपनिषत् संकुचित अर्थ को वितत करने के कारण "**गीता**" कहलाई है, एवमेव महाभारतान्तर्गत व्यास विरचित श्लोकसंग्रहात्मिका इस उपलब्ध गीता को हम उस भगवद्गीता की गीता कहने के लिए तय्यार हैं । संकुचित अर्थका विस्तार ही उसका उपबृंहण है । कृष्णने जिस संक्षेप भाषा में थोड़े ही समय में जिस गीतारहस्य का उपदेश दे डाला था, उसको इतना शीघ्र समझ लेने का अधिकारी तो एकमात्र अर्जुन ही था । यदि व्यासदेव हमारे सामने अपनी पद्यरचना के द्वारा गीता का उपलब्ध विस्तृत रूप न रखकर उस संक्षिप्त भाषा की पुनरावृत्ति न करते तो गीता हमारे लिए एक जटिल समस्या बन जाती ।

---

*सर्वशास्त्रमयी गीता, सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा, सर्ववेदमयो मनुः ॥ [म०भी०३३। अ०।२श्लोक]।

आज कितने एक मनचले सज्जन यह मीमांसा किया करते हैं कि "जिस समय कुरुक्षेत्रके उस विशाल प्राङ्गण में महासमर की तैय्यारिएं हो रहीं हों, युद्धोपकरणों की तुमुलध्वनियों से जहां का वातावरण सर्वथा अशान्त बना हुआ हो, स्वयं श्रोता (अर्जुन) जहां युद्ध के भावी परिणाम से शोकग्रस्त बना हुआ हो, ऐसे विषम समय में गीता जैसे उस अगाध ज्ञान का उपदेश देने के लिए भगवान् को अवसर मिल गया, यह बात असम्भव सी प्रतीत होती है। मालूम होता है, व्यासदेव ने ही अध्यात्मविद्या के शिक्षण के लिए भगवान् के नाम से अपने ऐतिहासिक ग्रन्थ में इस का समावेश कर दिया है।"

कहना न होगा कि ऐसी कुबुद्धियों का आर्य्यसन्तान की दृष्टि में कोई महत्व नहीं है। ऐसी समालोचनाएं आर्य्यसाहित्यानभिज्ञ एक अनार्य के हृदय में हीं स्थान पा सकतीं हैं। यदि कृष्ण हमारे जैसे सामान्य पुरुष होते, अथवा अर्जुन यदि हमारे जैसा ही मन्दबुद्धि होता तो काल्पनिकों की उक्त कल्पना को यथाकथंचित् अवसर मिल सकता था। परन्तु उन कुतर्कियों को यह नहीं भुला देना चाहिए कि कृष्ण जहां साक्षात् नारायण के अवतार होने से अलौकिक पुरुष थे, वहां अर्जुन नर का प्रत्यंश था। जो कृष्ण अपनी योगमाया द्वारा ६ मास की अवस्था में शकटासुर का वध कर सकते हैं, जो कृष्ण अपनी जन्मसिद्ध योगसिद्धिद्वारा गिरिवर को उठा सकते हैं, जो कृष्ण ब्रह्मा का व्यामोहन कर सकते हैं, जो कृष्ण अपने विराट्रूपप्रदर्शन से दुर्बुद्धि दुर्योधन को त्रस्त कर सकते हैं, जो कृष्ण एक ही समय में १६ सहस्र पट्टरानियों के साथ रहते हुए भक्तवर नारद को आश्चर्य में डाल सकते हैं, जो कृष्ण योगमायाद्वारा सूर्य्यास्त कर अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी करवा सकते हैं, उन के लिए किसी भी प्रकार की मानवधर्म्म सम्बन्धिनी कुशङ्का उठाना अपने आप को प्रायश्चित का भागी बनाना है। अवश्य ही युद्धावसर पर भगवान् ने गीता का उपदेश दिया था। हां हम इस सम्बन्ध में आर्यसंस्कृतिरक्षक भगवान् व्यास के प्रति कृतज्ञता प्रकट किए बिना नहीं रह सकते, जिन्होंने कि अपनी योगजदृष्टि से उस उपदेश को अपने अन्तःकरण में प्रतिष्ठित कर अपनी लोकोत्तर वाणी से पद्य रूप में हम तक पहुंचाने का अनुग्रह किया।

गीताग्रन्थ चूंकि इतिहासग्रन्थ के मध्य की वस्तु है, अपनी इस ऐतिह्यमर्य्यादा को सुरक्षित रखने के लिए ही भगवान् व्यास ने विज्ञानगीता में अपनी ओर से कुछ एक ऐतिहासिक श्लोकों का समावेश करना आवश्यक समझा है। इसी दृष्टि से गीताग्रन्थ के इन ७०० श्लोकों को हम इतिहास-विज्ञान भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। ६४ श्लोकों का इतिहास से सम्बन्ध है, एवं शेष ६३६ श्लोकों का विज्ञान से सम्बन्ध है। आरम्भ के ६४ श्लोक गीताविषय की उत्थानिका है। "गीतोपदेश की आवश्यकता क्यों? कब? एवं किसके प्रति हुई? इन प्रश्नों के समाधान के लिए ही मौलिक विषय से कुछ भी सम्बन्ध न रखते हुए भी ६४ श्लोक व्यास ने अपनी ओर से गीता के आरम्भ में उद्धृत कर दिए हैं। इस चतुःषष्टिश्लोकात्मिका गीता को, दूसरे शब्दों में गीता के प्रत्यंश को हम "ऐतिहासिकगीता" नाम दे सकते हैं। आगे के ६३६ श्लोकों में भगवान् की ओर से ज्ञानगर्भित विज्ञान का निरूपण हुआ है। अतः इस मूलगीता को—"विज्ञानगीता" नाम से व्यवहृत किया जा सकता है।

"तत्र ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्" (पञ्चदशी) के अनुसार ज्ञान ही ब्रह्म है, यही अव्यय पुरुष है। बुद्धियोगलक्षण कर्म्म इस अव्ययपुरुष का कर्म्म है। पुरुष ज्योतिर्लक्षण है, योग वीर्य्य लक्षण है। विज्ञानगीताने इन दोनों का निरूपण करते हुए अपने "इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" इस अध्यायोपसंहारवचन को चरितार्थ कर रक्खा है। सम्पूर्ण विज्ञानगीता में आपको अथ से इति तक ब्रह्म—एवं योग की ही मीमांसा उपलब्ध होगी। चूंकि हमारा विज्ञानभाष्य विज्ञानदृष्टि से ही गीता के अर्थ करने के लिए प्रवृत्त हुआ है, अतः प्रचलित दार्शनिक विषय विभाग क्रम की उपेक्षा कर हमें विज्ञानदृष्टि से ही इसका विषयविभाग करना पड़ेगा। इस विषय विभाग में श्लोकों का क्रम वही रहेगा, केवल अध्यायक्रम में परिवर्त्तन होगा।

प्राचीन व्याख्याता ऐतिहासिक दृष्टि को प्रधानता देते हुए, एवं इतिहास मर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाले १८ अध्यायों का समादर करते हुए ६–६–६ इस क्रम से जहां गीता को (ज्ञान—भक्ति—कर्म्मयोग की अपेक्षा से) तीन काण्डों में विभक्त करते हैं, वहां विज्ञानदृष्टि से ६-

२–४–६ इस क्रम से गीता के ४ काण्ड समझने चाहिएं। प्रथमकाण्ड में **राजर्षिविद्या**, एवं **वैराग्यलक्षण बुद्धियोग** का, द्वितीयकाण्ड में **सिद्धविद्या** एवं **ज्ञानलक्षणबुद्धियोग** का, तृतीयकाण्ड में **राजविद्या**, एवं **ऐश्वर्यलक्षण बुद्धियोग** का, चतुर्थकाण्ड में **आर्षविद्या**, एवं **धर्म्मलक्षण बुद्धियोग** का निरूपण हुआ है।

गीता एक उपनिषत् नहीं है, अपितु गीता में अनेक (२४) उपनिषदों का निरूपण हुआ है। इन अनेक उपनिषदों के कारण ही "गीतासु (प्रोक्तासु) उपनिषत्सु" यह कहा गया है। चूंकि गीताशास्त्र में अनेक उपनिषदें हैं, अतएव इसके सम्बन्ध में निम्न लिखित वचन प्रसिद्ध हैं।

***गीताः सुगीताः कर्त्तव्याः किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।**
याः स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृताः॥

विद्या एवं योग तत्व के स्पष्टीकरण के लिए भगवान् ने जो मौलिक रहस्य, किंवा विज्ञानसिद्धान्त बतलाए हैं, उपनिषत् शब्द के निर्वचन के अनुसार वही रहस्य उपनिषत् है। सम्पूर्ण विज्ञान गीता में ऐसी कुल २४ उपनिषदें हैं। गीता एक उपनिषत् नहीं है, अपितु गीता में सर्वथा स्वतन्त्र २४ उपनिषदों का निरूपण हुआ है। इस दृष्टि से गीता को हम २४ उपनिषद्-

---

*यद्यपि महाभारत में बहुवचनान्त पाठ के स्थान में आज "गीता सुगीता कर्त्तव्या०" [म०भी०३३] इत्यादि रूप से एकवचनान्त पाठ ही मिलता है। परन्तु यह संशोधकों का ही दोष समझना चाहिए। क्योंकि जब अध्यायोपसंहार में "गीतासु-उपनिषत्सु" यह बहुवचनान्तपाठ मिलता है तो अवश्य ही उक्त वचन बहुवचनान्त रहा होगा। इसी आधार पर श्रीधरस्वामी ने अपनी व्याख्या में-'यथोक्तं गीतामाहात्म्ये "गीताः सुगीताः कर्त्तव्याः" इत्यादिरूप से बहुवचनान्त पाठ का ही उल्लेख किया है। अथवा एकवचनान्त पाठ में भी यह समाधान किया जासकता है कि उपनिषत्मर्य्यादा से गीता एक ही उपनिषत् है। भगवान् एक हैं। इस एक उपदेष्टा के सम्बन्ध से इसे एक ग्रन्थ मान लेने के कारण ही आगे जाकर एकवचनान्त पाठ होगया।

ग्रन्थों की समष्टि कह सकते है। संहिता ग्रन्थ के शाखा भेद से ११३१ संख्या में विभक्त श्रौती उपनिषदों में जो कुछ कहा गया है, उन सब का सार इन चौवीस उपनिषदों में आजाता है, जैसा कि निम्न लिखित वृद्धव्यवहार से सिद्ध है—

> सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
> पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ [गी०माहात्म्य]।

६३६ श्लोकात्मक इस विज्ञानगीता में निम्नलिखित क्रम से ६ प्रकरण समझने चाहिएं।

१—१-उपक्रमप्रकरण———→ ५ श्लोक
२—१-राजर्षिविद्याप्रकरण—→ २१९ श्लोक
३—२-सिद्धविद्याप्रकरण——→ ५८ श्लोक
४—३-राजविद्याप्रकरण——→ १५१ श्लोक
५—४-आर्षविद्याप्रकरण——→ १८९ श्लोक
६—१-उपसंहारप्रकरण——→ ५ श्लोक

} ६३६ श्लोकात्मिका विज्ञान-गीता।

———:०:———

उक्त २४ उपनिषदें उक्त ६ ओं प्रकरणों में क्रमशः $\frac{१}{१}$ $\frac{२}{८}$ $\frac{३}{२}$ $\frac{४}{३}$ $\frac{५}{७}$ $\frac{६}{३}$ इस रूप से विभक्त हैं। उपनिषत् [मौलिकरहस्य] को स्पष्ट करने के लिए, मौलिक रहस्य को व्यावहारिक-रूप देने के लिए भगवान् नें जो स्वतन्त्र विज्ञान बतलाए हैं, उन्हीं का नाम उपदेश है। यह उपदेश कुल १६० [एकसौसाठ] हैं। यदि ६ प्रकरणों की दृष्टि से विचार किया जाता है तो यह उपदेश उन ६ ओं प्रकरणों में $\frac{१}{२}$ $\frac{२}{५०}$ $\frac{३}{१९}$ $\frac{४}{३२}$—$\frac{५}{४९}$—८ इस क्रम से [१६० उपदेश] विभक्त हैं।

यदि २४ उपनिषदों के क्रम से इन का विभाजन किया जाता है तो चातुर्विद्योपक्रमप्रकरण की १ उपनिषत् में ३ उपदेश हैं। राजर्षिविद्या की ८ उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले ५० उपदेश क्रमशः $\frac{१}{७}$—$\frac{२}{७}$—$\frac{३}{७}$—$\frac{४}{३}$—$\frac{५}{३}$—$\frac{६}{५}$—$\frac{७}{९}$—$\frac{८}{९}$ | $\frac{उपनिषदः:८}{उपदेशाः:५०}$ इस रूप से विभक्त हैं। सिद्ध-

	प्रकरण	विद्यामें उपनिषत्	उपनिषदों में उपदेश	श्लोकक्रमविभाग	
१ (१)	ऐतिहासिकसन्दर्भप्रकरण	०	०	५६	६४
१ (२)	चातुर्विद्योपक्रमप्रकरण	१	२	५	
१ (३)	रागद्वेषविनाशक वैराग्य बुद्धियो- १ गलक्षण **राजर्षिविद्याप्रकरण**	८	५ १ २ ३ ४५ ६ ७ ८ ७।७। ७। ३।३ ।५।६ । ६	२१६	६१४
३ (४)	संमोहविनाशक ज्ञानबुद्धियोग- २ लक्षण **सिद्धविद्याप्रकरण**	२	१६ १ २ १०। ६	५८	
३ (५)	अस्मिताविनाशक ऐश्वर्यबुद्धि- ३ योगलक्षण **राजविद्याप्रकरण**	३	३२ १ २ ३ ११।१५।६	१५१	
४ (६)	अभिनिवेशविनाशकधर्म्मबुद्धि- ४ योगलक्षण **आर्षविद्याप्रकरण**	७	४६ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ६। ५। ७। ४। २०।२।२	१८६	
१ (७)	चातुर्विद्योपसंहारप्रकरण	३	८ १ २ ३ ४ २ २	१४	२२
१ (८)	ऐतिहासिक सन्दर्भप्रकरण	०	०	५	
	८	२४	१६०	७००	

विस्तृतविषयविभागप्रदर्शन

उक्त संक्षिप्त विषयविभाग को देखकर पाठकों के हृदय में यह जिज्ञासा हो सकती है कि इन चारों विद्याओं, विद्यान्तर्गत उपनिषदों, एवं उपनिषदन्तर्गत उपदेशों के द्वारा भगवान् ने क्या विषय हमारे सामने रक्खा है ? इस प्रश्न का यथार्थ समाधान तो स्वयं गीताभाष्य ही करेगा। यहां पाठकों के परिचय के लिए संक्षेप से गीताप्रतिपाद्य विषयों का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१—ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति

(१) १—ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति—[१।१ से १।४६ पर्यन्त [१।४५ को छोड़कर] (५६। ४५)

२।४ से २।१० पर्यन्त। एवं २।३१। से २।३७ पर्यन्त (७ । ७)

२—चातुर्विद्योपक्रम

(२) १—चातुर्विद्योपक्रमरूपा "लोकवृत्तोपनिषत्" (१।४५।, १।४७।, २।१।, २।२, २।३।)।

१—(१) १—उपदेश—प्राकृतिकशोकप्रदर्शन—(१—उपदेश)। (१।४५, १।४७)।

२—(२) २—उपदेश—प्राकृतिकशोकनिराकरणोपक्रम—(१—उपदेश) (२।१, २ २, २।३,)।

३—राजर्षिविद्या

(३) १—वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्तिकाराजर्षिविद्याप्रथमा(८उपनिषत्)

(२।११ से ६ अध्याय समाप्ति पर्यन्त)।

(२) १—**उपनिषत्**—कर्म्मपरित्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा में अनुशोक व्यर्थ है। (२।११ से २।३० पर्यन्त) एवं २।३८।)।

(३) २–उपनिषत्–बुद्धियोगी को कामासक्ति छोड़ देनी चाहिए। (२।३९ से २।७२प.)

(४) ३–उपनिषत्–बुद्धियोगी को कर्म्म नहीं छोड़ना चाहिए। (३।१ से ३।३२ प.)।

(५) ३–उपनिषत्–बुद्धियोग के विरोधी दोष छोड़ देनें चाहिएं। (३।३३ से ३।४३ प.)।

(६) ५–उपनिषत्–बुद्धियोग श्रीकृष्ण का निजी मत है। (४।१ से ४।६ पर्यन्त)।

(७) ६–उपनिषत्–बुद्धियोग से विरोध न रखनें वाले ज्ञान-कर्म्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए। (४।१० से ४।४२ पर्यन्त)।

(८) ७–उपनिषत्–बुद्धियोग में ज्ञान-कर्म्म दोनों का समावेश है। (५।१ से ६।६ प.)।

(९) ८–उपनिषत्–बुद्धियोग साधक कर्म्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए। (६।१० से ६।४७प.)।

— १ —

१–कर्म्मपरित्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा में अनुशोक व्यर्थ है।

(७–उपदेश)

१—(३) १–उपदेश–लौकिक कर्म्मों से बहिर्भूत, असङ्ग आत्मा (अव्यय) सर्वथा नित्य है। देहधारण एवं देह परित्याग का उस पर कोई असर नहीं होता। ऐसी दशा में शरीरविनाश के भय से युद्धादि लौकिक कर्म्म छोड़ना अच्छा नहीं। २।११।, २।१२।, २।१३)।

२—(४) २–उपदेश–शरीर के विद्यमान रहने पर प्रज्ञा–प्राण–भूतमात्राओं के संसर्ग से आक्रमण करने वाले सुख-दुखों की आवश्यक प्रवृत्ति को जब हम रोकने में असमर्थ हैं तो ऐसी दशा में इनसे शोकाकुलित होना मूर्खता है। (२।१४।, २।१५।, २।१६।)।

३—(५) ३–उपदेश–आत्मा का कभी नाश नहीं हो सकता, शरीर कभी नित्य बन नहीं सकता, ऐसी दशा में अनित्य शरीरनाश के भय से शोक करना व्यर्थ है। (२।१७।, २।१८।, २।१९)।

४—(६) ४–उपदेश–अव्ययात्मा में क्षर–अक्षर नाम की प्रकृतियों से जन्म–मृत्यु का प्रवाह नित्य प्रवाहित रहता है। परन्तु अव्यय इस प्रवाह में रहता हुआ भी निर्विकार है। फलतः शोक करना व्यर्थ है। (२।२०।.२।२१। २।२२)

५—(७) ५–उपदेश–अव्ययात्मा गुण-अणु-महाभूतों से सर्वथा पृथक् है। ये पदार्थ नश्वर हैं। जब वह इनसे अतीत है तो उस का नाश असम्भव है। फलतः नाशप्रयुक्त शोक करना व्यर्थ है। (२।२३।, २।२४।, २।२५।)।

६—(८) ६–उपदेश–जन्म–मृत्युधर्म्मों से युक्त भोक्तात्मा में रहने वाले जन्म-मृत्यु–सुख-दुःखादि द्वन्द्वभावों को जब रोका नहीं जासकता तो इनके लिए शोक व्यर्थ है। (२।२६, २।२७।, २।२८।,)।

७—(९) ७–उपदेश–नित्य आत्मा, अनित्य शरीर-असङ्ग आत्मा, ससङ्ग शरीर दोनों का सम्बन्ध बन नहीं सकता, परन्तु बन रहा है, यह सचमुच एक आश्चर्य का विषय है। परन्तु इस सम्बन्ध मे इतना निश्चित है कि आत्मा का कभी बध नहीं किया जासकता। फलतः ज्ञानयोगी (सांख्यनिष्ठ) की दृष्टि में शरीरनाशभयजनित शोक का कोई महत्व नहीं रहता।

(२।२९।, २।३०।, २।३८।,)।

सप्तोपदेशयुक्ता १ उपनिषत् समाप्त।

२–बुद्धियोगी को कामासक्ति छोड़ देनी चाहिए । (७-उपदेश)

८–(१०) १–उपदेश–कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग की अपेक्षा फलत्यागलक्षण बुद्धियोग को ही श्रेष्ठ समझना चाहिए । (२।३९, २।४०।, २।४१।,)

९–(११) २–उपदेश–फल-कामासक्तिप्रधान उत्तम वैदिक कर्म्म भी बन्धन के ही कारण हैं । अतः इनका अनुष्ठान फल कामासक्ति छोड़कर ही करना चाहिए । (२।४२।, २।४३।, २।४४।, २।४५।, २।४६।) ।

१०–(१२) ३–उपदेश–फलकामासक्ति छोड़कर किया हुआ आधिकारिक कर्म्म बुद्धियोग का उपोद्बलक बनता हुआ ग्राह्य है । २।४७, २।४८, २।४९ २।५०, ।२५१),

११–(१३) ४–उपदेश–बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करने के लिए अपनी प्रज्ञा को स्थिर करना आवश्यक है । (२।५२।, २।५३।) ।

१२–(१४) ५–उपदेश–वैराग्यबुद्धियोग सम्बन्धिनी स्थितप्रज्ञता के ६ स्वरूप हैं । २।५४। २।५५।, २।५६।, २५७।, २।५८।, २।५९। २।६० २।६१।) ।

१३–(१५) ६–उपदेश–संग, काम, क्रोध, संमोह स्मृतिभ्रंश यह सब बुद्धियोग के विरोधी धर्म्म हैं । (२।६२।, २।६३।) ।

१४–(१६) ७–उपदेश–रागद्वेषजनित वासना जब बुद्धियोग के प्रभाव से नष्ट हो जाती है तो उस समय वह योगी ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित हो जाता है । (२।६४।, २।६५।, २।६६।, २।६७।, २।६८।, २।६९।, २।७०।, २७१।, २।७२।)—(द्वितीयाध्याय समाप्त) ।

सप्तोपदेशयुक्ता २ उपनिषत् समाप्त

—:०:—

३-बुद्धियोगी को कर्म्म नहीं छोड़ना चाहिए। (७-उपदेश)

१५-(१७) १-उपदेश -कर्म्मसन्न्यासलक्षण संन्यास (ज्ञानयोग), एवं कर्म्मारम्भलक्षण योग (कर्म्मयोग) दोनों में बुद्धियोग नाम का योग ही श्रेष्ठ है। (३।१, ३।२, ३।३)।

१६-(१८) २-उपदेश-६ अन्वर्थ हेतुओं के कारण कर्म्म का परित्याग नहीं किया जासकता। (३।४।, ३।५।, ३।६।, ३।७।, ३।८।)।

१७-(१९) ३-उपदेश-यज्ञकर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। ३।९।, ३।१०।, ३।११।, ३।१२।, ३।१३।, ३।१४।, ३।१५, ३।१६)

१८-(२०) ४-उपदेश-उपेक्षाबुद्धि से किए गए कर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। (३।१७।, ३।१८।, ३।१९।, ३।२०)।

१९-(२१) ५-उपदेश-लोकसंग्रहदृष्टि से किए गए कर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। (३।२०।, ३।२१।, ३।२२।, ३।२३।, ३।२४।, ३।२५, ३।२६।)।

२०-(२२) ६-उपदेश-प्राकृतिक कर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। (३।२७।, ३।२८।, ३।२९।, ३।३०)।

२१-(२३) ७-उपदेश-हमारी [भगवान् की] दृष्टि में कर्म्म का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए। [३।३१, ३।३२।]

सप्तोपदेशयुक्ता ३ उपनिषत् समाप्त।

४-बुद्धियोग के विरोधी दोष छोड देने चाहिए। (३-उपदेश)

२२-(२४) १-उपदेश-राग-द्वेष बुद्धियोग के महा प्रतिबन्धक हैं। इन का परित्याग करना चाहिए। [३।३३।, ३।३४।, ३।३५]।

२३-(२५) २-उपदेश-राग-द्वेष के आक्रमण से अव्यय की ज्ञानज्योति मलिन बन जाती है। फलतः ऐसा व्यक्ति बुरे कर्म्मों में प्रवृत्त होजाता है। [३।३६।, ३।३७।, ३।३८।, ३।३९।, ३।४०]।

२४–(२६) ३–उपदेश–इन्द्रिय, मन, बुद्धि भावों के संयम से राग-द्वेषादि बुद्धियोग के प्रतिबन्धक धर्म्म नष्ट हो जाते है। (३।४१, ३।४२, ३।४३)।

तृतीय अध्याय समाप्त।

त्र्युपदेशयुक्ता ४ उपनिषत् समाप्त।

५–बुद्धियोग भगवान् कृष्ण का अपना मत है। (३-उपदेश)।

२५–(२७) १–उपदेश–इस बुद्धियोग के प्रथम द्रष्टा भगवान् कृष्ण हैं। [४।१, ४।२, ४।३।]

२६–[२८] २–उपदेश–अनेक विग्रह धारण करने वाले कृष्ण चूंकि अच्युत भगवान् थे, अतएव विश्वास करना चाहिए कि उन्हें पूर्व जन्मों की सारी परिस्थिति विदित थी। [४।४, ४।५।]।

२६–[२९] ३–उपदेश–भगवान् कृष्ण आधिकारिक पुरुष थे। अतएव इन्हें सामान्य मनुष्य न समझ कर अव्यय का अवतार समझना चाहिए। [४।६।, ४।७।, ४।८, ४।९।] ।

त्र्युपदेशयुक्ता ५ उपनिषत् समाप्त।

६–बुद्धियोग से विरोध न रखने वाले ज्ञान-कर्म्म में प्रवृत्त रहना चाहिए। (५ उपदेश)

२८–(३०) १–उपदेश–अव्ययात्मा का अनुगमन करने वाले ज्ञान–कर्म्म–भक्ति तीनों हीं योग उपादेय हैं। (४।१०।, ४।११।, ४।१२)।

२९–(३१) २–उपदेश–चातुर्वर्ण्य कर्म्मों का चूंकि अव्ययात्मा से सम्बन्ध है, अतः इनमें प्रवृत्त रहना चाहिए। (४।१३।, ४।१४।, ४।१५)।

३०–(३२) ३–उपदेश–निवृत्तकर्म्म चूंकि अव्ययात्मा के अनुगामी हैं, अतः इनमें प्रवृत्त रहना चाहिए। ४।१६।, ४।१७।, ४।१८।, ४।१९।, ४।२०।, ४।२१।, ४।२२।]।

३१-(३३) ४-उपदेश-१३ प्रकार के यज्ञकर्म्म अव्ययात्मानुगामी बनते हुए अबन्धन हैं, अतः इनमें प्रवृत्त रहना चाहिए। (४।२३।, ४।२४।, ४।२५।, ४।२६।, ४।२७।, ४।२८।, ४।२९।, ४।३०।, ३।३१।, ४।३२।)।

३२-(३४) ५-उपदेश-सम्पूर्ण यज्ञकर्म्मों में ज्ञानयज्ञकर्म्म को ही सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए। (४।३३।, ४।३४।, ४।३५।, ४।३६, ४।३७।, ४।३८।, ४।३९।, ४।४०।, ४।४१।, ४।४२)।

(चतुर्थ अध्याय समाप्त)

पञ्चोपदेशयुक्ता ६ उपनिषत् समाप्त।

७-बुद्धियोग में ज्ञान-कर्म्म दोनों का समावेश है। (९-उपदेश)।

३३-(३५) १-उपदेश-कर्म्मयोग, एवं ज्ञानयोग दोनों में कौन श्रेष्ठ है ? यह प्रश्न विचारणीय है। (५।१।)।

३४-(३६) २-उपदेश-कर्म्म-ज्ञान दोनों का बुद्धियोग में समावेश है। अतः तीनों में इसे ही उत्तम समझना चाहिए। (५।२।, ५।३।, ५।४।, ५।५।, ५।६।, ५।७।, ५।८।, ५।९।, ५।१०।, ५।११।, ५।१२।, ५।१३।)।

३५-(३७) ३-उपदेश-राग-द्वेषवियुक्त विशुद्ध अव्ययात्मा को सदा एक रस समझना चाहिए। (५।१४।, ५।१५।, ५।१६।)।

३६-(३८) ४-उपदेश-सांसारिक सुख के सामने आत्मसुख को श्रेष्ठ मानकर उसी का अनुगामी बनना चाहिए। (५।१७।, ५।१८।, ५।१९।, ५।२०। ५।२१।, ५।२२।)

३७-(३९) ५-उपदेश-राग-द्वेषविरहित आत्मयोगी ही शाश्वत आत्मानन्द के अधिकारी बनते हैं। (५।२३।, ५।२४।, ५।२५, ५।२६।)।

३८-(४०) ६-**उपदेश**-आत्मसम्पत् प्राप्ति के लिए बुद्धियोगानुगामी योगाभ्यास करना आवश्यक है। (५।२७।, ५।२८।, ५।२९।)।

(पञ्चम अध्याय समाप्त)

३९-(४१) ७-**उपदेश**-बुद्धियोगी कर्म्मपरिग्रह से कर्म्मयोगी, एवं कामना के परित्याग से ज्ञानयोगी बन जाता है। (६।१।, ६।२।, ६।३।, ६।४।)।

४०-(४२) ८-**उपदेश**-जो अपने आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह शाश्वत आनन्द का अधिकारी बन जाता है, एवं आत्मज्ञान से वञ्चित मनुष्य दुःखार्णव में निमग्न रहता है। (६।५।, ६।६।)।

४१-(४३) ९-**उपदेश**-कर्म्मयोग की अपेक्षा बुद्धियोग लक्षण ज्ञानयोग को ही उत्तम समझना चाहिए। (६।७।, ६।८।, ६।९।)।

नवोपदेशयुक्ता ७ उपनिषत् समाप्त

८-बुद्धियोगसाधक कर्म्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए। (९ उपदेश)

४२-(४४) १-**उपदेश**-योगाभ्यास ही बुद्धियोगप्राप्ति का अनन्य उपाय है। (६।१०।, ६।११।, ६।१२।, ६।१३।, ६।१४।, ६।१५।)।

४३-(४५) २-**उपदेश**-योगाभ्यास से विरोध रखने वाले, एवं अनुकूलता उत्पन्न करने वाले धर्म्मों को लक्ष्य में रख कर ही योगाभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए। (६।१६।, ६।१७)।

४४-(४६) ३-**उपदेश**-जिस में परिगणित विशेष गुणों का उदय देखो, समझलो उसने बुद्धियोग निष्ठा प्राप्त करली। (६।१८।, ६।१९।)।

४५-(४७) ४-**उपदेश**-जिस योग में आत्मा सदा प्रसन्न रहै, उसी योग (कर्म्म) को बुद्धियोग समझना चाहिए। (६।२०।, ६।२१।, ६।२२।, ६।२३।)।

६—आर्षविद्या

(६)—४—धर्म्मबुद्धियोगप्रवर्त्तिका आर्षविद्या चतुर्थी । (७-उपनिषत्)। (१३।१ से १८।५६ पर्यन्त) ।

(१५) १—**उपनिषत्**—प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ज्ञान-ज्ञेय ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं। (१३।१ से—१३।३५ पर्यन्त)।

(१६) २—**उपनिषत्**—सत्त्व-रज-स्तमोलक्षण गुणत्रयी ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१४।१ से १४।२७ पर्य्यन्त)।

(१७) ३—**उपनिषत्**—अश्वत्थ वृक्ष ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१५।१ से १५।२०)।

(१८) ४—**उपनिषत्**—देवता, एवं असुर से सम्बन्ध रखने वाला भूतसर्ग ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१६।१ से १६।२३ पर्यन्त)।

(१९) ५—**उपनिषत्**—गुण, एवं कर्म्म का प्रचय ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१७।१ से १७।४० पर्य्यन्त)।

(२०) ६—**उपनिषत्**—अत्याज्य कर्म्म ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं। (१८।४१ से १८।४८ पर्य्यन्त)।

(२१) ७—**उपनिषत्**—अनावरक कर्म्म ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं। (१८।४९ से १८।५६ पर्य्यन्त)।

१—प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ज्ञान-ज्ञेय ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (८—उपदेश)।

१—(१०४) १—**उपदेश**—धर्म्म के वास्तविक स्वरूपज्ञान के लिए अर्जुन की तरह प्रत्येक व्यक्ति

को प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ज्ञान-ज्ञेय इन ६ भावों का मौलिक-रहस्य जानने का प्रयास करना चाहिए। (१३।१)।

२-(१०५) २-उपदेश-धर्म्मस्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का, भूतग्राम-विज्ञानात्मा का, शरीर-शारीरक आत्मा का विवेकज्ञान आवश्यक है। (१३।२।,१३।३।)।

३-(१०६) ३-उपदेश-धर्म्मस्वरूपज्ञान के लिए अध्यात्मसंस्था से सम्बन्ध रखने वाली ८ पुरियों का स्वरूप जानना आवश्यक है। (१३। ४ से १३।७ पर्यन्त)।

४-(१०७) ४-उपदेश-धर्म्म के स्वरूपज्ञान के लिए २० भागों में विभक्त ज्ञानविवर्त्त का स्वरूप जानना आवश्यक है। (१३।८ से १३।१२ पर्य्यन्त)।

५-(१०८) ५-उपदेश-धर्म्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए परब्रह्मनाम से प्रसिद्ध ज्ञेय अव्ययपुरुष का स्वरूप जानना आवश्यक है। (१३।१३ से १३।१६ पर्यन्त)।

६-(१०९) ६-उपदेश-धर्म्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए प्रकृति-पुरुष का सम्यक् ज्ञान परम आवश्यक है। (१३।२० से १३।२४ पर्य्यन्त)।

७-(११०) ७-उपदेश-धर्म्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए मृत्युपाश से विमुक्त करने वाले पुरुषोपासनाभेदों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। (१३।२५।,१३।२६।)।

८-(१११) ८-उपदेश-धर्म्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए सत्त्वनाम से प्रसिद्ध प्राणी की क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोगरूप उपाधि का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। (१३।२७)।

९-(११२) ९-उपदेश-धर्म्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए परमेश्वर, ईश्वर, परमात्मा, विज्ञानात्मा इन चारों आत्मविवर्त्तों का परिज्ञान आवश्यक है। (१३।२८ से १३।३५ पर्य्यन्त)।

(त्रयोदश अध्याय समाप्त)

नवोपदेशयुक्ता १ उपनिषत् समाप्त

२–सत्व-रज-स्तमोलक्षणा गुणत्रयी ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (५-उपदेश)।

१०–(११३) १–उपदेश–क्षेत्रज्ञपुरुष में विशेषता उत्पन्न करने वाला, गुणत्रयमूर्त्ति महद्ब्रह्म ही सम्पूर्णभूतों की योनि है। [१४।१ से १४।४ पर्य्यन्त]।

११–(११४) २–उपदेश–महद्ब्रह्म के स्वरूपज्ञान के लिए उस के सत्व-रज-तम तीनों गुणों का मौलिक स्वरूप जानना आवश्यक है।(१४।५से–१४।२०प.)।

१२–(११५) ३–उपदेश–गुणत्रय के सम्यक् परिज्ञान के लिए गुणातीत आत्मा का स्वरूप जानना परम आवश्यक है। (१४।२१ से १४।२५ पर्यन्त)।

१३–(११६) ४–उपदेश–अध्ययात्मनिष्ठारूप अनन्य भक्ति से ही गुणातीत आत्मा जाना जासकता है। (१४।२६)।

१४–(११७) ५–उपदेश–जीवशरीर में प्रतिष्ठित क्षर–अक्षर–अव्यय–परात्पर–निर्विशेष–इन पांचों की प्रतिष्ठा ईश्वर के उक्त पांचों पर्व हैं। (१४।२७)।

(चतुर्दश अध्याय समाप्त)

पञ्चोपेदशयुक्ता २ उपनिषत् समाप्त।

३–अश्वत्थवृक्ष ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (७–उपदेश)।

१५–(११८) १–उपदेश–ब्रह्म-कर्म्म के स्वरूपज्ञान के लिए ब्रह्माश्वत्थ का स्वरूप जानना आवश्यक है। (१५।१ से १५।४ पर्यन्त)।

१६–(११९) २–उपदेश–ब्रह्माश्वत्थ का साक्षात्कार करने के लिए कतिपय विशेष उपायों का आश्रय लेना आवश्यक है।(१५।५,१५।६)।

१७–(१२०) ३–उपदेश–ईश्वरलक्षण विश्वव्यापक अव्यय ही योगमाया के सम्बन्ध से कर्म्माश्वत्थलक्षण जीवसृष्टि का कारण बनता है। (१५।७,१५।८)।

१८–(१२१) ४–उपदेश–अपने प्रभव ब्रह्माश्वत्थ (ईश्वर) से पृथक् होने के कारण ही यह कर्म्मा-

श्वत्थ (जीव) कर्म्मफलभोक्ता बनता है। (१५।६ से १५।११ पर्यन्त)।

१९-(१२२) ५-उपदेश-एक ही अश्वत्थवृक्ष त्रिगुणमहद्ब्रह्म के संसर्ग से अनेक रूपों में परिणत हो रहा है। (१५।१२ से १५।१४ पर्यन्त)।

२०-(१२३) ६-उपदेश-वही अश्वत्थाव्यय सम्पूर्ण विश्व का एक (अभिन्न) आत्मा है। (१५।१५)।

२१-(१२४) ७-उपदेश-एक ही अश्वत्थाव्यय क्षराक्षर के सम्बन्ध से भेदव्यवहार की मूल-प्रतिष्ठा बन गया है। (१५।१६ से १५।२०)।

(पञ्चदश अध्याय समाप्त)

सप्तोपदेशयुक्ता ३ उपनिषत् समाप्त

४-देवता एवं असुर से सम्बन्ध रखने वाला भूतसर्ग ही धर्म्मबुद्धि-योग की प्रतिष्ठा है। (४-उपदेश)।

२२-(१२५) १-उपदेश-जन्मसिद्ध, देवासुरभावमूलक गुण-दोष ही धर्म्माधर्म्मप्रवृत्ति के मुख्य अनुबन्ध हैं। (१६।१ से १६।५ पर्यन्त)।

२३-(१२६) २-उपदेश-असुरप्रधान भूतसर्ग में विद्या-(ज्ञान)-निरपेक्ष असद्गुण-कर्म्मों की ही प्रधानता रहती है। (१६।६ से १६।१९ पर्यन्त)।

२४-(१२७) ३-उपदेश-आसुरीसम्पत्ति के आधार पर प्रतिष्ठित काम-क्रोध-लोभ ही पतन के मुख्य कारण हैं। (१६।२०, १६।२१)।

२५-(१२८) ४-उपदेश-अपने आत्मकल्याण के लिए दैवीसम्पत् की आराधना आवश्यक है. एवं इस के लिए शास्त्र में पूर्ण निष्ठा अपेक्षित है। (१६।२२, १६।२३)।

(षोडश अध्याय समाप्त)

चतुरुपदेशयुक्ता ४ उपनिषत् समाप्त

५–गुण-कर्म्म का प्रचय ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (२०-उपदेश)

२६–(१२६) १–उपदेश–गुणत्रय के भेद से मनुष्यों में तीन प्रकार के श्रद्धाभाव उत्पन्न हो जाते हैं। [१७।१ से १७।६ पर्यन्त]।

२७–(१३०) २–उपदेश–गुणत्रयभेद से मनुष्यों का आहार तीन भागों में विभक्त है। [१७।७ से १७।१० पर्य्यन्त]।

२८–[१३१) ३–उपदेश–गुणत्रय के भेद से मनुष्यों का यज्ञकर्म्म तीन भागों में विभक्त है। [१७।११ से १७।१३ पर्यन्त]।

२९–(१३२) ४–उपदेश–शरीर वाक्-मनोभेद से आध्यात्मिक तप, कायिक–वाचिक–मानसिक भेद से तीन भागों में विभक्त है। [१७।१४ से १७।१६ प.]

३०–(१३३) ५–उपदेश–गुणत्रय के भेद से आध्यात्मिक तप तीन भागों में विभक्त है। [१७।१७ से १७।१९ पर्यन्त]।

३१–(१३४) ६–उपदेश–गुणत्रय के भेद से दानकर्म्म तीन भागों में विभक्त है। (१७।२० से १७।२२ पर्य्यन्त)।

३२–(१३५) ७–उपदेश–गुणत्रय से युक्त कर्म्म की प्रतिष्ठा ब्रह्म है, एवं वह ब्रह्मतत्त्व ओं–तत्–सत् भेद से तीन भागों में विभक्त है (१७।२३ से १७।२८ प.]

(सप्तदश अध्याय समाप्त)

३३–(१३६) ८–उपदेश–गुण–कर्म्म के परिज्ञान के लिए कर्म्मसंन्यास, एवं कर्म्मत्याग का भेदज्ञान आवश्यक है। [१८।१ से १८।६ पर्यन्त]।

३४–(१३७) ९–उपदेश–गुणत्रयभेद से त्यागकर्म्म तीन भागों में विभक्त हैं। [१८।७ से १८।११]।

३५–(१३८) १०-उपदेश-गुणत्रयभेद से कर्म्मफल तीन भागों में विभक्त हैं [१८[१२]।

३६–(१३९) ११-उपदेश-अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा, दैव यह पांच तत्त्व कर्म्मसिद्धि के उपोद्बलक हैं। (१८।१३ से १८।१७ पर्यन्त)।

विंशत्युपदेशयुक्ता ५ उपनिषत् समाप्त

६-अत्याज्यकर्म्म ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (२-उपदेश)

४७-(१५०) २-उपदेश-आधिकारिक कर्म्मों को दोषों के रहते हुए भी नहीं छोड़ना चाहिए। (१८।४५ से १८।४८ पर्यन्त)

द्व्युपदेशयुक्ता ६ उपनिषत् समाप्त

७-अनावश्क कर्म्म हीं धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं। (२-उपदेश)

४८-(१५१) १-उपदेश-कामना परित्यागपूर्वक कर्म्म करने से नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त हो जाती है। [१८।४६ से १८।५३ पर्यन्त]।

४६-(१५२) २-उपदेश- नैष्कर्म्य कर्म्म के प्रभाव से आत्मा कर्म्मबन्धन से विमुक्त होता हुआ परब्रह्म [अव्ययब्रह्म] पद में लीन हो जाता है। [१८।५४ से-१८५६ पर्यन्त]।

द्व्युपदेशयुक्ता ७ उपनिषत् समाप्त

इति ७-उपनिषद्युक्ता, ४९-उपदेशगर्भिता, १८८-श्लोकात्मिका

आर्षविद्या समाप्त



७-उपसंहार प्रकरण

(७)·१-चातुर्विद्योपसंहारप्रकरण–(३·उपनिषत्)·(१८।५७ से १८।७३ पर्यन्त)

(२२)–१–उपनिषत्–सम्पूर्णकर्म्म अव्ययात्मा में समर्पित कर देनें चाहिएं। [१८।५७ से १८।६३ पर्य्यन्त]।

(२३)–२–उपनिषत्–आत्माश्रय ही परमोद्धार है। [१८।६४ से १८।६६पर्य्यन्त]।

(२४)–३–उपनिषत्–गीताज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। [१८।६७ से १८।७३पर्य्यन्त]।

——:०:——

१–सम्पूर्णकर्म्म अव्ययात्मा में समर्पित कर देनें चाहिएं। (४-उपदेश)

१—(१५३) १–उपदेश–लोकोत्तर गुणों से युक्त असामान्य अधिकारी को राजर्षिविद्यासिद्ध वैराग्यलक्षण बुद्धियोग का ही अनुष्ठान करना चाहिए। [१८।५७ से १८।५८ पर्यन्त]।

२—(१५४) २–उपदेश–प्रथमाधिकारी को सिद्धविद्यासिद्ध ज्ञानलक्षण बुद्धियोग का अनुष्ठान करना चाहिए। [१८।५९]।

३—(१५५) ३–उपदेश–मध्यमाधिकारी को राजविद्यासिद्ध ऐश्वर्यलक्षण बुद्धियोग का अनुष्ठान करना चाहिए। [१८।६०]।

४—(१५६) ४–उपदेश–तृतीय श्रेणि के अधिकारी को आर्षविद्यासिद्ध धर्म्मलक्षण बुद्धियोग का अनुष्ठान करना चाहिए। [१८।६१, १८।६२, १८।६३]।

चतुरुपदेशयुक्ता १ उपनिषत् समाप्त।



२–आत्माश्रय ही परमोद्धार है। (२–उपदेश)

१—(१५७) १–उपदेश–अपने सम्पूर्ण कर्म्मों को हृदयस्थ आत्मदेवता में समर्पित करते हुए स्वार्थबुद्धि का परित्याग कर देना पुरुष का परम पुरुषार्थ है।

[१८।६४, १८।६५, १८।६६]।

२—(१५८) २—उपदेश—साधारण मनुष्य इस ज्ञान के अधिकारी नहीं है। अतः अधिकारी की परीक्षा करके ही उसे यह रहस्य बतलाना चाहिए। [१८।६७]।

द्व्युपदेशयुक्ता २ उपनिषत् समाप्त।

———:०:———

३—गीताज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। (२—उपदेश)।

१—(१५९) १—उपदेश—भगवत्गीता में प्रतिपादित अर्थों का चिरन्तन स्मरण करने से कालान्तर में अपने आप इस ज्ञान के अनुष्ठान में प्रवृत्ति हो जाती है। [१८।६८ से १८।७१ पर्यन्त]।

२—(१६०) २—उपदेश—इस विज्ञानगीता का इतिहास प्रकरण में समावेश हुआ है। [१८।७२।-१८।७३]।

द्व्युपदेशयुक्ता ३ उपनिषत् समाप्त।

——— ० ———

८—सन्दर्भसङ्गति

(८)२-ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति(५) (१८।७४, १८।७५, १८।७६, १८।७७, १८।७८)।

(अष्टादश अध्याय समाप्त)

इति-विज्ञानगीताया विषयविभागप्रदर्शनम्

६



१०– संख्यारहस्य



१०—संख्यारहस्य

"नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्म्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले !" इस भगवदुक्ति के अनुसार बिना कारण के संसार में कोई व्यवस्था व्यवस्थित नहीं है। प्रत्येक कर्म्म अवश्य ही अपनी कोई उपनिषत् (मौलिक कारण) रखता है। दर्शनमर्य्यादा में भले ही इस कारणतावाद की मीमांसा न की जाय, परन्तु विज्ञानमर्य्यादा में पद पद पर हमें कारणता का आश्रय लेना पड़ेगा। विज्ञानशास्त्र के इसी स्वाभाविक नियम के अनुसार गीताशास्त्रसम्बन्धी श्लोकसंख्याओं के सम्बन्ध में भी हमें कारणता का अन्वेषण करना पड़ेगा। विज्ञानप्रधान गीताशास्त्र के ७०० श्लोक अवश्य ही किसी गुप्त रहस्य से सम्बन्ध रखते हैं।

संख्याविज्ञान भारत वर्ष की बहुत पुरानी देन है। वेद के ब्राह्मणभाग में तो पद-पद पर संख्या द्वारा सम्पत्ति का ग्रहण बतलाया गया है। उदाहरण के लिए कुछ एक संख्याओं का रहस्य जान लेना पर्य्याप्त होगा। ८० संख्या के लिए वेद में **"अशीति"** शब्द नियत है। उधर इसी शब्द को अन्न का सूचक भी माना गया है। भोजनार्थक **अश** धातु से ही अशीति शब्द निष्पन्न हुआ है। भोज्य पदार्थ को ही अन्न कहा जाता है। इसी अभिप्राय से वेद ने अन्न को अशीति शब्द से सम्बोधित किया है।

हृदयस्थ मनोऽवच्छिन्न इन्द्र (प्रज्ञाप्राणात्मक सर्वेन्द्रिय मन) को आत्मा (प्रज्ञानात्मा) कहा जाता है, जैसा कि–**"प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्व"** (कौषीतकि-उप० ३।१।) इत्यादि से स्पष्ट है। इस प्राणात्मक मनोमय आत्मा से ही अङ्गप्राणरूप इन्द्रियों का विकास होता है। आत्मेन्द्र से जुष्ट रहने के कारण ही चक्षु-श्रोत्र-आदि को **"इन्द्रिय"** कहा जाता है। जहां से, जिस मूल से जो प्राण निकलते हैं, उन्हें वेदभाषा में **"अर्क"** कहा जाता है, एवं वह मूल स्थान **"उक्थ"** नाम से प्रसिद्ध है। चक्षु-श्रोत्रादि इन्द्रिएं भी रूप–शब्दादिरूप अर्कों की प्रवर्त्तिका होनें से स्वतन्त्र उक्थ हैं। इन सब इन्द्रिय उक्थों का मूलप्रभव वही प्रज्ञानात्मा है। अत-

एव हम इसे–"**महदुक्थ**" कह सकते हैं। इसी अभिप्राय से–"**आत्मा महदुक्थम्**" (शत० १०।-१।२।५) इत्यादि रूप से इस आत्मा को महदुक्थ कहा गया है।

महदुक्थरूप, इन्द्रात्मक, मनोमय इस आत्मा की पुष्टि अशीति-(अन्न)-भाव पर ही निर्भर है। अशीति से ही महदुक्थ लक्षण आत्मा (मन) स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। "**अन्नमयं हि सोम्य मनः**" (छां० उप० ६।६।५।) इस सिद्धान्त के अनुसार मन अन्नमय है। फलतः इस की जीवन सत्ता, किंवा स्वरूपरक्षा अन्नाहुति पर ही सिद्ध हो जाती है। "**अशीतिभिर्हि महदुक्थमाप्यायते**" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार महदुक्थरूप आत्मेन्द्र की तृप्ति अशीति से ही होती है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि मनोमय (प्रज्ञामय) इन्द्र की तृप्ति का साधन अशीति (अन्न) ही है।

इस सम्बन्ध में पाठक जिज्ञासा करेंगे कि वेद ने इन्द्राहुति के लिए "**अन्न**" जैसे सरल शब्द का प्रयोग न कर "**अशीति**" जैसे कठिन शब्द का प्रयोग क्यों किया ? इस जिज्ञासा का उत्तर वही संख्याविज्ञान है। अशीति शब्द जहां अन्न का वाचक है, वहां पूर्व कथनानुसार यह ८० संख्या का भी सूचक है। ऋषि परोक्षप्रिय होते हैं, जैसा कि पूर्व के **नामरहस्य** में बतलाया जा-चुका है। वे यह ठीक नहीं समझते कि इन्द्र जैसे पूज्य देवता के सम्बन्धमें–"हम आप के लिए अन्न प्रदान करते हैं" ऐसा अमर्य्यादित वाक्य बोला जाय। अतः इन्द्र के लिए जिस मन्त्र से आहुति दी जाती है, उस के ८० अक्षर बना दिए जाते हैं। अथवा अन्नाहुति साधक सूक्त में ८० मन्त्रों का समावेश कर दिया जाता है। कहने को ८० संख्यात्मक मन्त्र हैं, परन्तु वास्तव में ऋषि की दृष्टि इस अशीति संख्या द्वारा अन्न पर है। इस प्रकार वेद ने ८० संख्या को अशीति (अन्न) का सूचक माना है।

यज्ञकर्म्म में १० पात्र रक्खे जाते हैं। इन १० संख्याओं का भी वेद ने विशेष प्रयोजन बतलाया है। १० अक्षर के छन्द का ही नाम **विराट्** है। विराट् ही प्रजन कर्म्म का (उत्पत्ति का) साधक है। उधर यज्ञकर्म्म दैवात्मा की उत्पत्ति के लिए ही किया जाता है। इसी प्रजननसम्पत्ति का परोक्षभाव से यज्ञकर्म्म में समावेश करने के लिए १० पात्र लिए जाते है। यज्ञकर्म्म में १७ सामिधेनी का ग्रहण होता है। प्राजापत्य सम्पत्ति के परिग्रह के लिए ही १७ का ग्रहण है। इसी

संख्यारहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

१—"द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति-शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं च, स्फ्यं च कपालानि च, शम्यां च-कृष्णाजिनं च, उलूखल-मुसले, दृषद्-उपले । तद्दश । दशाक्षरा वै विराट् । विराड् वै यज्ञः । तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयति । अथ यद्द्वन्द्वं-द्वन्द्वं वै वीर्य्यम् । यदा वै द्वौ संरभेते, अथ तद् वीर्यं भवति । द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननम् । मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते ।" । (शत-१।१।२२।) ।

१—"पौर्णमासेष्टि में १० पात्र रक्खे जाते हैं । इन में दो दो को मिलाकर ५ युग्म बनाए जाते हैं। इस १० संख्यासे विराट् सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, एवं विराट् से प्रजनन सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है । दो के मेल से बल का विकास होता है । इस वीर्य्यभाव की प्राप्ति के लिए भी दो दो पात्र रक्खे जाते हैं । अपिच दो के मिथुन से प्रजननकर्म्म निष्पन्न होता है । वही इस यज्ञ कर्म्म से अभिप्रेत है । इस लिए भी यहां द्वन्द्वभाव का समावेश किया गया है ।" यहांपर २, एव १० के द्वारा ऋषि का लक्ष्य मिथुन-वीर्य्य-विराट् सम्पत्तिएं हैं । मिथुनादि सम्पत्तियों का काम संख्या से लिया गया है । इस विषय की विशेष जिज्ञासा रखने वालों को **शतपथविज्ञानभाष्य** देखना चाहिए ।

२—"स एष संवत्सरप्रजापतिः षोडशकलः । तस्य रात्रय एव पञ्चदशकलाः । ध्रुवैवास्य षोडशीकला । सोऽमावास्यां रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते" (शत. १४।४।३।२२।) ।

२—"संवत्सरप्रजापति १६ कलाओं से युक्त है । पक्ष की १५ रात्रिएं हीं १५ कला हैं । प्रतिपत् (पड़वा) नाम की ध्रुवारात्रि सोलहवीं कला है । वह अपनी इस ध्रुवा रात्रि से पक्षरात्रियों में प्रवेश कर तद्द्वारा सभी प्राणियों में प्रविष्ट होता हुआ प्रातःकाल प्रकट होता है ।"

३—"तस्य सप्तदश सामिधेन्यः । सप्तदशो वै संवत्सरः । द्वादश मासाः, पञ्चर्त्तवः संवत्सरः, प्रजापतिः । प्रजापतिरग्निः । यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन-

मेतत् समिन्द्धे । यद्वेव सप्तदश । सप्तदशो वै पुरुषः—दश प्राणाः, चत्वार्यङ्गानि, आत्मा पञ्चदशः, ग्रीवा षोडश्यः, शिरः सप्तदशं, पुरुषः प्रजापतिः । प्रजापतिरग्निः । यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत् समिन्द्धे" । (शत॰ ६ २।८।१) ।

३—'चयनयज्ञ के कर्म्मविशेष में १७ सामिधेनी मन्त्र होते हैं । इस संख्या का रहस्य यही है कि संवत्सर प्रजापति में इतनी ही संख्याएं हैं । १२-महिने, ५-ऋतु, ही संवत्सर प्रजापति है । प्रजापति अग्नि है । जितना अग्नि है, जितनी इस को मात्रा (खण्ड) हैं, उन्हीं से इस अग्नि को समिद्ध (प्रदीप्त) किया है । अपिच सप्तदश संख्या का दूसरा रहस्य यह है कि पुरुष (मनुष्य) १० प्राण, ४-अंग, १-आत्मा, १-ग्रीवा, १-शिरो भेदसे सप्तदश है । पुरुष प्रजापति है । प्रजापति अग्नि है । इस सप्तदशकल पुरुषाग्नि के संग्रह के लिए भी १७ संख्यायुक्त सामिधेनी मन्त्रों का यज्ञकर्म्म में प्रयोग किया गया है । १७ संख्या सूचित कर रही है कि हमारा लक्ष्य सप्तदशकल प्राजापत्य अग्नि है ।

उक्त निदर्शनों से विज्ञ पाठकों को यह विदित होगया होगा कि इङ्गित (इशारे) से ही अनेक रहस्यों का परिज्ञान कराने वाले महारम्भ, कृतधी ऋषियों का संख्या क्रम अवश्य ही किसी मौलिक रहस्य से सम्बन्ध रखता है । वैदिक छन्दोविज्ञान की तो मूलप्रतिष्ठा यही संख्याविज्ञान है । चूंकि वेद का संख्या विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है, एवं इधर हमारा गीताशास्त्र भी वेदसमकक्ष बनता हुआ एक विज्ञानशास्त्र है । ऐसी दशा में इस की ७०० संख्या का भी अवश्य ही किसी मौलिक रहस्य से सम्बन्ध मानना पड़ेगा ।

स्वयं भगवान् व्यास ने अपने महाभारत ग्रन्थ में इस संख्याविज्ञान को प्रधान माना है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

> नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
> देवीं सरस्वतीं चैव ततो **"जय"** मुदीरयेत् ॥

महाभारत जयग्रन्थ है । पाण्डुपुत्रों के विजय सम्बन्ध से इसे जयग्रन्थ कहना यद्यपि ठीक है, तथापि जयशब्द की सीमा यहीं पर समाप्त नहीं मानी जासकती । "क-ट-प-य-विज्ञान के अनु-

सार जकार ८ संख्या का, एवं यकार १ संख्या का सूचक माना गया है। **"अङ्कानां वामतो गतिः"** इस सिद्धान्त के अनुसार जयशब्दोपलक्षिता ८१ संख्या का १८ स्वरूप है। इस प्रकार जयशब्द १८ संख्या का सूचक बनता हुआ महाभारत के १८ पर्वों का ही द्योतक है। फलतः **"ततो जयमुदीरयेत्"** का–**"अष्टादशपर्वात्मक महाभारत पढ़ना चाहिए"** यह निष्कर्ष सिद्ध हो जाता है।

प्राचीन प्रणाली के अनुसार, किंवा ऐतिहासिक मर्य्यादा के अनुसार गीताशास्त्र १८ अध्यायों में विभक्त है। आर्यसाहित्य में इस १८ संख्या का भी बड़ा महत्व है। १८ पुराण, १८ उपपुराण, १८ पौराणिक विषय, महाभारत के १८ पर्व, गीता के १८ अध्याय, श्रुत्युक्त १८ अवरकर्म्म, १८ आत्मविवर्त्त, इस प्रकार अष्टादश संख्या का विवर्त्त अनेक स्थानों में उपलब्ध होता है। इस की कई एक उपपत्तिएं हैं। इतिहास–पुराण की समान मर्य्यादा मानी गई है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि जिस ग्रन्थ में मनुष्यचरित्र गौण, एवं सृष्टि का इतिहास प्रधान हो, वह पुराण है। एवं जिस में सृष्टिचरित्र गौण, एवं मनुष्यचरित्र प्रधान हो, वह इतिहास है। पुराण में भी मनुष्य-चरित्र है, परन्तु गौणरूप से। इतिहास में भी सृष्टिचरित्र है, परन्तु गौणरूप से। मनुष्यचरित्र के सम्बन्ध से पुराण को इतिहास कहा जासकता है, एवं सृष्टिचरित्र के सम्बन्ध से इतिहास को पुराण कहा जा सकता है। दोनों एक प्रकार से समानधारा में प्रवाहित होते हुए समान विषयक हैं, दोनों हीं वेदार्थ के उपबृंहक हैं, जैसा कि—**"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत"** इत्यादि से स्पष्ट है।

पुराणशास्त्र प्रधान रूप से सृष्टि[१], प्रतिसृष्टि[२], वंश[३], वंशानुचरित[४], मन्वन्तर[५], आख्यान[६], उपाख्यान[७], गाथा[८], कल्पशुद्धि सिद्धान्त[९], संहिता[१०], डामर[११], जामल[१२], तन्त्र[१३], जौतिश्चक्र[१४], (खगोल)[१५], भुवन-कोश (भूगोल)[१६], वेद[१७], पुराण[१८] इन अठारह विषयों का निरूपण करता है। इसी विषय रहस्य को सूचित करने के लिए व्यास ने पुराण शास्त्र को १८ भागों में विभक्त किया है। चूंकि महाभारत-ग्रन्थ पुराण समकक्ष है, साथ ही में मनुष्यचरित्र के साथ साथ इस में पुराणोक्त १८ विषयों का भी विशद निरूपण हुआ है, इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर व्यास ने महाभारत के भी १८ पर्व

रक्खे हैं। गीताशास्त्र भी इसी ऐतिह्यमर्य्यादा से आक्रान्त है, इसलिए गीता के भी १८ ही अध्याय रक्खे गए हैं।

अपिच १८ संख्या विजयभाव से सम्बन्ध रखती है। पाठकों को यह विदित है कि यदि भगवान् की ओर से अर्जुन को गीतोपदेश न होता तो पाण्डवों का जय असम्भव था। पाण्डव विजय का मुख्य श्रेय एकमात्र गीताशास्त्र को ही है। इस जयभाव को सूचित करने के लिए भी ऐतिहासिक दृष्टि से गीता में १८ अध्यायों का समावेश करना न्याय प्राप्त था। तात्पर्य्य कहने का यही है कि शास्त्रों में जो संख्याक्रम रक्खा गया है, उस में अवश्य ही कोई न कोई गुप्त रहस्य प्रतिष्ठित है। कल्पना रसिकों के लिए यह संख्याविज्ञान जहां केवल कल्पना, किंवा कल्पना (पीडित-होना) है, वहां एक वैज्ञानिक की दृष्टि में संख्याविज्ञान परम आवश्यक, अतएव सर्वथा उपादेय तत्त्व है।

१—श्लोकसंख्यारहस्य

वैज्ञानिक दृष्टि से १८ अध्यायों का विशेष महत्त्व नहीं है। फलतः इस क्रम की उपेक्षा कर समष्टिरूप से गीताश्लोकों का संख्या रहस्य ही ज्ञेय कोटि में प्रविष्ट रह जाता है। गीताशास्त्र आत्मा का स्वरूप बतलाता हुआ विश्वस्वरूप की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करता है। "**भगः (वैराग्य)—भगः (ज्ञान)—भगः (ऐश्वर्य्य)—भगः (धर्म्म)**" यह चारों आत्मविभूतिएं हैं। "**क्लेशः (आसक्ति)—क्लेशः (मोह)—क्लेशः (अस्मिता)—क्लेशः (अभिनिवेश)** यह चारों विश्व के मूलाधार हैं। संसार एक प्रकार का **युद्धक्षेत्र है, कलहभूमि है, नानात्व** (भिन्नता) की प्रतिष्ठा है। परस्पर में राग-द्वेष रखना, पुत्र-कलत्र-संपत्ति आदि की तृष्णा के पीछे अनुधावन करते रहना, अहोरात्र मृगमरीचिका के पीछे पड़ते हुए अशान्त बने रहना, यही मृत्युप्रधान दुःखमय विश्व का प्रातिस्विक स्वरूप है। ठीक इस के विपरीत आत्मा एक प्रकार का **शान्तिक्षेत्र है,** इस में कलह की आत्यन्तिक निवृत्ति है, एकत्व का साम्राज्य है।

"आज ऐसा हुआ, कल ऐसा होगा। आज यह करना है, कल यह करना है" इसी

विश्व पूर्ण है, इसलिए यह ऊन है। आत्मा ऊन है, इसलिए यह पूर्ण है। पूर्ण विश्व में आगे विकास का अभाव है, *जैसा बन गया, सदा के लिए वैसा ही बन गया। चूंकि विश्व में विकास का अभाव है, अतएव यह पूर्ण विश्व अपूर्ण है। यही पूर्णता, किन्तु ऊनता, दूसरे शब्दों में शून्यता बतलाने के लिए विश्व से सम्बन्ध रखने वाली श्लोकसंख्या का ६-४ यह क्रम रक्खा गया है। ६-४ की समष्टि १० है, यह पूर्ण संख्या है, इसमें आगे विकास का अभाव है। अतएव व्यवहारदृष्टि से जहां यह संख्या पूर्ण है, वहां विज्ञानदृष्टि से यह अपूर्ण बनती हुई, ऊन, किंवा शून्य है। इसी आधार पर विश्वतत्त्व के निरूपक नास्तिक दर्शन ने विश्व का-"**शून्यं-शून्यं**" यह लक्षण किया है। "**क्षरः सर्वाणि भूतानि**" इस गीता सिद्धान्त के अनुसार भी विश्व भौतिक है। भूत पदार्थ द्रव्य है, "**गुणकूटो द्रव्यम्**" इस आस्तिक सिद्धान्त के अनुसार गुण का समूह ही द्रव्य है। क्रिया तत्त्व **नास्ति-अस्ति-नास्ति**भावों के सम्बन्ध से नास्तिसार है। नास्तिभाव ही शून्य है, यही मृत्युतत्त्व है, यही विश्व का प्रातिस्विक रूप है। इन्हीं सब कारणों से हम विश्व को अवश्य ही शून्य मानने के लिए तय्यार हैं। यही अवस्था १० संख्या की है। १० पर संख्या समाप्त है, आगे विकास का अभाव है। क्योंकि-"**न्यूनाद्धि प्रजाः प्रजायन्ते**" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्रजनन कर्म्म न्यूनभाव से ही सम्बन्ध रखता है।

उधर आत्मा विकास की मूलप्रतिष्ठा है। आत्मा के इसी विकासभाव को सूचित करने के लिए तत्प्रतिपादक श्लोकों का ६-३-६ यह क्रम रक्खा गया है। इस में मध्य की ३ संख्या प्रधान है। मध्यस्थ तत्त्व ही विज्ञानदृष्टि में प्रधान माना गया है। मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा त्रिकल है। यह भौतिक अपूर्ण विश्व के गर्भ में निगूढ रहता है, अतएव इसे "**गूढोत्मा**" कहा जाता है। विश्व का स्वरूप **माया-कला-गुण-विकार-आवरण-अञ्जन** इन ६ परिग्रहों से सम्पन्न हुआ है, जैसाकि पूर्व के **विषयविभागप्रदर्शन** प्रकरण में विस्तार से बतलाया

***इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्यान्तर्गत "याथातथ्येनार्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" इस मन्त्रभाष्य में देखना चाहिए।**

जाचुका है। इन्हीं ६ परिग्रहों के कारण विश्व षाट्कौशिक कहलाता है। मध्य में त्रिकल आत्मा है, इसके दोनों ओर, किंवा चारों ओर षाट्कौशिक विश्व का आवरण है। इधर भी विश्व, उधर भी विश्व, मध्य में आत्मा। इधर ६, उधर ६, मध्य में ३। यही तो "सर्वम्" है। ६-३-६ संख्याएं इसी रहस्य को हमारे सामने रखतीं हैं।

६-३ का संकलन ९ होता है। यह न्यून संख्या है, अतएव पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार यह पूर्ण संख्या है। संख्या में भी ९ संख्या पर ही पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार यह पूर्ण संख्या है। संख्या में ९ संख्या पर ही इतर संख्याओं का विश्राम माना गया है। पाठकों को स्मरण होगा कि **नामरहस्य** में हमनें "भगवद्गीताउपनिषत्" में ९ संख्या बतलाते हुए गीताशास्त्र की पूर्णता सिद्ध की थी। जिस प्रकार अपने नाम से गीताशास्त्र अपनी पूर्णता सिद्ध कर रहा है, उसी प्रकार विज्ञानप्रधान ६३६ श्लोकात्मक यह गीताशास्त्र (विज्ञानगीता) अपनी ६+३+६+(९) इस श्लोकसंख्या से भी अपनी सर्वशास्त्रता सिद्ध कर रहा है। उक्त संख्यारहस्य आगे के परिलेख से स्पष्ट हो जाता है।

प्रकारान्तर से संख्याविज्ञान का समन्वय कीजिए। ऐतिहासिक गीता के ६४ श्लोकों का रहस्य है–विश्व की धाराबाहिक नित्यता, एवं पूर्णता। **"पूर्णमन्यत् स्थानं, शून्यमन्यत् स्थानम्"** इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार एक ही आत्मा के पूर्ण-शून्य भेद से दो स्थान (दो रूप) माने गए हैं। वही आत्मा ज्योतिर्लक्षण रसदृष्टि से पूर्ण है, एवं वही वीर्य्यलक्षण बलदृष्टि से शून्य है। अमृतभाव पूर्ण है, मृत्युभाव शून्य है। **"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्"** इस वाजिश्रुति के अनुसार अन्तरान्तरीभाव सम्बन्ध से दोनों एकदूसरे में ओतप्रोत हैं। पूर्ण-शून्य दोनों एक ही स्थान में, एक ही बिन्दु (पॉइन्ट) में प्रतिष्ठित हैं। जहां पूर्ण (अमृतरस) है, वहीं शून्य (मृत्युबल) है। जहां शून्य है, वहीं पूर्ण है। इसी आधार पर ज्यौतिषशास्त्र ने शून्य को पूर्ण शब्द से व्यवहृत किया है। इसीलिए श्रुति ने पूर्णलक्षण ब्रह्म के लिए–**"नेति नेति"** कहा है। हम जो कुछ देख चुके, देख रहे, एवं देखेंगे, वह सब शून्य-पूर्ण का ही विजृम्भण है।

६+४ के संयोग से १० का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। १० संख्या का ही नाम पूर्ण-

विराट् है। यह **विराट्प्रजापति** ही अञ्जन नाम के अन्तिम परिग्रह से युक्त होकर **विश्वप्रजापति** का उपादान बनता है। (देखिए गी०भू० विषयवि०प्र० १७४ पृ०)। दूसरे शब्दों में **विकार**परिग्रहयुक्त **यज्ञप्रजापति** पर प्रतिष्ठित **आवरण**परिग्रहयुक्त विराट्प्रजापति ही **अञ्जन** परिग्रह को आगे कर विश्वरूप में परिणत हो रहा है।

१० के ९+० यह दो विभाग समझिए। इन दोनों में ९ का पूर्णभाव से सम्बन्ध है, एवं ० (बिन्दु) का शून्यभाव से सम्बन्ध है। यह शून्यभाव ही **योगमाया** का प्रातिस्विक रूप है। इसी योगमाया से सीमित बनता हुआ संख्यातीत वह आत्मतत्व ९ संख्या में परिणत होता हुआ विश्वमूर्त्ति बन रहा है। विश्व का जीवन योगमाया के आधार पर ही निर्भर है। योगमाया से अवच्छिन्न, नवसंख्यात्मक विश्व ही सुप्रसिद्ध **दशमहाविद्या** (दस भागों में विभक्त सृष्टिविद्या) का वैभव है, जैसा कि अन्यत्र (दशमहाविद्यारहस्य) निरूपित है।

बिन्दु का आधार मान कर उसके आगे १, २, ३, इस क्रम से ९ तक संख्या रखते जाइए। ९ पर यह संख्याक्रम समाप्त हो जायगा। जो बिन्दु अबतक इन संख्याओं के पीछे थी, वह आगे जायगी, १० का स्वरूप संपन्न हो जायगा। पुनः बिन्दु के आगे से १–२–३ यह क्रम चल पड़ेगा। इसी क्रम से संख्या का प्रस्तार करते जाइए। सर्वत्र, सभी प्रस्तारों में आप को ९ संख्यात्मक विराट्प्रजापति की ही प्रधानता मिलेगी। यही ९ संख्या उत्तरोत्तर नवीनरूप धारण करती हुई मिलेगी। इस संख्या के इसी नवीनरूप को लक्ष्य में रखकर ऋषियोंनें इसे **"नव"** शब्द से सम्बोधित किया है। नव शब्द नवीनता का ही सूचक है, जैसा कि–**"नवो नवो भवति जायमानो"** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। आगे आगे नवीनता, साथ ही में पूर्णता, यही तो इस न्यूनसंख्या की पूर्णता है। तभी तो ऋषियोंनें न्यून को पूर्ण कहा है। देखिए न ९ की क्रमिकधारा में भी परिणाम में ९ ही शेष रहते हैं। ९+९, १८ होते हैं, ८+१, ९ रहते हैं। यही क्रम २७–२+७।९, ३६–३+६–९, ४५–४+५–९, ५४–५+४–९, ६३–६+३–९, ८१–८+१–९, ९०–९–० इस प्रकार आगे है। आगे के परिलेखों से उक्त संख्या के पूर्ण–शून्यभावों का स्पष्टीकरण हो जाता है।

इतिहास प्रतिपादक महाभारत जय ग्रन्थ है, जैसा कि आरम्भ में कहा जाचुका है। पाण्डवविजय ही जयशब्द का मुख्य लक्ष्य है। इस विजय के द्वारा पाण्डवों ने, किंवा गीतोप-देश से उपदिष्ट अर्जुनने अपना खोया हुआ राज्यवैभव फिर से प्राप्त किया। राज्यवैभव विश्व-सम्पत्ति है। विश्वसम्पत्ति में १० अक्षर से सम्बन्ध रखने वाली ऊनभाव गर्भिता पूर्णता है। इसी ऐतिह्यपूर्णता को सूचित करने के लिए इतिहासगीता के श्लोकों का ६+४ (१०) यह क्रम रक्खा गया है। श्री-विजय-भूति तीनों हीं विश्व की पूर्ण विभूतिएं हैं। ६+४ यह दोनों ही संख्याएं उक्त संख्याक्रमानुसार पूर्णता की सूचक हैं। इस पूर्णता को सूचित करने के लिए जहां ६+४ इन दो संख्याओं का निर्देश है, वहां—"**योगमाया के अनुग्रह से हो नवाक्षर विराट् पुरुष का जन्म हुआ है। शून्य-पूर्णभाव की प्रवर्तिका योगमाया ही पूर्णता की, किंवा राज्यवैभव की जननी है**" इस रहस्य को ६+४ का संकलन रूप दशा-क्षर विराट् पुरुष सूचित करता है।

महाभारतवेत्ताओं को यह विदित है कि महाभारतान्तर्गत भीष्मपर्व के जिस अध्याय से (म०भा० भीष्मप० २५ अ० से) गीताग्रन्थ का आरम्भ हुआ है, उससे पहिले के २४ वें अध्याय में धृतराष्ट्र एवं सञ्जय का संवाद है। इससे पहिले के २३ वें अध्याय में दुर्गास्तोत्र का निरूपण है। युद्ध के लिए सन्नद्ध, रथारूढ अर्जुन को भगवान् आदेश देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—शुचिर्भूत्वा महाबाहो ! संग्रामाभिमुखे स्थितः।
पराजयाय शत्रूणां दुर्गास्तोत्रमुदीरय ॥१॥
संजयउवाच——एवमुक्तोऽर्जुनः संख्ये वासुदेवेन धीमता।
अवतीर्य रथात् पार्थः स्तोत्रमाह कृताञ्जलिः ॥२॥
(म० भीष्मप० २३ अ० । २-३श्लो०)।

उक्त उद्धरणों से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि युद्धारम्भ से पहिले विश्वसम्पत् की अधिष्ठात्री, योगमायारूपिणी जगन्माता दुर्गा की स्तुति भगवान्ने आवश्यक समझी है। इस स्तुतिपाठ से व्यास यही सूचित करना चाहते हैं कि आगे जाकर अर्जुन जिस विराट्सम्पत्ति को

प्राप्त करना चाहता है, उस की मूलप्रतिष्ठा योगमाया ही है । अर्जुन भगवदादेश को शिरोधार्य कर जगन्माता की स्तुति करता है ।

स्तवानन्तर योगमाया वरप्रदान करती हैं। वरप्राप्त्यनन्तर संजय-धृतराष्ट्र का संवादाध्याय हमारे सामने आता है । संवादाध्याय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही **"धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे"** इत्यादिरूप से चतुःषष्टिश्लोकात्मिका ऐतिहासिक गीता का आरम्भ हो जाता है। इन ६४ श्लोकों की संख्या सूचित करती है कि—**"महाभारत समर में गीतोपदेश के प्रभाव से अर्जुन ने विराट् सम्पत्ति प्राप्त की थी। भविष्य में भी जो व्यक्ति इस उपदेश का अनुगमन करेगा, वह विराट्सम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ होगा"** ऐतिहासिक गीता के ६४ श्लोक ही क्यों रक्खे गए ? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

ऐतिहासिक गीता के अनन्तर विज्ञानगीता का आरम्भ होता है । इसमें ६३६ श्लोक हैं । ज्ञान-विज्ञान के समन्वय प्रदर्शन के लिए ही उक्त संख्याक्रम रक्खा गया है । ज्ञानपक्ष का प्रतिसंचरभाव से, एवं विज्ञानपक्ष का सञ्चरभाव से सम्बन्ध है । ज्ञान आत्ममय है, विज्ञान विश्वमय है । विश्व एवं आत्मा की समष्टि ही-**'सर्वम्' है** । इस सर्वतत्त्व का निरूपण करने वाला गीताशास्त्र अवश्य ही सर्वशास्त्र है ।

आत्मा एवं विश्व दोनों के विवेक करने से हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि आत्मा त्रिकल है, एवं वही आत्मा विश्वमूर्ति बन कर षट्कल है । विशुद्धरूप से **मनः-प्राण-वाङ्मय** बनता हुआ त्रिकल **है,** सृष्टिदशा में मनः-प्राण-वाङ्मूर्त्ति इस सृष्टिसाक्षी त्रिकल आत्मा के मन से **रूप** का, प्राण से **कर्म्म** का, एवं वाक् से **नाम** का विकास होता है । नाम-रूप-कर्म इन तीन भावों को उत्पन्न कर वह त्रिकल आत्मा-**"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"** इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त तीनों भावों में प्रविष्ट हो जाता है । यही इसका सोपाधिक सृष्टरूप है। आत्मा के इस सृष्टरूप में **मनः-प्राण-वाक्-रूप-कर्म्म-नाम** यह ६ कलाएं हैं । षट्कल

यही सृष्टरूप "**विश्व**" नाम से प्रसिद्ध है। निरुपाधिक आत्मा आत्मा है, यह त्रिकल है। सोपाधिक वही आत्मा विश्व है, यह षट्कल है। अपने षट्कल सोपाधिक रूप में वह निरुपाधिक त्रिकल व्याप्त हो रहा है। सोपाधिक विश्व की ६ कलाएं उस ओर, ६ कलाएं इस ओर, मध्य में त्रिकल आत्मा। उधर षट्कल विश्व, इधर षट्कल विश्व, मध्य में त्रिकल आत्मा। ६-३-६ का यही मौलिक रहस्य है।

प्रकारान्तर से संख्याक्रम का समन्वय कीजिए। आत्मा से विशुद्ध अव्ययपुरुष का ग्रहण कीजिए। वह विशुद्ध अव्ययपुरुष अपने प्रतिबिम्बरूप से आनन्दविज्ञानलक्षण **ज्ञानात्मा**, मनोलक्षण **कामात्मा**, प्राण-वाक् लक्षण **कर्म्मात्मा** भेद से त्रिकल है। यही इसका निरुपाधिक रूप है। आगे जाकर इसमें सोपाधिक विश्वरूप ६ भाव और उत्पन्न हो जाते हैं। **मनः-प्राण-वाक्** पहिला सोपाधिक रूप है, **वाक्-आप-अग्नि** दूसरा सोपाधिक रूप है। इन ६ ओं में मनः-प्राणवाङ्मय सोपाधिकरूप विश्वात्मा है, वाक्-आप-अग्निमय दूसरा सोपाधिकरूप विश्व है। विश्व उसका शरीर है विश्वात्मा इस विश्वशरीर का आत्मा है। विश्व-विश्वात्मा एक वस्तु है। अतः इस षण्मूर्ति विश्व-विश्वात्मा को हम अवश्य ही विश्व शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। आनन्द-विज्ञान-मनोमय निरुपाधिक आत्मा असंगरूप से विश्व में व्याप्त है। यह त्रिकल मध्य में है, दोनों ओर षट्कल विश्व का आवरण है।

अथवा प्रकारान्तर से देखिए। मनः-प्राण-वाङ्मय विश्वात्मा के भी मनः-प्राण-वाक् नाम-रूप-कर्म्म यह ६ रूप हैं। एवं वाक्-आपो-अग्निमय विश्व के भी अमृत-मत्यु भेद से ६ ही रूप हैं। वाक्-आप अग्नि को ही शुक्र कहा जाता है। तीन ही अमृतशुक्र हैं, तीन हीं मर्त्यशुक्र हैं। आनन्द-विज्ञान-मनोमय, दहराकाशस्थ त्रिकल निरुपाधिक आत्मा के उस ओर सोपाधिक विश्वषट्क है। उधर भी ६ हैं, इधर भी ६ हैं, मध्य में स्वयं त्रिकल निरुपाधिक आत्मा है। इसके अतिरिक्त माया-कलादि ६ परिग्रहों के सम्बन्ध से भी ६३६ की उपपत्ति मानी गई है, जिसका कि दिग्दर्शन प्रकरणारम्भ में ही कराया जाचुका है।

उक्त संख्या क्रम हमें आदेश करता है कि—

> "आत्मज्ञानलक्षण शाश्वत आनन्द की प्राप्ति के लिए तुम्हें विश्व का परित्याग करने की आवश्यकता नहीं है । तुम विश्व में रहते हुए भी यथावर्ण, यथा आश्रम निष्काम बुद्धि से कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त रहते हुए, मध्यस्थ आत्मा को अपना प्रधान लक्ष्य बनाते हुए अपना जीवन धन्य बना सकते हो" ।

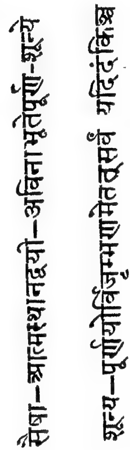
सम्पूर्ण विज्ञान गीता का यही मौलिक रहस्य है। इसी रहस्य को परोक्षविधि से सूचित करने के लिए उन वैज्ञानिकों ने (भगवान् व्यास ने) विज्ञानगीता के ६३६ श्लोक बनाते हुए, हमरे सामने ६-(विश्व) ३—(आत्मा) ६— (विश्व) यह क्रम रक्खा है। विज्ञानगीता की ६३६ श्लोकसंख्या क्यों रक्खी गई ? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है ।



शून्यपूर्ण—पूर्णाभावपरिलेखः

मृत्युः	० ←——→ ०	अमृतम्
शून्यमन्यत्		पूर्णमन्यत्
शून्यमन्यत्	० ——→ १	पूर्णमन्यत्
शून्यमन्यत्	० ——→ २	पूर्णमन्यत्
शून्यमन्यत्	० ——→ ३	पूर्णमन्यत्
शून्यमन्यत्	० ——→ ४	पूर्णमन्यत्
शून्यमन्यत्	० ——→ ५	पूर्णमन्यत्
शून्यमन्यत्	० ——→ ६	पूर्णमन्यत्
शून्यमन्यत्	० ——→ ७	पूर्णमन्यत्
शून्यमन्यत्	० ——→ ८	पूर्णमन्यत्
शून्यमन्यत्	० ——→ ९	पूर्णमन्यत्
पूर्णमन्यत् अमृतम्	१ ——→ ०	शून्यमन्यत् मृत्युः

१०

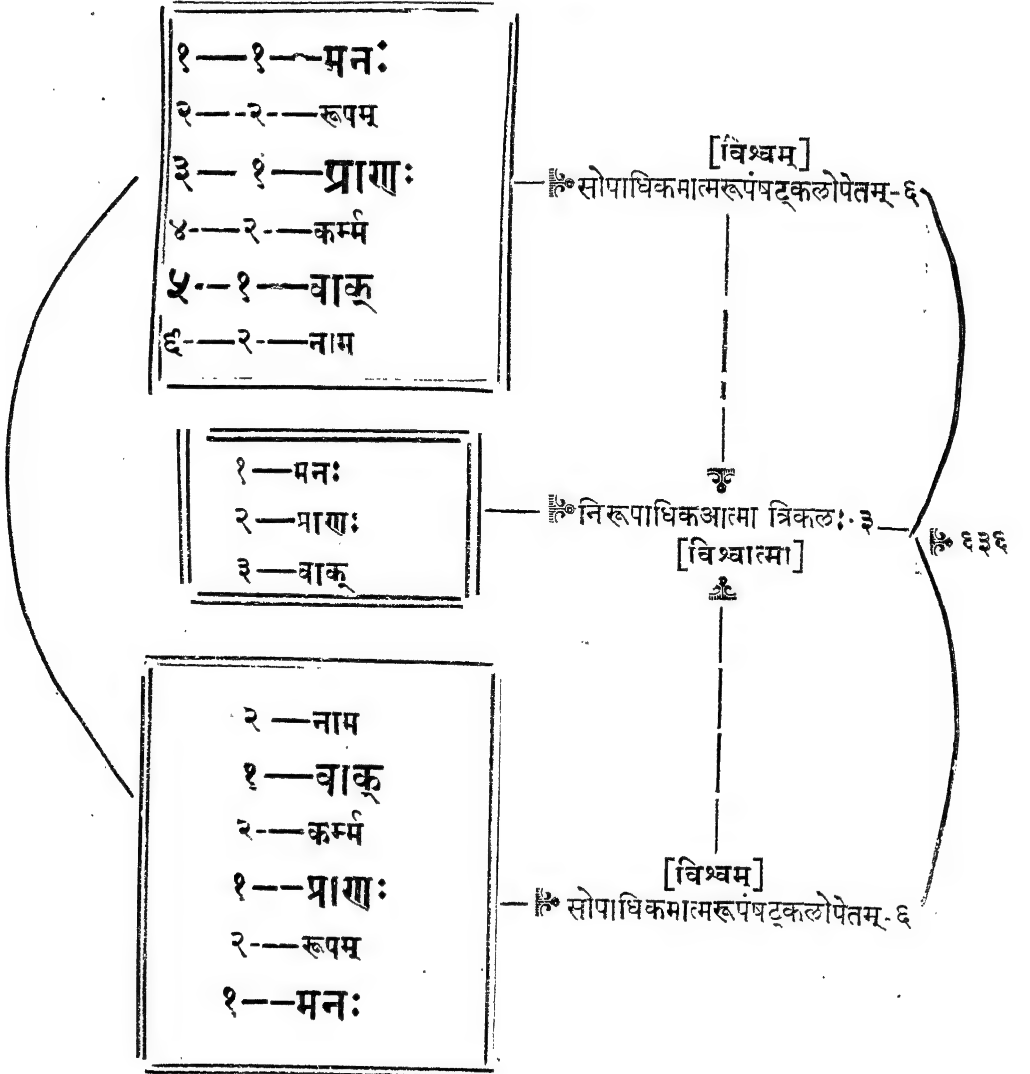


स एष शून्य—पूर्ण—पूर्ण—शून्यलक्षणो विराट्प्रजापतिर्नवकलोः योगमायावच्छिन्नोः विश्वाधारोः

विश्वमूर्त्तिः

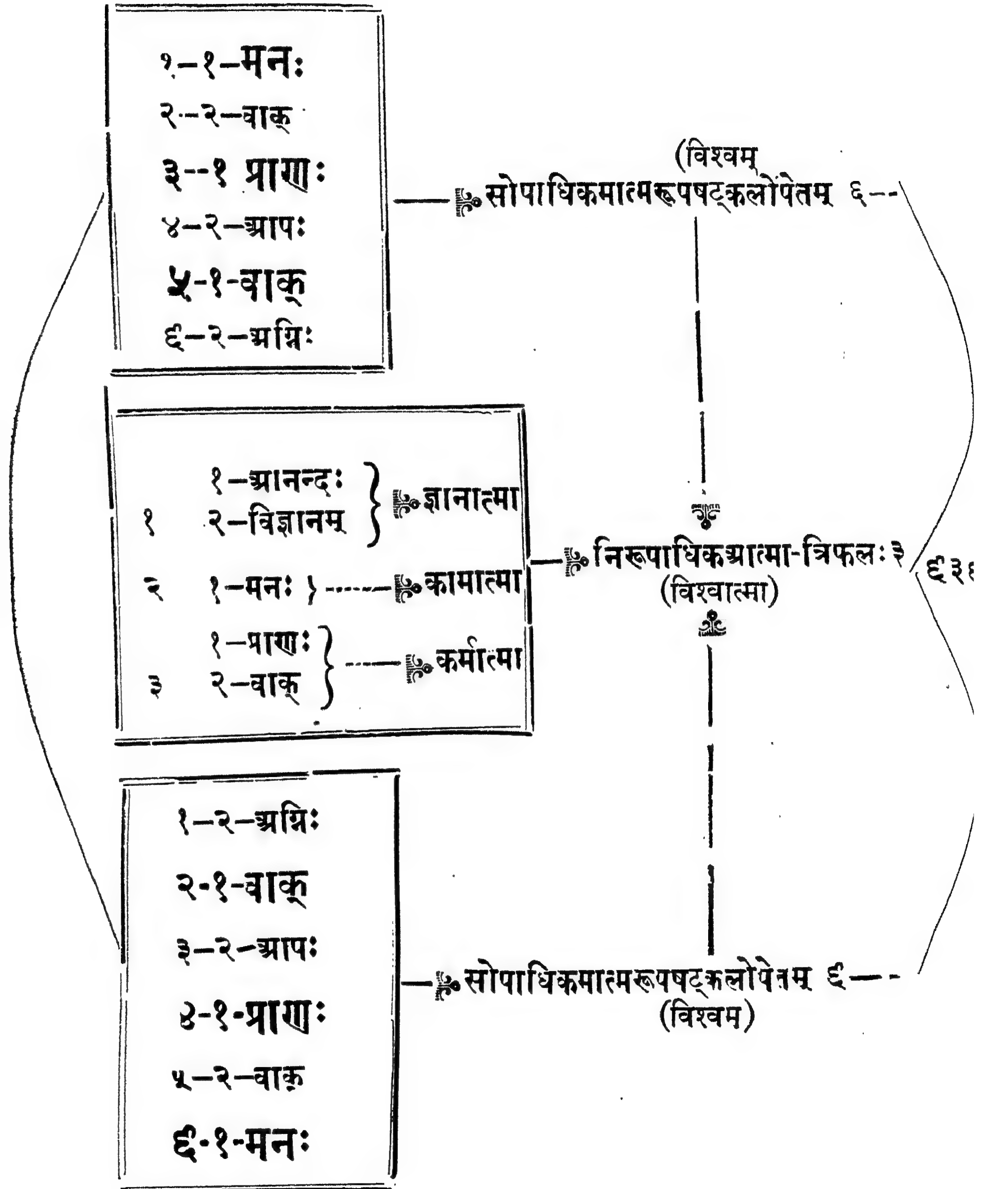


१—प्रथमोपपत्तिपरिलेखः



—:०:—

२—द्वितीयोपपत्तिपरिलेखः



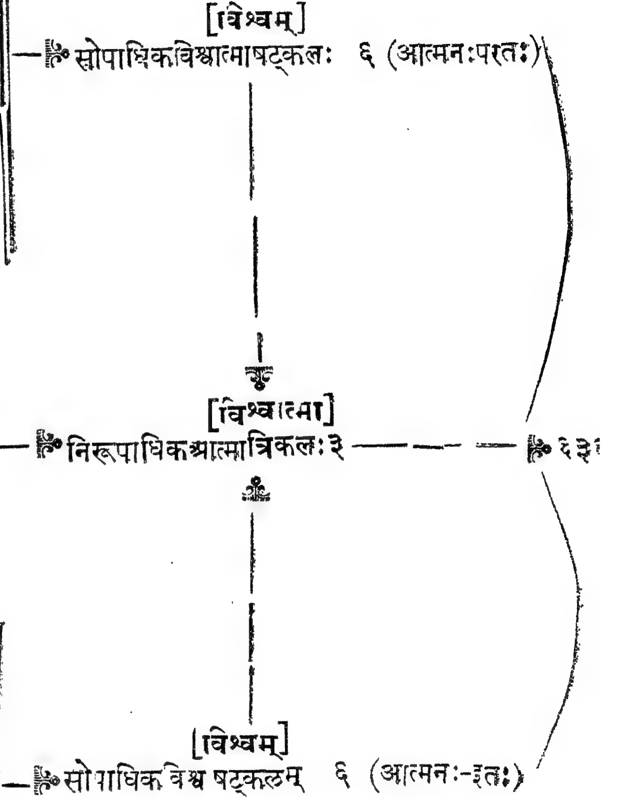
——०——

३—तृतीयोपपत्तिपरिलेखः

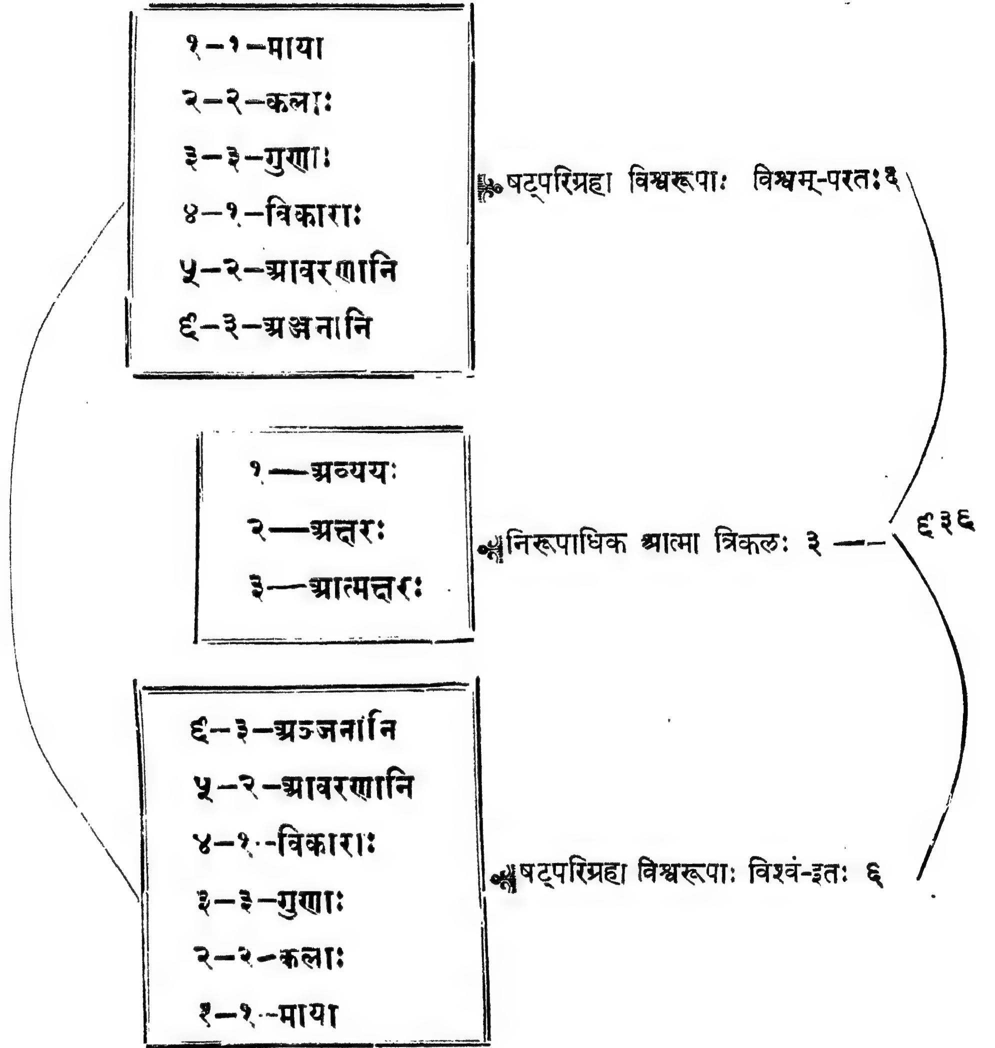
१—१—मनः
२—२—रूपम्
३—१—प्राणः
४—२—कर्म्म
५—१—वाक्
६—२—नाम

१—आनन्दः
२—विज्ञानम्
३—मनः

१—१—अमृतावाक्
२—२—अमृताआपः
३—३—अमृताऽग्निः
४—१—मर्त्यावाक्
५—२—मर्त्या आपः
६—३—मर्त्योऽग्निः



४—अन्तिमोपपत्तिपरिलेखः



ख.—द्वितीयप्रकरण

चातुर्विद्योपक्रम प्रकरण के अनन्तर २१६ श्लोकात्मक वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्त्तक राजर्षि-विद्या प्रकरण हमारे सामने आता है। इस में ८ उपनिषदें रक्खीं गईं हैं। गीताशास्त्र का मुख्य लक्ष्य अव्यय ब्रह्म, एवं बुद्धियोग है। यद्यपि गीता में चार प्रकार के बुद्धियोग, एवं चार प्रकार की आत्मविद्याओं का निरूपण हुआ है, परन्तु इन चारों में राजर्षिविद्या नाम की आत्मविद्या, एवं वैराग्यबुद्धियोग नाम का बुद्धियोग ही प्रधान है। शेष तीनों आत्मविद्याओं, एवं तीनों बुद्धि-योगों का परमत से सम्बन्ध है, एवं राजर्षिविद्यात्मक वैराग्य बुद्धियोग भगवान् का अपना मत है, जैसा कि—**"ये मे मतमिदं नित्यम्"—"इमं विवस्ते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्"** इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। ज्ञान का सांख्यनिष्ठा से सम्बन्ध है, यह कापिलनिष्ठा है। ऐश्वर्य्य का भक्तिनिष्ठा से सम्बन्ध है, यह राजनिष्ठा है। धर्म्म का कर्म्मनिष्ठा से सम्बन्ध है, यह हिरण्य-गर्भनिष्ठा है। यही लोकप्रसिद्ध **ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्म्मयोग** हैं। गीता से पहिले इन्हीं तीनों का साम्राज्य था। भगवान् नें इन तीनों से अतिरिक्त एक **अपूर्व बुद्धियोग** का आवि-ष्कार किया। वही बुद्धियोग **वैराग्यबुद्धियोग** नाम से प्रसिद्ध हुआ। लोकसंग्राहक भगवान् नें लोकप्रचलित उक्त कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञाननिष्ठा, सकामभक्तिनिष्ठा, एवं कामनामयी कर्म्मनिष्ठा का भी गीताग्रन्थ में समावेश किया, परन्तु संशोधन के साथ। ज्ञाननिष्ठा में कर्म्म का समावेश किया, भक्तिनिष्ठा में निष्कामभाव का, एवं कर्म्मनिष्ठा में फलासक्तित्याग का समावेश किया। वही संशोधित तीनों योग बुद्धियोग के समावेश से बुद्धियोगरूप में परिणत होगए।

उक्त चारों बुद्धियोगों का, एवं चारों आत्मविद्याओं का एकमात्र श्रेय राजर्षिविद्या, एवं वैराग्य बुद्धियोग को ही है। इसी विद्या, एव योग के आठ वितान हैं। चारों में इसी की छाप लगी हुई है, जैसा कि पाठक विज्ञानभाष्य में तत्तत् स्थलों में अनुभव करेंगे। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि गीताप्रतिपादित चतुर्विध आत्मविद्या, एवं चतुर्विध योग इन आठों की मूल-प्रतिष्ठा वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्त्तिका राजर्षिविद्या ही है। यही कारण है कि राजर्षिविद्या ने जहां वैराग्य-भगसम्बन्धनी आत्मविद्या, एवं वैराग्य बुद्धियोग का प्रधान रूप से निरूपण किया है, वहां

इसी प्रकरण में शेष तीनों विद्याओं, एवं तीनों योगों पर भी गौणरूप से दृष्टि डाली है। राजर्षिविद्या का आरम्भ के ६ अध्यायों में निरूपण हुआ है। इन ६ ओं अध्यायों में हीं पाठक यत्र तत्र सांख्यमूलक ज्ञानबुद्धियोग, भक्तिमूलक ऐश्वर्य्य बुद्धियोग, एवं कर्म्ममूलक धर्म्मबुद्धियोग का निरूपण देखेंगे, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

ज्ञानबुद्धियोगः—१–एषा तेऽभिहिता सांख्ये। (२।३९)। (सांख्यनिष्ठा)।

ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः–२–श्रद्धावान् भजते यो माम् (६।४७)। (भक्तिनिष्ठा)।

धर्म्मबुद्धियोगः—३–कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः। (३।२०)। (कर्म्मनिष्ठा)।

इस प्रकार वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्त्तिका हमारी यह राजर्षिविद्या नाम की पहिली विद्या चारों आत्मविद्याओं, एवं चारों बुद्धियोगों से युक्त बनती हुई गायत्रसम्पत्ति से (*८संख्या से) युक्त हो रही है। राजर्षिविद्या की इसी अष्टाक्षर (अष्टात्व)–सम्पत्ति को सूचित करने के लिए, दूसरे शब्दों में राजर्षिविद्या ही इतर तीनों आत्मविद्याओं का, एवं वैराग्यबुद्धियोग ही इतर तीनों बुद्धियोगों का मूल है, यह सूचित करने के लिए इस में ८ उपनिषदें रक्खीं गई हैं।

ग.–तृतीयप्रकरण—

बुद्धियोगप्रवर्त्तिका सिद्धविद्या ही तृतीयप्रकरणार्थ है। यह सांख्यनिष्ठा का ही संशोधित रूप है। सांख्यशास्त्र के मूलतत्त्व पुरुष एवं प्रकृति हैं। प्राधानिक लोग प्रकृति से विश्व की रचना मानते हैं, पुरुष को पुष्करपलाशवत् निर्लेप कहते हैं, जैसा कि उनके–"**प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाववन्निर्लेपः, किन्तु चेतनः**" इत्यादि सिद्धान्त से स्पष्ट है। तत्त्वसंख्यान ही प्रकृति का परिज्ञान है। तत्त्वसंख्यानसिद्ध प्रकृति का स्वरूप परिचय ही पुरुषपरिज्ञान का कारण

---

* "अष्टाक्षरा वै गायत्री" इस सिद्धान्त के अनुसार गायत्रीछन्द के आठ अवयव हैं। जहाँ जहां आठसंख्या, किंवा आठ अवयवों का समावेश रहेगा, छन्दोविज्ञान के अनुसार उन सब स्थलों को गायत्रसंपति से युक्त माना जायगा।"

बनता है। दूसरे शब्दों में तत्त्वसंख्यान (परिगणना) से ही प्रकृति-पुरुष का विवेक होता है। चूंकि पुरुष परिज्ञान तत्वसंख्यान पर निर्भर है। अतएव **"संख्यातः सिद्धं ज्ञानं"** इस निर्वचन के अनुसार इसे सांख्य कहा जाता है। स्वयं पुरुष सांख्य (ज्ञान), किंवा ज्ञानमूर्त्ति है। प्रकृति उसका तत्त्व है। इसी तत्त्व से विश्वभाव का विकास हुआ है। इस प्रकार इस सांख्यलक्षण ज्ञान के **पुरुष-प्रकृति** दो विवर्त्त हो जाते हैं। सांख्य की यही दो उपनिषदें (मूलप्रतिष्ठाएं) हैं। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए सांख्यनिष्ठात्मक सिद्धविद्याप्रकरण में २ उपनिषदें रक्खीं गईं हैं।

घ.—चतुर्थप्रकरण

ऐश्वर्य्यबुद्धियोगप्रवर्त्तिका राजविद्या ही चतुर्थप्रकरणार्थ है। यह भक्तिनिष्ठा का ही संशोधित रूप है। भक्तितत्व सदा त्रिकल ही होता है। भक्ति का ही दूसरा नाम उपासना है। इस उपासना में **उपास्य-उपासक-उपासनासाधन** यह तीन विभाग नित्य अपेक्षित हैं। बिना त्रित्व के भक्ति बन ही नहीं सकती। उपास्य ईश्वर है, उपासक जीव है।

योगभ्यास, ईश्वरप्रणिधान, परानुरक्ति आदि उपासना के साधन हैं। इन साधनों से उपासक उपास्य का भाग (भक्ति-अंश-अवयव) बनता हुआ, ईश्वर के ऐश्वर्य्य से युक्त होता हुआ भक्तिनिष्ठा प्राप्त कर लेता है। उपास्य ईश्वर अधिदैवत है, उपासनासाधन अधिभूत है, एवं स्वयं उपास्य अध्यात्म है। अधिभूत द्वारा अध्यात्म का अधिदैवत के साथ सम्बन्ध करा देना ही उपासना, किंवा भक्ति है। उपास्य की उपासना तभी सिद्ध हो सकती है, जब कि वह अपने कायिक-वाचिक-मानसभावों का धारणा-ध्यान-समाधिद्वारा उस त्र्यक्षर ईश्वर के साथ समन्वय करादे। कायिक-वाचिक-मानसिक तीनों भाव जीवसंस्था से सम्बन्ध रखते हैं। इस दृष्टि से उपास्य भी त्रिकल है। धारणा-ध्यान-समाधि तीनों उपासना के साधन हैं। इस दृष्टि से साधन भी त्रिकल हैं। एवं उपास्य ईश्वर भी त्रिकल ही है, जैसा कि नामरहस्यान्तर्गत भग-

चच्छन्दरहस्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है । इस प्रकार हमारा यह उपासना काण्ड उपास्य–उपासक–उपासनासाधन तीनों हीं दृष्टियों से त्रिकल बन जाता है । चूंकि राजविद्या इसी भक्तिनिष्ठा का स्वरूप हमारे सामने रखती है, एवं इस की उपनिषत् (मूलभित्ति) तीन हैं, अतएव इसमें तीन उपनिषदें रक्खीं गईं हैं ।

———:०:———

ङ—पञ्चमप्रकरण

धर्म्मबुद्धियोगप्रवर्त्तिका आर्षविद्या ही पञ्चमप्रकरणार्थ है। यह कर्म्मनिष्ठा का ही संशोधित रूप है । विश्व में जितनें भी जड़-चेतन पदार्थ हैं, सबके कर्म्म नियत हैं । इन नियत प्राकृतिक कर्म्मों को ही विज्ञानभाषा में "**धर्म्म**" शब्द से सम्बोधित किया गया है । कर्म्म ही उस पदार्थ का धर्म्म है, कर्म्म ही उस पदार्थ को स्वस्वरूप में धारण किए रहता है । जब मनुष्य कर्म्म (चेष्टा) शून्य होजाता है तो मनुष्य का स्वरूप उत्क्रान्त हो जाता है । कर्म्म ने ही पदार्थों को धारण कर रक्खा है, अतएव वैज्ञानिकोंनें धर्म्म का-"**धारणाद्धर्म्ममित्याहुः**" यह लक्षण किया है ।

अतएव विज्ञानप्रधान भारतीय ग्राम्य प्रजा में भी "**आदमी का करम (कर्म्म) ही उसका** धरम (धर्म्म) **है**" "**करम–धरम किया, या नहीं**" इत्यादि किंवदन्तिएं प्रचलित हैं । कर्म्म ही धर्म्म है, एवं धर्म्म ही विश्व की मूलप्रतिष्ठा है, जैसा कि–"**धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा**" इत्यादि वचन से स्पष्ट है ।

सम्पूर्ण विश्व कर्म्मप्रधान बनता हुआ धर्मप्रधान है–"**कर्म्मप्रधान विश्व करि राखा**" (तुलसी) । सृष्टिविज्ञान के अनुसार भी आत्मा जहां ज्योतिर्लक्षण बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, वहां विश्व वीर्य्यलक्षण बनता हुआ कर्म्मप्रधान है । कर्म्म ही विश्व का उपादान कारण है । उपादान कारण अपने कार्य से अभिन्न है, इस दृष्टि से कर्म्म ही विश्व है । कर्म्म चूंकि धर्म्म है, अतएव धर्म्म ही विश्व है । धर्म्ममूर्त्ति, किंवा कर्म्ममूर्त्ति विश्व ही उस सत्यमूर्त्ति, किंवा ज्ञानमूर्त्ति विश्वात्मा का वैभव है, विभूति है, महिमा है, यश है । सत्य ईश्वर की यह धर्म्ममयी-लोकविभूति

भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम्-भेद से सात विभागों में विभक्त है। यह सात-लोक ही सात वितस्ति हैं। इन्हीं सात वितस्तियों के सम्बन्ध से उस सत्य सर्वभूतान्तरात्मा ईश्वर को **"सप्तवितस्तिकाय"** कहा गया है। धर्म्मरूप विश्व के यही सात पर्व हैं। इन सात व्यष्टियों के आधार पर ही समष्टिधर्म्म प्रतिष्ठित है। समष्टिधर्म्म की यही सातलोक सात उपनिषदें (मूलप्रतिष्ठाएं) हैं। आर्षविद्या में इसी धर्म्मलक्षण कर्म्म का निरूपण है। चूंकि धर्म्म की उपनिषदें ७ हैं, अतएव तत्प्रतिपादिका इस आर्षवद्या में सात ही उपनिषदें रक्खीं गईं हैं।

च.-षष्ठप्रकरण

सर्वान्त के १४ श्लोकात्मक **चातुर्विद्योपसंहार** नाम का ६ ठा प्रकरण हमारे सामने आता है। मूलब्रह्म ही तूलरूप में परिणत होता है, यह प्रकरणारम्भ में कहा जाचुका है। मूल आत्मा ही तूल बनकर **"सर्वम्"** बन गया है। मूलावस्था में वही आत्मब्रह्म एक है, तूलावस्था में वही आत्मब्रह्म तीन है। आत्मा एक होकर तीन बनता है-सृष्टिदशा में। आत्मा तीन होकर एक बनता है-मुक्तिदशा में, जैसा कि-**"आत्माउ एकः सन्नेतत्त्रयम्"-त्रयं सदेकमयमात्मा"** इत्यादि **बृहदारण्यक** श्रुति से स्पष्ट है। मूल आत्मा के सोपाधिक वे ही तीनों विवर्त्त क्रमशः **आत्मा-पदं-पुनःपदं**-इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

प्रत्येक वस्तु में आप इन तीनों का साक्षात्कार कर सकते हैं। उदाहरण के लिए अध्यात्मसंस्था को ही लीजिए। हृदय में आत्मा प्रतिष्ठित है। शरीर पद है, इसी में हृदयस्थ उक्थरूप आत्मा अर्करूप से प्रपन्न है। आत्मप्रपत्ति के कारण ही शरीर को पद कहा जाता है। इस स्थूलशरीर को केन्द्र बनाते हुए बड़ी दूर तक चारों ओर एक प्राणमण्डल और रहता है। इसी प्राणमण्डल को महिमामण्डल कहा जाता है। हृदयस्थ आत्मा पहिले शरीर में आकर, पुन महिमारूप से इस प्राणमण्डल में प्रपन्न होता है, अतएव इसे पुनःपद कहा गया है। इन तीन विवर्त्तों का मूल कारण आत्मा की तीन कलाएं हैं। स्वयं मनःप्रधान आत्मा हृदय में प्रति-

ष्ठित रहता हुआ आत्मा कहलाता है। प्राणप्रधान आत्मा पद कहलाता है, एवं वाक्प्रधान वही आत्मा पुनःपद कहलाता है। यही आत्मा के तीन तूलरूप हैं।

पृष्ठविद्या के अनुसार आत्मा **हृत्पृष्ठ** है, पद **अन्तःपृष्ठ** है, एवं पुनःपद **बहिःपृष्ठ** है। **वेदविद्या** के अनुसार आत्मा **ब्रह्ममय** है, पद **यजुर्मयय** है, पुनःपद **शिवमय** है। **अक्षरविद्या** के अनुसार आत्मा **ब्रह्ममय** है, पद **विष्णुमय** है, पुनःपद **शिवमय** है। **प्रणवविद्या** के अनुसार आत्मा **अकार** है, पद **उकार** है, पुनःपद **मकार** है। इन तीनों सोपाधिक, अतएव मृत्युरूप आत्मविवर्त्तों से अतिरिक्त चौथा (तुरीय) निरुपाधिक विशुद्ध एक आत्मा अर्द्धमात्रा, किंवा अमात्रा है।

प्रकृत में इस आत्मविभूति से हमें बतलाना यही है कि ज्ञानदशा में आत्मा के तीनों विवर्त्त एक बन जाते हैं, यही मुक्तिदशा है। एवं विज्ञानदशा में वह एक ही तीनरूप धारण कर लेता है, यही सृष्टिदशा है। विशुद्ध विज्ञान विश्वबन्धन का कारण है, विशुद्ध ज्ञान विश्व-सम्पत्ति का शत्रु है। अतएव दोनों ही पक्ष अपूर्ण हैं। होना यह चाहिए कि सांसारिक वैभव से भी हम वञ्चित न रहें, साथ ही में बन्धन में भी न पड़ें। यह तभी सम्भव है, जब कि हम ज्ञान को मूल में रखते हुए विज्ञानमय विश्व में प्रवृत्त हों। इस एकत्व लक्षण ज्ञानयुक्त त्रित्व-लक्षण विज्ञान की उपासना से न संसार का वैभव हमसे दूर रहता, न आत्मसम्पत्ति से हम वञ्चित रहते। भगवानने अपने विज्ञानगीताशास्त्र द्वारा **"ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः"** कहते हुए इस सम्बन्ध में हमारे लिए सचमुच एक अपूर्व मार्ग रक्खा है। अपनी विज्ञानगीता के उपक्रम उपसंहार से भगवान्ने यही सिद्ध किया है।

उपक्रम में १ उपनिषत् है। इससे भगवान् यह आदेश कर रहे हैं कि तुम जिस कर्म्म में प्रवृत्त हो रहे हो, उसके मूल में ज्ञानलक्षण एकब्रह्म को प्रतिष्ठित करो। उपसंहार प्रकरण में ३ उपनिषत् है। इससे भगवान् यह सूचित कर रहे हैं कि उस एक ज्ञान पर ही विश्वास मत करो। अपितु त्रिकल विज्ञानभाव पर उस एक का पर्यवसान करो। एक को मूल मान कर तीन की आराधना करो। ज्ञान को आधार बनाकर विज्ञान का अनुगमन करो। यही श्रेयः पन्था है। उपसंहार प्रकरण में ३ उपनिषदें क्यों रक्खीं गईं? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

———o———

छ.—समष्टिरहस्य

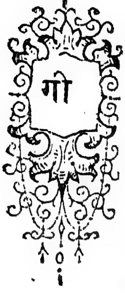
संभूय उक्त ६ प्रकरणों की २४ उपनिषदें हो जातीं हैं । २४ संख्या से आत्मा एवं विश्व (ज्ञान-विज्ञान) दोनों परिगृहीत हैं । सृष्टिविज्ञान के अनुसार गायत्री को ही विश्व की मूलप्रतिष्ठा माना गया है । कारण इसका यही है कि वाक् तत्व की उपनिषत् अग्नि है । अग्नि गायत्रीछन्द से छन्दित है । अग्नि में सोमाहुति होने से ही विश्व का निर्म्माण हुआ है—'अग्नीषोमात्मकं जगत्" । वाङ्मयी, किंवा अग्निमयी गायत्री के २४ अवयव हैं । इसी रहस्य को सूचित करने के लिए गायत्रीतत्त्वप्रतिपादक गायत्रीछन्द में २४ अक्षर रक्खे गए हैं । इस चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री से अभिनीयमान गायत्री ही यह सब कुछ बना है, जैसाकि उपनिषच्छ्रुति कहती है—

"गायत्री वा इदं सर्वं भूतं, यदिदं किञ्च । वाग्वै गायत्री । वाग्वा इदं सर्वं भूतम् । गायति च, त्रायते च" (छां० उप० ३।१२।१) ।

अग्नितत्व गायत्री है । अग्नि सदा सोमगर्भित रहता है । क्योंकि अन्नाद अग्नि अपने गर्भ में अन्नसोम को प्रतिष्ठित किए बिना एक क्षण भी स्व-स्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, अतएव गायत्राग्नि को हम सोमगर्भित अग्नि कहने के लिए तय्यार हैं । फलतः गायत्री मर्य्यादा में अग्नि-सोम दोनों का समावेश सिद्ध हो जाता है । इन दोनों तत्वों से ही क्रमशः सूर्य्य-चन्द्र का विकास हुआ है । सूर्य्य अग्निप्रधान है, चन्द्रमा सोमप्रधान है । सूर्य्य ही बुद्धि बनता है, चन्द्रमा ही मन बनता है । बुद्धि ज्ञानप्रधाना है, मन कर्मप्रधान है । अतएव मनोमय प्रज्ञानात्मा को कर्त्ता कहा जाता है, एवं विज्ञानात्मा कारयिता नाम से प्रसिद्ध है । ज्ञान ही कर्म्मप्रवृत्ति का हेतु है । ज्ञान आत्मा है, कर्म्म विश्व है । आत्मा अग्निप्रधान है, विश्व सोमप्रधान है । दोनों की समष्टि 'सर्वम्' है, यही चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री है । विज्ञानगीताने इन्हीं दोनों का निरूपण करते हुए अपनी सर्वशास्त्रता सिद्ध की है । इसी सर्वभाव, किंवा पूर्णभाव को सूचित करने के लिए विज्ञानगीता में समष्टिरूप से २४ उपनिषदें रक्खीं गईं हैं ।

उक्त संख्याविज्ञान यहीं समाप्त नहीं हो जाता । उपनिषदों के उपदेश, उपदेशों के अवान्तर प्रकरण अवान्तर, प्रकरणों के श्लोक, श्लोकों के वाक्य, वाक्यों के पद, पदों के अक्षर, अक्षरों के वर्ण प्रत्येक की संस्था में कुछ न कुछ मौलिक रहस्य रक्खा गया है । मूलविज्ञान भाष्य में यत्र-तत्र इस सम्बन्ध में हम हमारी ओर से तो थोड़ा बहुत प्रकाश डालेंगे ही, परन्तु पाठकों को स्वयं भी इस सम्बन्ध में अपने बुद्धियोग से काम लेना चाहिए ।

—— ० ——


ताशास्त्र क्लेशनिवृत्ति के लिए प्रवृत्त हुआ है। वह आत्मा को चारों क्लेशों से पृथक् कर उसे शाश्वत आनन्द में प्रतिष्ठित कर देता है। बात सुनने में प्रिय होती हुई भी आक्षेप से नहीं बच सकती। भारतीय विद्वानोंने हमारे सामने आत्मा का जैसा स्वरूप रक्खा है, उसके आधार पर तो आक्षेप और भी दृढमूल बन जाता है। नित्यानन्दघनमूर्त्ति आत्मा दुःख कैसे पाता है? सचमुच यह एक जटिल समस्या है। आत्मा स्वस्वरूप से व्यापक है, निर्धर्म्मक है, रसैकघन है। फिर इसके साथ दुःख का सम्बन्ध कैसा? उत्तर बहुत ही सरल है। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" यह छोटी सी श्रुति ही उक्त जटिल समस्या को दूर करने के लिए पर्य्याप्त है। आत्मा के प्रातिस्विक स्वरूप का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति—"**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म—नेह नानास्ति किञ्चन**" यह सिद्धान्त हमारे सामने रखती है। आत्मा सजातीय, विजातीय स्वगत भेद शून्य होता हुआ सर्वथा एकरस है। वह सर्वथा निर्लेप है। उस का विश्वसृष्टि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। न वह भोक्ता है, न कर्त्ता है। उस व्यापक आत्मब्रह्म में हृदय नहीं, हृदयाभाव से मन नहीं, मन के अभाव से कामना नहीं, कामना के अभाव से उससे विश्व की प्रवृत्ति संभव नहीं—एक सिद्धान्त।

अब वही उपनिषत् उक्त सिद्धान्त से ऐकान्तिक विरोध रखने वाले "**ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्**" "**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**" (यह सम्पूर्ण विश्व आत्ममय है—ब्रह्म ही यह सब कुछ बना है), ऐसे सिद्धान्त हमारे सामने रखती है। साथ हीं में वही वेदशास्त्र आत्मा का—"**यस्य यदुक्थं सत्, ब्रह्म सत्, साम स्यात् स तस्यात्मा**" यह लक्षण करता हुआ आत्मा को उक्थ (प्रभवस्थान), ब्रह्म (प्रतिष्ठास्थान), साम (परायणस्थान) रूप बतलाते हुए आत्मा को ही नानाभावमूलक, किंवा नानाभावरूप विश्व का संचालक बतला रहा है।

इसीप्रकार यदि और भी गहरा विचार किया जाता है तो आत्मस्वरूप प्रतिपादक स्वयं उपनिषदों में हीं अनेक भ्रान्तिएं उपलब्ध होने की आशङ्का हो जाती है। सचमुच बाह्यदृष्टि से विचार करने पर ऐसे विरोध हमारे सामने आते हैं, परन्तु जब हम विज्ञान का आश्रय लेते

हुए अन्तर्दृष्टि से विचार में प्रवृत्त होते हैं तो सारी समस्याएं हल हो जातीं हैं, विरोध स्मृतिगर्भ में विलीन हो जाता है। इस विरोध का परिहार अश्वत्थात्मा के स्वरूप निरूपण द्वारा जैसा गीता-शास्त्र में हुआ है, वैसा अन्य शास्त्रों में उपलब्ध नहीं होता।

यदि आत्मा विशुद्ध रसमूर्त्ति (विशुद्ध ज्ञानमूर्त्ति) ही होता, तब तो विरोध का अवसर आसकता था। परन्तु गीताने आत्मा को उभययुक्त मानकर सारे संशय छिन्न भिन्न कर डाले हैं। आत्मा के वे ही दोनों पर्व रस-बल, आभू-अभ्व, ज्योति-वीर्य, अमृत-मृत्यु, ज्ञान-कर्म्म, ब्रह्म-माया, पुरुष-- प्रकृति, सत्--असत्, इत्यादि रूप से भिन्न भिन्न स्थलों में भिन्न भिन्न नामों से सम्बोधित हुए हैं। भांति दो हैं, परन्तु सत्ता एक है। ऐसी स्थिति में सत्ताभेदमूलक द्वैतवाद को प्रविष्ट होने का अवसर नहीं मिलता। साथ ही में रस सर्वथा निष्क्रिय है, तो बल नित्य कुर्वद्रूप है, नानाभावापन्न है। इस बल की अपेक्षा से "ब्रह्मैवे-दं सर्वम्" कहने में कोई विरोध नहीं आता। रसदृष्ट्या आत्मा सर्वथा निर्लेप है, बलदृष्ट्या वही आत्मा विश्वमूर्त्ति है। कुर्वद्रूप बलों के अधिष्ठाता मायाबल की कृपा से बलग्रन्थियों में तारतम्य उत्पन्न हो जाता है। इन बल-सम्बन्धों के तारतम्य से ही नानाभावरूप विश्व उत्पन्न हुआ है। रस प्रत्येक दशा में निर्लेप है, बल महामायावच्छिन्न बनकर सलेप है। रस पूर्ण है, बल शून्य है। शून्यबल पूर्णरस के अनुग्रह से पूर्णवत् प्रतीत हो रहा है, पूर्णरस शून्यबल के वेष्टन से तिरोहितप्राय बन रहा है। रस बल के इस विवेक का समझ लेना ही तो आत्मज्ञान है, यही तो मोहनाश का मुख्य कारण है, तत्कारणप्रतिपादन ही तो गीताशास्त्र का मुख्य विषय है।

अश्वत्थविद्या को मूल में रखते हुए गीताशास्त्र ने आत्मा के सम्बन्ध में तीन संस्थाओं को प्रधानता दी है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति आपके सम्मुख (वस्त्रों से सुसज्जित) खड़ा है। आप इस एक ही व्यक्ति पर तीन तरह से दृष्टि डाल सकते हैं। देवदत्त हमारे सामने खड़ा है, यह पहिली दृष्टि है। इस दृष्टि में वस्त्र एवं शरीर का पार्थक्य नहीं है, अपितु हम वस्त्रयुक्त शरीर को देवदत्त समझ रहे हैं। वस्त्रों से युक्त देवदत्त खड़ा है, यह दूसरी दृष्टि है। इस

दृष्टि में वस्त्र और शरीर का पार्थक्य हम अपनी बुद्धि में अवश्य समझ रहे हैं, परन्तु वस्त्रों को सर्वथा पृथक नहीं कर रहे हैं। वस्त्रों से सर्वथा रहित केवल शरीर ही देवदत्त है, यह तीसरी दृष्टि है।

यही क्रम आत्मविवर्त्त के सम्बन्ध में समझिए। शरीर एवं आत्मा का पार्थक्य न कर विशिष्ट को आत्मा समझना पहिली दृष्टि है। शरीर को साथ रखते हुए आत्मा को आत्मा समझना दूसरी दृष्टि है। एवं शरीर को सर्वथा छोड़ते हुए विशुद्ध आत्मा को आत्मा समझना तीसरी दृष्टि है। यही तीनों आत्मसंस्थाएं क्रमशः शुक्रात्मसंस्था, ब्रह्मात्मसंस्था, अमृतात्मसंस्था नामों से व्यहृत हुई हैं। शुक्रसंस्था अन्नप्रधान है, यही अन्नब्रह्म है। ब्रह्मसंस्था वीर्य्यप्रधान है, यही वीर्य्यब्रह्म है। अमृतसंस्था ज्योतिःप्रधान है, यही ज्योतिर्ब्रह्म है। वही आत्मा मायाबल की कृपा से अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक्र है। रसापेक्षया तीनों अभिन्न हैं, बलापेक्षया तीनों भिन्न हैं। भेदसहिष्णु अभेद का यही तो मौलिक रहस्य है। इन तीनों की समष्टि ही अश्वत्थ आत्मा है। इसी अश्वत्थ का निरूपण करते हुए महर्षि कठ कहते हैं—

> "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
> तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
> तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।
> एतद्वै तत्" (कठोपनिषत् ६।१)।

१—वस्त्रविरहितशरीरम्—उत्तमा दृष्टिः—अमृतात्मसंस्था।
२—वस्त्रोपाधिकं शरीरम्—मध्यमा दृष्टिः—ब्रह्मात्मसंस्था।
३—सवस्त्र शरीरम्—प्रथमा दृष्टिः—शुक्रात्मसंस्था।

१—शरीरविरहितः—आत्मा (अमृतम्)—ज्योतिर्ब्रह्मेत्युपास्व। }
२—शरीरोपाधिकः—आत्मा (ब्रह्म)—वीर्य्यं ब्रह्मेत्युपास्व। } —अश्वत्थः
३—अशरीरः—आत्मा (शुक्रम्)—अन्नं ब्रह्मेत्युपास्व। }

इन्हीं तीनों आत्मसंस्थाओं को लक्ष्य में रखकर सर्वथा विरुद्ध प्रतीत होने वाले, किन्तु अन्तर्दृष्ट्या सर्वथा अविरुद्ध निम्न लिखित वचन हमारे सामने आते हैं—

१—"असङ्गो ह्ययमात्मा, न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति" } अमृतम्
२—स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते। स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति" } ब्रह्म
३—आत्मा वै तनूः } .... →शुक्रम्

} ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्

—— ० ——

प्रकारान्तर से विचार कीजिए। सर्वबलगर्भित विशुद्धरस व्यापक आत्मा है। वही माया परिग्रह से युक्त होकर **नाभि** (हृदय), **प्रधि** (परिधि) इन दो धर्म्मों से युक्त होता हुआ अशनाया (कामना) से युक्त होकर सृष्टिप्रवृत्ति का कारण बनता है। मायावच्छिन्न इस पुरुष में जबतक बलग्रन्थियों का उदय नहीं होता, तब तक तो यह अपने ज्योतिर्लक्षण रस की अपेक्षा से विशुद्ध **आनन्दमूर्त्ति** है। बलों की अन्तश्चिति से आनन्द ही **विज्ञान** रूप में परिणत हो जाता है। विज्ञान ही आगे जाकर **मनोरूप** धारण कर लेता है। रस एवं बल की प्रधानता अप्रधानता से इन तीनों के दो दो विवर्त्त हो जाते हैं। **रसप्रधान** आनन्द निरुपाधिक आत्मा की विकासभूमि है, यही **शान्ति** है, यही विषयशून्य **आत्मानन्द** किंवा **शान्तानन्द** है। **बलप्रधान** आनन्द सोपाधिक (वैषायिक) आत्मा की प्रतिष्ठा है, यही **समृद्धि** है, यही सविषयक **विश्वानन्द** किंवा समृद्धानन्द है। शान्ति में नित्यता है, समृद्धि में क्षोभ है। शान्ति नित्यानन्द है, समृद्धि क्षणिकानन्द है। इस प्रकार आनन्दात्मा के दो विवर्त्त हो जाते हैं।

दूसरा है **विज्ञानात्मा**। यही प्रकृतिसंस्था में प्रतिष्ठित वाङ्मयी बुद्धि से संश्लिष्ट होकर बुद्धि नाम से भी व्यवहृत होने लगता है, जैसा कि आगे के प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। बुद्धियुक्त (किंवा बुद्धिरूप ही) यह विज्ञानात्मा **भग-मोह** नाम की दो विभूतियों से युक्त हो जाता है। भग **उग्रज्योति** है, यह रसप्रधान है। मोह **मलिनज्योति** है, यह

बलप्रधान है। रसप्रधान अतएव उग्रज्योतिर्म्मय विज्ञान नित्य विज्ञान है, आत्मविज्ञान है। इस के उदय से आत्मा में स्वरूपलक्षणभूत मुक्तिहेतुभूत नित्य शान्तानन्द का उदय होता है। बल-प्रधान, अतएव मलिनज्योतिर्म्मय वही विज्ञान क्षणिक विज्ञान है, विश्वविज्ञान है। इस की उपासना से आत्मा में स्वरूपधर्म्मविघातलक्षण बन्धनहेतुभूत क्षणिक समृद्धानन्द का उदय होता है। इस प्रकार आत्मविज्ञान भी रस बल के तारतम्य से दो भागों में विभक्त हो जाता है।

तीसरा आत्मविवर्त्त मनोमय है। जिसप्रकार विज्ञान का वाक्प्रकृतिक बुद्धि के साथ सम्बन्ध रहता है, एवमेव इस आत्ममन का अन्नप्रकृतिक **प्रज्ञान** (सर्वेन्द्रियमन) के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी आधार पर हम इस आत्ममन को प्रज्ञान शब्द से भी व्यवहृत कर सकते हैं। इस आत्ममन के, किंवा तदवच्छिन्न प्रज्ञान मन के **अन्तः-बहिः** रूप से दो भेद हो जाते हैं। रस-प्रधान वही मन अन्तर्मन है। यह आत्मा के रसप्रधान नित्यानन्द, एवं रसप्रधान भगलक्षण नित्यविज्ञान का उपकारक है। बलप्रधान वही मन बहिर्मन है। इससे आत्मा के बलप्रधान क्षणिकानन्द, एवं मोहलक्षण क्षणिक विज्ञान का उदय होता है।

निष्कर्ष यही हुआ कि रस पर बल की चिति होने से एक ही रसघन आत्मा के **आनन्द-विज्ञान-मन** यह तीन विवर्त्त हो जाते है। यद्यपि इन तीनों में आनन्द रसप्रधान है, विज्ञान रस-बल की साम्यावस्था है, मन बलप्रधान है। इनमें भी शान्तानन्द रसप्रधान है, समृद्धानन्द बलप्रधान है। नित्यविज्ञान रसप्रधान है, क्षणिकविज्ञान बलप्रधान है। अन्तर्मन रसप्रधान है, बहिर्मन बलप्रधान है। तथापि आगे के आत्मविवर्त्त की अपेक्षा चूंकि आनन्द-विज्ञान-मन में रस की ही प्रधानता रहती है, अतः हम इन तीनों की समष्टि को **रसात्मा** किंवा **ज्ञानात्मा** ही कहेंगे। अन्तर्मन का इस ज्ञानात्मा में हीं अन्तर्भाव है। एवं बहिर्मन आगे के आत्मविवर्त्त में अन्तर्भूत माना जाता है।

बहिर्म्मन ज्ञानात्मा की अपेक्षा बलप्रधान है। इसी मन से काम (सृष्टिकाम) का उदय होता है। यही मन रूपों का प्रवर्त्तक है। इस पर बल की चिति और होती है। इस चिति से मन **प्राण** रूप में परिणत हो जाता है। तप एवं **कर्म्म** की आधारभूमि यही मन है। और

बल की चिति होती है। वही प्राण इस बलचिति से **वाक्**रूप में परिणत हो जाता है। **अन्न** एवं **नाम** की प्रतिष्ठा यही वाक्तत्व है। इस प्रकार रस बल के तारतम्य से वह बहिर्मिन **मनः-प्राण-वाक्** रूप में परिणत हो जाता है। इन तीनों में मन रसप्रधान है, प्राण रसबल की साम्यावस्था है, वाक् बलप्रधाना है। मन में ज्ञानज्योति का उदय है, अतएव हम इसे **ज्योति** कह सकते हैं। प्राण में क्रियाभाव का उदय है, अतएव हम इसे **वीर्य्य** कह सकते है। एवं वाक् में अर्थभाव का उदय है, अतएव हम इसे **अन्न** कह सकते हैं। इसप्रकार यद्यपि मनः-प्राण-वाङ्मय यह दूसरा आत्मविवर्त्त पहिले के आनन्दविज्ञानमनोमय ज्ञानात्मा की अपेक्षा से बलप्रधान है, इन तीनों में भी रस–बल के तारतम्य से मन रसप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्त्ति है, प्राण रसबल की समता से क्रियामूर्त्ति है, वाक् बल की प्रधानता से अर्थमयी है, तथापि आगे के आत्मविवर्त्त की अपेक्षा से हम इस मध्यपतित आत्मविवर्त्त को उस ओर के रसानुग्रह से, इस ओर के बलानुग्रह से साम्यरूप **कामात्मा** ही कहेंगे। यही कामात्मा **सृष्टिसाक्षी** आत्मा कहलाता है। पहिला ज्ञानात्मा **मुक्तिसाक्षी** आत्मा है।

सृष्टिसाक्षी आत्मा के वाक्भाग के दो रूप हैं। विशुद्धरूपा वाक् तो कामात्मा में ही अन्तर्भूत है। विकारयुक्ता वही वाक् सृष्टिरूप में अन्तर्भूत मानी जाती है। इस वैकारिक वाक् पर बलों की चिति होती है। फलतः इस चिति से वही वाक् **अप्** रूप में परिणत हो जाती है। और बलचिति होती है, वही अप् अग्निरूपा में परिणत हो जाती है। **विद्युत** एवं **ज्योति** का **वाक् से** सम्बन्ध है। **वायु** (शिववायु-शान्तवायु) एवं **सोम** का आपः से सम्बन्ध है। **वायु** (रुद्रवायु-उग्रवायु) एवं **आदित्य** का अग्नि से सम्बन्ध है। इन तीनों में वाक् रसप्रधान है, आपः रसबल की साम्यावस्था है, अग्नि बलप्रधान है। परन्तु उक्त कामात्मा की अपेक्षा से तीनों की समष्टिरूप यह सृष्टि बलप्रधाना ही समझनी चाहिए। यही तीसरा बलप्रधान **कर्म्मात्मा है**।

उक्त निदर्शन से पाठकों को विदित हुआ होगा कि एकमात्र बलग्रन्थियों की कृपा से वही विशुद्ध आत्मा त्रिवृद्भावापन्न (९ कल) होता हुआ **ज्ञानात्मा–कामात्मा–कर्म्मात्मा** भेद से तीन संस्थाओं में विभक्त हो जाता है। रसदृष्ट्या तीनों एक हैं, बलदृष्ट्या तीनों भिन्न हैं। ज्ञानात्मा ही **अमृतात्मा** है, कामात्मा ही **ब्रह्मात्मा** है, कर्म्मात्मा ही **शुक्रात्मा** है। वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक्र है। "**आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयं,त्रयं सदेकमयमात्मा**" (शत. १४।४।४।) यह श्रौत सिद्धान्त उक्त रहस्य का ही स्पष्टीकरण करता है

आत्मविवर्त्तपरिलेखः

१	सत्वमूर्त्तिर्ज्ञानात्मा रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी-'अमृतम्'	१ २	नित्यानन्दः (रसप्रधानः) क्षणिकानन्दः (बलप्रधानः)	१ आनन्दः आत्मानन्दः (रसप्रधानः)	१शान्तिः-निरुपाधिकात्मविकासः २समृद्धिः-वैषयिकात्मविकासः
		१ २	नित्यविज्ञानम् (रसप्रधानम्) क्षणिकविज्ञानं (बलप्रधानम्)	२ विज्ञानम्-बुद्धिः (रसबलयोः साम्यावस्था)	१-भगः--उग्रज्योतिः २-मोहः-मलिनज्योतिः
		१ २	अन्तर्मनः (रसप्रधानम् × + × × + × × ×	३ मनः-प्रज्ञानम् (बलप्राधान्यम्)	१-प्रसादः-शुद्धसत्वगुणविकासः २-+ × + + + × + × ×
२	त्रिगुणमूर्त्तिः कामात्मोमयप्रधान सृष्टि-साक्षी 'ब्रह्म'	१ २	× × × + बहिर्मनः रसप्रधानम्	१ मनः-ज्योतिः, कामः रूपं (रसप्रधानम्)	१-+ × ÷ ÷ ÷ ÷ ÷ ÷ ÷ २-कामः-मलिनसत्वगुणविकासः
		१	÷ ÷ ÷	२ प्राणः-वीर्य, तपः, कर्म्म	१-विक्षेपः-रजोगुणविकासः
		१ २	विशुद्धावाक् (बलप्रधाना) + × ÷ ÷	३ वाक्-अन्नं श्रमः नाम (बलप्राधान्यम्)	१-आवरणम्-तमोगुणविकासः २-÷ ÷ ÷ ÷ ÷ ÷ ÷ ÷
३	तमोमूर्त्तिः कर्म्मात्मा बलप्रधानः-सृष्टिः "शुक्रम्"	१ २	÷ ÷ ÷ ÷ वैकारिकीवाक्	१ वाक्-वाक्, विद्युत्, ज्योतिः (रसोद्रेकः)	सर्वधर्म्मोपपन्नः— आत्मा —०— "ब्रह्मैवेदं सर्वम्"
		१	÷ ÷ ÷ ÷	२ आपः-आपः, वायुः (शिवः) सोमः (उभयोद्रेकः)	
		१	÷ ÷ ÷ ÷	३ अग्निः-अग्निः वायुः (रुद्रः) आदित्यः (बलोद्रेकः)	

१—आनन्दः		
२—विज्ञानम्	}	—अव्ययप्रधानसंस्था* (ज्ञानात्मा अव्ययः)—अमृतम्
३—मनः		
१—मनः		
२—प्राणः	}	—अक्षरप्रधानसंस्था (कामात्मा अक्षरः)—ब्रह्म
३—वाक्		
१—वाक्		
२—आपः	}	—क्षरप्रधानसंस्था (कर्म्मात्मा क्षरः)—शुक्रम्
३—अग्निः		

* प्रसंगागत यह भी जान लेना चाहिए कि अव्यय के साथ ब्रह्माक्षर का सम्बन्ध है, अक्षर के साथ विष्णु का सम्बन्ध है। एवं क्षर के साथ इन्द्राग्निसोममूर्ति शिव का सम्बन्ध है। ज्ञानमय ब्रह्मा चित्पति है, क्रियामय विष्णु देवपति है, एवं अर्थमय शिव भूतपति है। अध्यात्मसंस्था में ब्रह्मा शिरोगुहा में प्रतिष्ठित रहते हैं, यही ज्ञानतन्त्र है। विष्णु हृदय में प्रतिष्ठित रहते हैं, यही क्रियातन्त्र है। शिव मूलग्रन्थि में प्रतिष्ठित रहते हैं, यही अर्थतन्त्र है। सुषुम्णाद्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्रतिष्ठित ब्रह्मा शिव के साथ ग्रन्थिबन्धन करते हैं। इसी लिए मूलस्थान "**ब्रह्मग्रन्थि**" नाम से व्यवहृत होता है। इस स्थान पर आके ज्ञानपति ब्रह्मा भूतों के संचालक बनते हुए सृष्टिकर्तृत्वभाव से युक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार सुषुम्णा द्वारा मूलरन्ध्रस्थ अर्थपति शिव ब्रह्मरन्ध्ररूप स्वच्छाकाश में विहार करते रहते हैं। इस स्थान पर आके भूतपति शिव ज्ञान के संचालक बनते हुए ज्ञानमूर्ति कहलाने लगते हैं—"**ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरात्**"। इन दोनों का हृदय में यजन होता है। यजन ही यज्ञ है, यज्ञ ही विष्णु है, यही वामन भगवान् "**मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते**" के अनुसार ही जगत के पालक हैं। संध्याविज्ञान के अनुसार ललाटप्रदेश शिवस्थान माना गया है, । हृदय प्रदेश ब्रह्मस्थान माना गया है, एवं नाभिप्रदेश विष्णुस्थान माना गया है, जैसा कि **सन्ध्याविज्ञान** नामक ग्रन्थ में विस्तार से निरूपित है।

प्रकरण के आरम्भ में बतलाया गया है कि उक्थ--ब्रह्म--सामभावमय तत्व को ही आत्मा कहा जाता है। इस लक्षण के अनुसार अक्षर का उक्थ--ब्रह्म--सामरूप अव्यय भी आत्मा कहा जासकता है। क्षर का उक्थ-ब्रह्म-सामरूप अक्षर भी आत्मा कहा जा सकता है। विकारक्षरसंघ का उक्थ ब्रह्म-सामरूप आत्मक्षर भी आत्मा कहा जा सकता है। विकार संघरूप विश्व का उक्थ--ब्रह्म-सामरूप विकारक्षर भी आत्मा कहा जा सकता है। अस्मदादि सत्वों (प्राणियों) का उक्थ--ब्रह्म--सामरूप विश्व भी आत्मा कहा जा सकता है। इस प्रकार **अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, विकारक्षर, विश्व** इन पांचों संस्थाओं को ही हम आत्मा शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं।

इन में से-**"आत्मा सर्वथा निर्लेप है, निष्क्रिय है, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म है, प्रस-स्ताशेषभेदरूप है"** यह अक्षर **अव्ययदृष्टि** से कहे जाते हैं। **"आत्मा निर्लेप है, किन्तु विश्वसाक्षी विश्वकर्त्ता है,** यह अक्षर **अक्षरदृष्टि** से कहे जा सकते हैं। **"आत्मा ही विश्व का आरम्भक (उपादान) है"** यह अक्षर **आत्मक्षरदृष्टि** से कहे जाते हैं। **"आत्मा विश्व का उक्थ-ब्रह्म-साम (प्रथम-प्रतिष्ठा-परायण) है"** यह अक्षर **विकारक्षरदृष्टि** से कहे जाते हैं। **"आत्मा ही विश्व है"** यह अक्षर **विकारसंघदृष्टि** से कहे जाते हैं। इस प्रकार पांचों व्यवहार उपपन्न हो जाते हैं। किसी में विरोध का अवसर नहीं है। इन पांचों संस्थाओं में से अव्यय-अक्षर-क्षर की समष्टि **अमृतात्मा** है, विकारक्षर की समष्टि **ब्रह्मात्मा** है, वैकारिक क्षर समष्टि **शुक्रात्मा** है। हमरा आत्मा विश्व है शुक्ररूप विश्व का आत्मा विकारक्षर है। विकार-रूप ब्रह्म (पञ्चप्रकृति) का आत्मा अव्ययक्षराक्षरमूर्त्ति षोडशी है **-"एतदात्म्यमिदं सर्वम्"**।

१—"आत्मा सर्वथा निर्लेपः, निष्क्रियः, एकमेवाद्वितीय ब्रह्म"—इति अव्ययदृष्टिः		१ अमृतात्मा
२—"आत्मा निर्लेपः किन्तु विश्वसाक्षी, विश्वकर्त्ता"—इति-अक्षरदृष्टिः		
३—"आत्मैव विश्वारम्भकः (उपादानकारणम्)"—इति आत्मक्षरदृष्टिः		
४—"आत्मैव विश्वस्योक्थं-ब्रह्म-साम"—इति विकारक्षरदृष्टिः		२ --ब्रह्मात्मा

५—"आत्मैव विश्वम्" ——— ——— ——— — वकारिकत्तरदृष्टिः } ३ शुक्रात्मा

———— :o: ————

अब हमारे सामने प्रश्न उपस्थित यह है कि गीता ने उक्त आत्मसंस्थाओं में से किस आत्मा का निरूपण किया है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम यही कहेंगे कि प्रधानरूप से **अव्ययात्मा** को लक्ष्य बनाते हुए गीताने आत्मा की सभी संस्थाओं का विस्पष्ट, एवं सर्वथा निः-संदिग्ध निरूपण किया है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि गीताने आत्मसम्बन्धी किसी प्रश्न को नहीं छोड़ा है। इसी लिए तो हमने गीता को सब शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, विलक्षण, एवं पूर्ण कहा है।

पाठकों को स्मरण होगा कि पूर्व के माया-कलादि परिग्रहों के सम्बन्ध में हमनें आत्मस्वरूप पर प्रकाश डाला था। हम समझते हैं कि कितनें ही विषयों में हम पुनरुक्ति कर रहे हैं। फिर भी विषय की जटिलता के कारण हमें विवश होकर पुनरुक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। अस्तु आत्मविचार के सम्बन्ध में **निर्धर्म्मक, सर्वधर्म्मोपपन्न** भेद से पहिले दो आत्मविवर्त्तों को अपने सामने रखिए। इन दोनों में पहिला तत्व तो वस्तुतः आत्मशब्द से सम्बोधित नहीं होना चाहिए, क्योंकि "आत्मा" शब्द शरीर, किंवा परिग्रहसापेक्ष है। **"आत्मा"** यह सुनते ही **"किस का आत्मा"**? यह जिज्ञासा होती है। "किसका"? यह भाव सीमाभाव से सम्बन्ध रखता है। उधर विशुद्ध रसरूप, अतएव सर्वथा निर्गुण, अतएव निर्विशेष. निधर्म्मक तत्त्व मायादि परिग्रहों से सर्वथा बहिष्कृत होता हुआ सीमाभावशून्य है। इसी असीमता के कारण यह निर्धर्म्मक तत्त्व शास्त्रानधिकृत है, अवाङ्मनसगोचर है, नेति नेति शब्द से निर्वीत है। इस की चर्चा कौन कर सकता है। इस को तो न जानना ही इस का जानना है—**"यस्यामतं तस्य मतम्"**।

धर्म्म शब्द से बलतत्त्व ही अभिप्रेत है। इस बलतत्त्व का सम्बन्ध आत्मा के साथ दो तरंह से होसकता है। सम्पूर्ण बल आत्मा में रहें, परन्तु उन बलों का उस रसरूप आत्मा के साथ

अव्यावृत्तरूप निर्विशेष, एवं परात्पर के सम्बन्ध में तटस्थ ही रहता है। वह सब में है, सब उसी में है। फिर उस के सम्बन्ध में किसका विधान किया जाय, एवं किसका निषेध किया जाय।

अब शास्त्राधिकृत, अतएव मीमांस्य बच जाता है, एक मात्र **सर्वधर्म्मोपपन्न आत्मा**। धर्म्म का ही नाम परिग्रह है। यह धर्म्मतत्व स्वरूप, एवं आश्रित भेद से दो भागों में विभक्त है, जैसा कि द्वितीय खण्ड के धर्म्म भेद प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। स्वरूपधर्म्मयोग्य वही आत्मा **"षोडशीपुरुष"** कहलाता है। आश्रितधर्म्मयोग्य वही आत्मा **"प्रजापति"** कहलाता है। प्राणादि पञ्च प्रकृति, एवं वागादि तीनों शुक्रों की समष्टि ही प्रजापति है, एवं एतद्विशिष्ट षोडशी ही **"सर्वभू"** है। परिग्रहों की कृपा से ही योगमायावच्छिन्न बनता हुआ वही व्यापक आत्मा अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट होकर द्वैतलक्षण, एवं सगुण सविकार सावरण साञ्जन बनता हुआ **सविशेष** नामसे व्यवहृत होता हुआ **"जीव"** नाम से सम्बोधित होने लगता है। यह जीवात्मा पाप्माओं की कृपा से ज्योतिरूप आनन्दस्वरूप से आवृत होता हुआ दुःख पाया करता है।

यह विश्वास रखिए कि विश्वव्यापक आत्मा पर विश्व सीमा में रहने वाले दुःख मूलक दोष कोई आक्रमण नहीं कर सकते। यह भी विश्वास रखिए कि हम (जीव) उसी के अंश है, वही हैं, फलतः हमें भी दोषमूलक दुखों से पृथक् ही रहना चाहिए था। परन्तु होता क्या है, सुनिए।

त्रैलोक्य में सौरप्रकाश व्याप्त है। यही सौरज्योति अध्यात्मसंस्था में अंशरूप से प्रविष्ट होकर चक्षुरिन्द्रिय की स्वरूपसमर्पिका बनती है। सूर्य्य अंशी है, चक्षु अंश है। परन्तु चक्षु-गोलकरूप योगमाया के आवरण से सूर्य्यरूपा चक्षुज्योति अपने त्रैलोक्य व्यापक सौरज्योतिस्वरूप को भूल रही है। इसका परिणाम यह होता है कि जब सूर्य्य और चक्षु के मध्य में मेघखण्ड आजाते हैं तो हम भ्रान्तिवश यह कहने लगते हैं कि—**"मेघों ने सूर्य्य को ढक लिया"**। चक्षु द्रष्टा है, सूर्य्य दर्शयिता है। मध्य में सूर्य्य का आवरण है। यह आवरण सौरप्रकाश की

अपेक्षा मन्द–मन्दतर–मन्दतम है। वृष्टिविज्ञान के अनुसार बड़े से बड़ा मेघखण्ड १२ कोशपर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखता है। उधर सूर्य्यप्रकाश त्रैलोक्य में व्याप्त है। भला ऐसे व्यापक सौर प्रकाश को साधारण मेघखण्ड कैसे आवृत कर सकता है। चक्षु से तदवच्छिन्न सौर ज्योति आवृत होरही है। इसीलिए हम उस व्यापक प्रकाश से वञ्चित होते हुए तमोरूप दुःख के अधिकारी बन रहे हैं।

ठीक यही दशा आत्मज्योति के सम्बन्ध में समझिए। महामायावच्छिन्न आत्मा विश्वव्यापक है। हम उसी के अंश है। वह दर्शयिता है, हम द्रष्टा हैं। दोनों के मध्य में योगमायारूप आवरण आ रहा है। इस आवरण से हम सूर्य्यस्थानीय व्यापक आत्मा को आवृत समझने लगते हैं। वस्तुतः यह आवरण हमारे भूतात्मा के साथ सम्बद्ध है। इस रहस्य को न जानने के कारण लोक में जैसे–"**सूर्यो मेघेनावृतः**" (सूर्य्य को बद्दलोंनें ढंक लिया) यह मिथ्या व्यवहार प्रचलित है, एवमेव आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण–"**आत्मा दोषेणावृतः**" (आत्मा को दोषोंनें ढंक लिया) यह मिथ्या व्यवहार हो रहा है। "**चक्षुर्दोषादुलूकोऽयं सूर्यज्योतिनपश्यति**" यह प्रसिद्ध ही है। वह नित्यानन्दमूर्त्ति है तो हम भी नित्यानन्दमूर्त्ति ही है। उसके और हमारे बीच में जो मायारूप किंवा परिग्रहरूप आवरण आगए हैं, उन्होंनें हीं हमें उससे वञ्चित करते हुए दुःखी बना रक्खा है। दुःखमूलक, किंवा दुःखोदय के हेतुभूत अविद्यालक्षण इन महादोषों के शासन का उपाय बतलाना ही गीताशास्त्र का मुख्य विषय है। वह आत्मा सर्वधर्म्मोपपन्न ही है। यही गीता का प्रधान आत्मा है।

१-निर्धर्म्मकः, अलक्षणः, निर्गुणः निर्विशेषः-विशुद्धरसमूर्त्तिः		**सर्वातीतः**	}	-शास्त्रानधिकृतौ
२-सर्वधर्म्मविशिष्टः, विलक्षणः, सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्तिः—		**विश्वातीतः**	}	
३-सर्वधर्म्मयोग्यः—द्वैतलक्षणः—	महामायावच्छिन्नः—	**विश्वात्मा**	}	-शास्त्राधिकृतः

———०———

(३)–१–सर्वधर्म्मयोग्यः

१—अव्ययानुरामत्तरकृतमूर्तिर्महामायी–विश्वात्मा (अमृतम्)—ज्ञानात्मा

२—पञ्चप्रकृतिविशिष्टो योगमायी——–विश्वकर्त्ता (ब्रह्म)—कामात्मा

३—शुक्रत्रयविशिष्टो योगमायी———विश्वारम्भकः (शुक्रम्)—कर्म्मात्मा

४—योगमायावच्छिन्नोऽशात्मको जीवः—कर्म्मात्मा (समष्टिः)—समष्टिः

शास्त्रोपदेश, किंवा गीतोपदेश हमारे (जीवात्मा के) उपकार के लिए प्रवृत्त हुआ है । अतः जीवात्मा ही हमारा मुख्य लक्ष्य होना चाहिए । अध्यात्मसंस्था (जीवसंस्था) के स्वरूपज्ञान के लिए हमें आत्मा के **चिदात्मा, चिदंश, चिदाभास** इन तीन स्वरूपों पर दृष्टि डालनी पड़ेगी । इन तीनों के यथार्थपरिज्ञान के लिए **ज्ञान–क्रिया–अर्थघन** सूर्य्य देव को अपने सामने रखिए । सूर्य्यभगवान् स्वज्योति से त्रैलोक्य में व्याप्त हैं । कहीं भी सूर्य्य का अभाव नहीं है । त्रैलोक्य व्यापक वही सूर्य्य सर्वत्र रहता हुआ भी प्रतिबिम्ब रूप से वहीं विकसित होता है, जहां कि दर्पण, स्फटिकमणि, पानी आदि सूर्य्यप्रतिबिम्बग्राहक पदार्थ विद्यमान रहते हैं । इन ग्राहक पदार्थों में सूर्य्य का दो तरह से सम्बन्ध होता है । पदार्थ के क्षेत्रायतन के अनुसार सूर्य्य प्रतिबिम्ब रूप से पदार्थों में प्रतिष्ठित हो जाता है । प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त **आतप** (धूप-प्रकाश) रूप से भी इन पदार्थों के साथ सूर्य्य का सम्बन्ध होता है । प्रतिबिम्बित सूर्य्य **अन्तर्याम** सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है, आतपात्मक सूर्य्य बहिर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होता है । इस प्रकार एक ही सौरतत्व **व्यापक सूर्य्य,** पदार्थ के साथ असंग रूप से (व्योमवत्) सम्बद्ध **आतपरूप सूर्य्य,** पदार्थ के साथ कहने भर को ससङ्गरूप से सम्बद्ध **प्रतिबिम्बित सूर्य्य** भेद से तीन स्वरूप धारण कर लेता है । ठीक यही स्थिति आत्मा के सम्बन्ध में समझिए ।

"यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः" इस गीता सिद्धान्त के अनुसार सप्तलोकात्मक **भूः भुः स्वः** रूप महाव्याहृतियों से अवच्छिन्न महाविश्व में ईश्वर नाम से प्रसिद्ध सूर्य्य–स्थानीय षोडशी प्रजापति समान रूप से व्याप्त हो रहा है । यही पहिला सर्वव्यापक, किंवा

विश्वव्यापक **चिदात्मा** है। सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी यह चिदात्मा वहीं प्रकट होता है, जहां कि अप्-वायु-सोम रूप चिद्ग्राहक पदार्थ विद्यमान रहते हैं। यह तीन ही तत्व चिद्ग्राहक हैं। अतएव जीवसृष्टि **आप्य, वायव्य, सौम्य** भेद से तीन ही भागों में विभक्त देखी जाती है। इन तीनों पदार्थों में चिदात्मा ज्योतिरूप से भी प्रतिष्ठित होता है, एवं प्रतिबिम्बरूप से भी प्रतिष्ठित होता है। ज्योतिर्म्मय चिदात्मा असंग है, व्योमवत् निर्लेप है। प्रतिबिम्बित चिदात्मा ससंग है, सलेप है। यही दोनों क्रमशः **चिदंश**, एवं **चिदाभास** नामों से व्यवहृत होते हैं।

अथवा प्रकारान्तर से यों समझिए कि विश्वव्यापक आत्मा **चिदात्मा** है। एवं शरीर परिच्छिन्न वही आत्मा **चिदंश** है। इसी के अन्तर्य्याम, बहिर्य्याम सम्बन्ध भेद से दो भेद हो-जाते हैं। अन्तर्य्याम सम्बन्धावच्छिन्न चिदंश **शारीरक आत्मा**, है, यही **चिदाभास है**। बहिर्य्यामावच्छिन्न चिदंश **प्रत्यगात्मा** है, यही **चिदंश** है। यह दोनों एक ही स्थान पर (हृदय) प्रतिष्ठित हैं। एक ही स्थान में प्रतिष्ठित आतपरूप प्रत्यगात्मा केवल **साक्षी** है, प्रतिबिम्बरूप शारीरक आत्मा **भोक्ता** है। साक्षी भाग शरीरसंस्था में प्रतिष्ठित **ईश्वर** है। इसी के लिए-"**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति**" यह कहा गया है। इसी शारीरक ईश्वर तत्व का स्वरूप बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ (गीता १३ । २२ ।)

भोक्ता भाग जीव है। इसी के लिए भगवान् मनुने कहा है-

जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ (मनुः १२।१३) ।

वेद संहिताने चिदंशरूप साक्षी परमात्मा को "**साक्षीसुपर्ण**" नाम से, एवं चिदंशरूप भोक्ता जीवात्मा को "**भोक्तासुपर्ण**" नाम से सम्बोधित किया है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट हो जाता है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ (ऋक् १।१६४ २०)

दोनों सुपर्ण एक ही (अश्वत्थ) वृक्ष पर बैठे हुए हैं । दोनों अभिन्न, एवं जोड़ले मित्र हैं । दोनों का स्वरूप एक साथ, एक ही काल में प्रादुर्भूत हुआ है। परन्तु आश्चर्य है कि दोनों में से एक तो संसारफल का भोग कर रहा है, एवं दूसरा बिना कुछ खाए पीए उस खाने पीने वाले की चौकसी कर रहा है । प्रत्यगात्मा से संश्लिष्ट शारीरक आत्मा जबतक इन्द्रियों के सम्बन्ध से विषयों का अनुगामी बना रहता है, तब तक इसे अपने उस निर्लेप हृदयस्थ प्रत्यगात्मा का स्वरूप ज्ञान नहीं होता । यदि शारीरकात्मा इन्द्रियारामता का परित्याग कर अपने विज्ञानचक्षु को विषयों से हटाकर अन्तर्हृदय की ओर ले आता है तो इस विज्ञानचक्षु के प्रभाव से इस धीर शारीरक आत्मा को उस ईश्वररूप हृदयस्थ प्रत्यगात्मा के दर्शन हो जाते हैं । यही इस जीवात्मा की दुःखात्यन्तनिवृत्ति है । इसी स्थिति का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ (कठ २।१।१)

प्रत्यगात्मा को हमनें ज्योति (आतप), एवं शारीरक आत्मा को प्रतिबिम्बरूप बतलाया है । ज्योति ही "रुक्म" नाम से प्रसिद्ध है । यही आत्मतेज, आत्मप्रकाश, किंवा आत्मवीर्य है, जैसा कि—"**प्रजापतिस्तेजो वीर्यं रुक्मः**" (शत० ६।७।७।१।१) इत्यादि प्रमाण से स्पष्ट है । यह रुक्म शरीर परिच्छिन्न होता हुआ भी अपने असंगभाव के कारण उस ज्योतिर्घन चिदात्मा की तरह व्यापक ही है । रुक्मरूप, किंवा ज्योतिरूप प्रत्यगात्मा के इसी व्यापक स्वरूप का अभिनय करने के लिए श्रुतिने "**रुक्मो वै समुद्रः**" (शत० ७ ४।२।५) इत्यादिरूप से इसेसमुद्र नाम से सम्बोधित किया है । जब प्रतिबिम्बरूप जीवात्मा रुक्मरूप, किंवा रुक्मवर्ण अपने इस प्रत्यगात्मस्वरूप को पहिचान लेता है, तो दुःखों से एकान्ततः विमुक्त हो जाता है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥१॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥२॥
(मुण्डक. ३।१।२–३) ।

"जिस अश्वत्थ वृक्ष पर ईश्वर प्रतिष्ठित है, उसी पर, उसी स्थान में यह पुरुष (जीव) प्रतिष्ठित है । अन्तर दोनों में केवल यही है कि वह जहां नित्य जागृत है, वहां यह मोहनिद्रा में निमग्न है । इसी मोहरूप अज्ञान से अपने उस ईश भाव को भूलता हुआ यह शोक का अनुगामी बन रहा है । जिस दिन यह पुरुष अपने से सर्वथा सम्बद्ध उस दूसरे ईश को देख लेता है, पहिचान लेता है, उसी दिन उस की महिमा का अनुगमन करते हुए यह वीतराग बनता हुआ वीतशोक बन जाता है । यह द्रष्टा जीवात्मा जब उस ब्रह्मयोनि, कर्त्ता, सर्वेश, रुक्मवर्ण दर्शयिता को देख लेता है, तब आत्मस्वरूपवित् यह जीवात्मा पुण्य-पाप को छोड़ कर (इस प्रत्यगात्मा के साथ अभिन्न बनता हुआ इस के द्वारा) उस व्यापक निरञ्जन चिदात्मा के साथ सम भाव को प्राप्त हो जाता है" उक्त मन्त्रों का यही तात्पर्य है । इस प्रपञ्च से प्रकृत में हमें यही कहना है कि वही व्यापक आत्मा केवल योगमाया के प्रभाव से **चिदात्मा--चिदंश--चिदाभास** रूपों में परिणत हो जाता है । इन तीनों में चिदात्मा **"अमृतम्"** है, चिदंश प्रकृतिभाव से युक्त होता हुआ **"ब्रह्म"** है । इसी लिये मुण्डकश्रुति नें इसे **"ब्रह्मयोनि"** कहा है । एवं चिदाभास भूतभाग से संसृष्ट होता हुआ **"शुक्रम्"** है । चिदात्मा ज्ञानप्रधान है, चिदंश क्रियाप्रधान है, इसीलिए इस के लिए **"भ्रामयन् सर्वभूतानि"** यह कहा गया है । एवं चिदाभास अर्थप्रधान है ।

अध्यात्मसंस्थापत्त्या त्रीण्यात्मविवर्त्तानि

(सूर्यः) १.–चिदात्मा (विश्वव्यापकः-षोडशी)–**विश्वात्मा** (चिदात्मा)–अमृतम्–ज्ञानात्मा

१–अव्ययात्मा–(अव्ययात्तरात्मत्तरमूर्त्तिः) (आत्मा सर्वथा निर्लेपः, निष्क्रियः-"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"–अव्ययदृष्टिः) ।

	अव्ययः	अत्तरः	आत्मत्तरः	अव्ययविभूतयः		अव्ययात्मविवर्त्तः
१	आनन्दः	अमृतो ब्रह्मा	मर्त्यो ब्रह्मा	अव्ययः – मनः– ज्ञानं– ज्ञानात्मा– अमृतम्	१	
२	विज्ञानम्	अमृतौ इन्द्राविष्णू	मर्त्यौ- इन्द्राविष्णू	अत्तरः – प्राणः– क्रिया– कामात्मा– ब्रह्म		
३	मनः	अमृतौ-अग्नीषोमौ	मर्त्यौ-अग्नीषोमौ	त्तरः – वाक् – अर्थः– कर्मात्मा– शुक्रम्		
१	मनः	अमृतो ब्रह्मा	मर्त्यो ब्रह्मा	अव्ययः– मनः – ज्ञानं– ज्ञानात्मा – अमृतम	२	
२	प्राणः	अमृतौ-इन्द्राविष्णू	मर्त्यौ-इन्द्राविष्णू	अत्तरः,– प्राणः – क्रिया– कामात्मा – ब्रह्म		
३	वाक्	अमृतौ-अग्नीषोमौ	मर्त्यौ-अग्नीषोमौ	त्तरः – वाक् – अर्थः - कर्मात्मा – शुक्रम्		
१	वाक्	अमृतो-ब्रह्मा	मर्त्यो ब्रह्मा	अव्ययः,–मनः – ज्ञानं – ज्ञानात्मा – अमृतम्	३	
२	आपः	अमृतौ-इन्द्राविष्णू	मर्त्यौ-इन्द्राविष्णू	अत्तरः, –प्राणः – क्रिया – कामात्मा– ब्रह्म		
३	अग्निः	अमृतौ अग्नीषोमौ	मर्त्यौ-अग्नीषोमौ	त्तरः,– वाक्– अर्थः– कर्मात्मा– शुक्रम्		

(क) प्रकारान्तरेणाऽव्ययात्मा द्रष्टव्यः २—

१—आनन्दः २—विज्ञानम् ३—मनः	रसोद्रिक्तः	→ अव्ययः, मनः, ज्ञानं, ज्ञानात्मा, अभृतम्	१
१—मनः २—प्राणः ३—वाक्	उभयोद्रिक्तः	→ अक्षरः, प्राणः, क्रिया, कामात्मा, ब्रह्म	२
१—वाक् २—आपः ३—अग्निः	बलोद्रिक्तः	← क्षरः, वाक्, अर्थः, कर्मात्मा, शुक्रम्	३

अव्ययात्मविवर्त्तम्

—— :o: ——

२—अक्षरात्मा-(अक्षराव्ययात्मक्षरमूर्त्तिः)-(आत्मा निर्लेपः किन्तु विश्वसाक्षी, विश्वकर्त्ता अक्षरदृष्टिः) ।

	अक्षरात्मा ५	अव्ययात्मा ५	आत्मक्षरात्मा ५
१	अमृतो ब्रह्मा	आनन्दः	मर्त्यो ब्रह्मा
२	अमृतो-विष्णुः	विज्ञानम्	मर्त्यो विष्णुः
३	अमृतइन्द्रः	मनः	मर्त्य इन्द्रः
४	अमृतः सोमः	प्राणः	मर्त्यः सोमः
५	अमृतोऽग्निः	वाक्	मर्त्योऽग्निः

(१, २) → अव्ययः, मनः, ज्ञानं, ज्ञानात्मा, अमृतम्-१

(३) → अक्षरः, प्राणः, क्रिया, कामात्मा, ब्रह्म-२

(४, ५) → क्षरः, वाक्, अर्थः, कर्म्मात्मा, शुक्रम्,-३

(१–३) } आत्मविवर्त्तम्

१—अव्ययात्मा—(अव्ययात्तरात्मत्तरमूर्त्तिः) (आत्मा सर्वथा निर्लेपः, निष्क्रियः-"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"—अव्ययदृष्टिः)।

	अव्ययः	अक्षरः	आत्मक्षरः	अव्ययविभूतयः		
१	आनन्दः	अमृतो ब्रह्मा	मर्त्यो ब्रह्मा	अव्ययः — मनः — ज्ञानं — ज्ञानात्मा — अमृतम्	१	अव्ययात्मविवर्त्तः
२	विज्ञानम्	अमृतौ इन्द्राविष्णू	मर्त्यौ- इन्द्राविष्णू	अक्षरः — प्राणः — क्रिया — कामात्मा — ब्रह्म		
३	मनः	अमृतौ-अग्नीषोमौ	मर्त्यौ-अग्नीषोमौ	क्षरः — वाक् — अर्थः — कर्मात्मा — शुक्रम्		
१	मनः	अमृतो ब्रह्मा	मर्त्यो ब्रह्मा	अव्ययः — मनः — ज्ञानं — ज्ञानात्मा — अमृतम	२	
२	प्राणः	अमृतौ-इन्द्राविष्णू	मर्त्यौ-इन्द्राविष्णू	अक्षरः, — प्राणः — क्रिया — कामात्मा — ब्रह्म		
३	वाक्	अमृतौ-अग्नीषोमौ	मर्त्यौ-अग्नीषोमौ	क्षरः — वाक् — अर्थः - कर्म्मात्मा — शुक्रम्		
१	वाक्	अमृतो-ब्रह्मा	मर्त्यो ब्रह्मा	अव्ययः, —मनः — ज्ञानं — ज्ञानात्मा — अमृतम्	३	
२	आपः	अमृतौ-इन्द्राविष्णू	मर्त्यौ-इन्द्राविष्णू	अक्षरः, —प्राणः — क्रिया — कामात्मा — ब्रह्म		
३	अग्निः	अमृतौ अग्नीषोमौ	मर्त्यौ-अग्नीषोमौ	क्षरः, — वाक् — अर्थः — कर्म्मात्मा — शुक्रम्		

४—विकारक्षरात्मा—(विकारक्षर-वैकारिकक्षर-आत्मक्षर-अक्षर-अव्ययमूर्त्तिः)

(आत्मैव विश्वस्योक्थं ब्रह्म साम- (विकारक्षरदृष्टिः") ।

	विकारक्षरः ५	वैकारिकक्षरः ५	आत्मक्षरः ५	अक्षरः ५	अव्ययः ५
१	विशुद्धः प्राणः	पञ्चीकृतः प्राणः	मर्त्यो ब्रह्मा	अमृतो ब्रह्मा	आनन्दः
२	विशुद्धा आपः	पञ्चीकृता आपः	मर्त्यो विष्णुः	अमृतो विष्णुः	विज्ञानम्
३	विशुद्धा वाक्	पञ्चीकृता वाक्	मर्त्य इन्द्रः	अमृत इन्द्रः	मनः
४	विशुद्धमन्नम्	पञ्चीकृतमन्नम्	मर्त्यः सोमः	अमृतः सोमः	प्राणः
५	विशुद्धोऽन्नादः	पञ्चीकृतोऽन्नादः	मर्त्योऽग्निः	अमृतोऽग्निः	वाक्

(आनन्दः, विज्ञानम्) — अव्ययः, मनः ज्ञानं, ज्ञानात्मा, अमृतम् }-१

(मनः) — अक्षरः, प्राणः, क्रिया, कामात्मा, ब्रह्म }-२

(प्राणः, वाक्) — क्षरः, वाक्, अर्थः, कर्म्मात्मा, शुक्रम् }-३

विकारक्षरात्मविवरणम्

५—वैकारिकक्षरात्मा—(शुक्र-वैकारिक्षर-विकारक्षर-आत्मक्षर-अक्षर-अव्ययमूर्त्तिः)

(आत्मैव विश्वम्—"वैकारिक्षरदृष्टिः"

शुक्राणि ६	वैकारिक्षरः	विकारक्षरः	आत्मक्षरः	अक्षरः	अव्ययः
१ अमृतावाक् (स्वयम्भुमूला	पञ्चो.प्राणः	विशु.प्राणः	मर्त्योब्रह्मा	अमृ.ब्रह्मा	आनन्दः
२ अमृता आपः(परमेष्ठिमूलाः)	पञ्ची॰आपः	विशु.आपः	मर्त्योविष्णुः	अमृ.विष्णुः	विज्ञानम्
३ अमृतोऽग्निः, मर्त्योऽग्निः —(सूर्यमूलौ)	पञ्चो॰वाक्	विशु. वाक्	मर्त्य इन्द्रः	अमृ.इन्द्रः	मनः
४ मर्त्या आपः (चन्द्रमूलाः)	पञ्ची॰अन्नम्	विशु.अन्नम्	मर्त्यः सोमः	अमृ.सोमः	प्राणः
५ मर्त्यावाक्—(पृथिवीमूला)	पञ्ची॰अन्नादः	विशु.अन्नादः	मर्त्योऽग्निः	अमृ.अग्निः	वाक्
१	२	३	४	५	६

षाट्कौशिकमिदसर्वमित्यभियुक्ता आहुः

वैकारिक्षरात्मा:

- (आनन्दः, विज्ञानम्) — अव्ययः, मनः, ज्ञान, ज्ञानात्मा, अमृतम् —१
- (मनः) — अक्षरः, प्राणः, क्रिया, कामात्मा, ब्रह्म —२
- (प्राणः, वाक्) — क्षरः, वाक्, अर्थः, कर्मात्मा, शुक्रम् —३

सर्वसंग्रहः—

१-	१-परात्परावच्छिन्नः पञ्चकलोऽव्ययपुरुषः—अव्ययात्मा २-परात्परावच्छिन्नः पञ्चकलोऽक्षरपुरुषः—अक्षरात्मा ३-परात्परावच्छिन्नः पञ्चकलः क्षरपुरुषः—आत्मक्षरात्मा		षोडशीपुरुषः—अमृतात्मा [१]
२-	४-षोडशीपुरुषावच्छिन्नाः पञ्चप्रकृतयः—विकाराक्षरात्मा		पञ्चप्रकृतयः—ब्रह्मात्मा [२]
३-	५-पुरुषप्रकृत्यवच्छिन्नानि त्रीणि शुक्राणि—वैकारिकक्षरात्मा		त्रीणि शुक्राणि—शुक्रात्मा [३]

———— :०: ————

आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में (गीताशास्त्र की अपेक्षा से) हमें जो कुछ कहना था, संक्षेप से सब कुछ बतला दिया गया। पूर्व के निरूपण से पाठकों को विदित हुआ होगा कि सविशेष आत्म-विवर्त्तों में से अव्ययाक्षरात्मरूप त्रिपुरुष पुरुषात्मक एक आत्मा ही **"गूढोत्मा"** है। यही हमारा (जीवसंस्था का) प्रत्यगात्मा नाम का मुख्य आत्मा है। जिस अश्वत्थवृक्ष पर यह अपने मित्र शारीरक आत्मा के साथ बैठा है, उस अश्वत्थ के ज्ञान-कर्म्म रूप से दो भेद हैं। ज्ञानमय अश्वत्थ **ब्रह्माश्वत्थ** नाम से, एवं कर्म्ममय अश्वत्थ **कर्म्माश्वत्थ** नाम से प्रसिद्ध है। महामायावच्छिन्न पञ्चपुण्डीरात्मक महेश्वर के साथ (व्यापक चिदात्मा के साथ) ब्रह्माश्वत्थ का सम्बन्ध है, एवं योगमायावच्छिन्न पञ्चखण्डात्मक प्रत्यगात्मयुक्त शारीरक आत्मा के साथ कर्म्माश्वत्थ का सम्बन्ध है। कर्म्मसंतान, किंवा कर्म्मपरम्परा ही कर्म्माश्वत्थ है। इसी कर्म्मसन्तान के बल से जीवात्मा जन्म लेता है, मरने के लिए। मरता है, जन्म लेने के लिए। ब्रह्माश्वत्थ से नित्यसम्बद्ध कर्म्माश्वत्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाली महामायी ईश्वर की प्रकृतिरूप अविद्या के आक्रमण से इस जीवात्मा में **अविद्या—अस्मिता—राग—द्वेष—अभिनिवेश** नाम के पांच क्लेश, ६ ऊर्म्मिएं, ६ अवस्थाएं, कर्म्मविपाक, आशयादि दोष सारे पाप्मा आते रहते हैं, आकर प्रवाह रूप में परिणत होते रहते हैं, परस्पर में ओतप्रोत होते रहते हैं।

षोडशीपुरुषान्तर्गत अव्ययपुरुष के **विद्या**-एवं **कर्म्म** नाम के दो धातु हैं । **आनन्द विज्ञान मन** इन तीनों पर्वों की समष्टि विद्याव्यय है । चूंकि यह आत्मभाग ज्योतिःप्रधान बनता हुआ अविद्यारूप अन्धकार को नष्ट करता हुआ मुक्तिसाक्षी है, अतः अविद्यानिवारकत्वेन हम अवश्य ही इस पर्वत्रयी को 'विद्या" नाम से व्यवहृत कर सकते हैं । **मनः-प्राण-वाक्** की समष्टि कर्म्माव्यय है । यह कर्म्मभाग वीर्य्यप्रधान बनता हुआ सृष्टिसाक्षी बनता है, अतः कर्म्ममय विश्व की अपेक्षा से उक्त पर्वत्रयी को हम अवश्य ही "कर्म्म" शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। परिग्रह की कृपा से आत्मा के विद्या (ज्ञान)-कर्म्म इन दोनों के क्रमशः**सम्यक्ज्ञान, अन्यथाज्ञान, अज्ञान, सुकर्म्म, विकर्म्म, अकर्म्म** यह तीन तीन अवस्थाएं हो जातीं हैं । इन ६ ओं में सम्यक्ज्ञान, और सुकर्म्म शान्तिलक्षण आनन्द के कारण हैं । एवं शेष चारों क्षोभलक्षण दुःख के कारण हैं । इस प्रकार परिग्रहवश सोपाधिक आत्मा में जो दुःखमूलक दोष आजाते हैं, उन्हें एकान्ततः दूर करने के लिए, साथ ही में विद्यादि गुणों का आत्मा में आधान करने के लिए ही हमारा गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है । निष्कर्ष यही हुआ कि–"**गीताशास्त्र सभी आत्माओं का निरूपण करता हुआ अव्ययात्मा को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनाता है**" ।

इति–आत्मविद्याप्रकरणम्

२–गीताप्रतिपादित बुद्धिविद्या

गीता विद्याशास्त्र है । यह विद्या **आत्मविद्या, विश्वविद्या** भेद से दो भागों में विभक्त है । आत्मविद्या **पुरुषविद्या है**, विश्वविद्या **प्रकृतविद्या है** । पुरुषविद्या **ज्ञानविद्या है**, प्रकृति विद्या **कर्म्मविद्या है'** । ज्ञानविद्या **सांख्यनिष्ठा है**, कर्म्मविद्या **योगनिष्ठा है** । सांख्यनिष्ठात्मिका पुरुषविद्या ही **ज्योतिर्विद्या है'** । योगनिष्ठात्मिका प्रकृतिविद्या ही वीर्यविद्या है । ज्योतिर्विद्यापेक्षया गीताशास्त्र **ब्रह्मविद्याशास्त्र है**, वीर्य्यविद्यापेक्षया गीताशास्त्र **योगशास्त्र** है, जैसाकि पूर्व में

विस्तार से बतलाया जा चुका है। पुरुषविद्या **अव्यय, अक्षर, क्षर**–भेद से तीनों भागों में विभक्त है, यही तीन आत्मविवर्त्त हैं। गीता इन तीनों आत्माओं में से किस आत्मा को, किंवा आत्मविद्या को अपना प्रधान लक्ष्य बनाती है? इस प्रश्न का समाधान पूर्व प्रकरण में किया जा चुका है।

इसी प्रकार प्रकृतिविद्या, किंवा कर्म्मविद्यापरपर्य्यायक योगविद्या **ज्ञानयोग, भक्तियोग कर्म्मयोग,** भेद से तीन भागों में विभक्त है। गीता इन तीनों योगनिष्ठाओं में किस योगनिष्ठा का निरूपण करती है? यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित है। इस प्रकरण में इसी प्रश्न का संक्षिप्त समाधान लक्ष्य है। उत्तर स्पष्ट है। गीता तीनों से अपूर्व **बुद्धियोगनिष्ठा** का निरूपण करती है। वह बुद्धि है क्या वस्तु? इस प्रश्न का उत्तर वाङ्मयी प्रकृति ही है। षोडशीपुरुषात्मक पुरुष की बहिरंग प्रकृति **प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद** भेद से पांच भागों में विभक्त है। इन पांचों प्रकृतियों से क्रमशः **स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी** इन पांच पुरों का विकास होता है। यही पांचों आध्यात्मिक पुर अध्यात्मसंस्था में अंशरूप से प्रतिष्ठित होकर **अव्यक्त, महान्, बुद्धि, मन, प्राणात्मा** इन नामों से प्रसिद्ध होते हैं। इस स्थिति से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि वाङ्मयी तीसरी प्रकृति ही सूर्य्यरूप में परिणत होकर **बुद्धि** नाम से प्रसिद्ध होती है। सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठी एवं स्वयम्भू में अमृततत्त्व की प्रधानता है, एवं सूर्य्य से नीचे पृथिवी चन्द्रमा में मृत्युतत्त्व की प्रधानता है। मध्यस्थ सूर्य्य में अमृत–मृत्यु दोनों का सम्बन्ध है–"**निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च**"। अमृत ज्ञान है, विद्या है। मृत्यु कर्म्म है, अविद्या है। सूर्य्य में दोनों का सम्बन्ध है। फलतः सौरी बुद्धि में भी **विद्या–अविद्या** दोनों धर्म्मों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। विद्या अविद्या दोनों हीं ६–६ भागों मे विभक्त हैं। विद्या के ६ रूप **ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश, श्री** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। विद्या के ६ रूप **अविद्या, रागद्वेष, अभिनिवेश, अस्मिता, अपयश, अलक्ष्मी** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ६ ओं विद्याभाग **भग** नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं ६ ओं अविद्याभाग **मोह** नाम से व्यवहृत हुए हैं, जैसाकि अभियुक्त कहते हैं—

ऐश्वर्यस्य च समग्रस्य धर्म्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

उक्त ६ ओं भग, एवं ६ ओं मोहों में से धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इन चारों भगों की, विकासभूमि सूर्य है। एवं इन चारों के प्रतिद्वन्द्वी अभिनिवेश, अविद्या, राग-द्वेष, अस्मिता यह मोह लक्षण चारों अविद्याभाग भी सूर्य्य से ही सम्बन्ध रखते हैं। यश एवं अपयश का चन्द्रमा से सम्बन्ध है। लक्ष्मी एवं अलक्ष्मी का आपोमय परमेष्ठीमण्डल से सम्बन्ध है। अध्यात्मक्रम के अनुसार यों समझिए कि लक्ष्मी रूप कान्ति का, एवं श्री हीनता का, स्थूलशरीर से सम्बन्ध है। यश और अपयश का मन से सम्बन्ध है। एवं शेष चारों भगों, एवं चारों मोहों का बुद्धि से सम्बन्ध है। कारण स्पष्ट है। सूर्य्य ही बुद्धि का उपादान है। चन्द्रमा ही मन का प्रभव है। परमेष्ठी का आप ही "अद्भ्यः पृथिवी" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी बना है। पृथिवी ही स्थूलशरीर का प्रभव है। इस प्रकार ४-४, १-१, १-१, इस क्रम से १२ भग मोह सर्वथा विभक्त हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि लोक में धर्म्म-ज्ञानादि का आचरण करने वालेका भी अपयश देखा गया है। साथ ही में सतत छल छिद्रों में प्रवृत्त मनुष्य को भी यशस्वी देखा गया है।

१—१—धर्म्मः ———→ अभिनिवेशः	(१)-७		
२—२—ज्ञानम् ———→ अविद्या	(२)-८	} —सूर्य्यतः (बुद्धौ प्रतिष्ठितः)	
३—३—वैराग्यः ———→ रागद्वेषौ	(३)-९		
४—४—ऐश्वर्य्यः ———→ अस्मिता	(४)-१०		
५—१—यशः ———→ अपयशः	(१)-११	} —चन्द्रतः मनसि प्रतिष्ठितौ)	
६—२—श्रीः ———→ अलक्ष्मीः	(२)-१२	} —परमेष्ठितः (शरीरे प्रतिष्ठिते) (अथवा पृथिवीस्थानतः। अद्भ्यः पृथिवी। अपोमयः परमेष्ठी। तत् पत्नी लक्ष्मी)	

हमारा गीताशास्त्र बुद्धियोगनिष्ठा का निरूपण करता है। एवं पूर्व कथनानुसार बुद्धि के सार चार विद्याभाव, चार अविद्याभावों का ही सम्बन्ध है। अतः यहां इन आठ भावों का ही निरूपण हुआ है, शेष चारों को छोड़ दिया गया है। इन आठ भावों के सम्बन्ध से एक ही बुद्धि की आठ अवस्थाएं हो जातीं हैं। यही सांख्याभिमत–'अष्टौ बुद्धयः'' हैं। चार विद्या-बुद्धिएं अमृत प्रधान होतीं हुईं विद्यात्मिका हैं, चार अविद्या बुद्धिएं मृत्युप्रधान होतीं हुईं अविद्यात्मिका हैं। इस प्रकार भग भेद से एक ही बुद्धियोगनिष्ठा चार भागों में विभक्त हो जाती है। अध्ययात्म विद्या के साथ साथ गीता इन चारों बुद्धियोगनिष्ठाओं का भी निरूपण करती है।

ईश्वर की योगमाया बड़ी विचित्र है। दुःख बिना प्रयास के भी आ जाता है, सुख प्रयास करने से भी नहीं मिलता। लोक में भी तो हम ऐसा ही देखते हैं। प्रकाश के लिए सूर्य्य, चन्द्रादि के उदय की आवश्यकता होती है, परन्तु अन्धकार बिना किसी कार्य कारणभाव के अपने आप ही अपना अधिकार जमा लेता है। उजेले के लिए दीपक की अपेक्षा है, अंधेरे के लिए कोई कोशिश नहीं करता, फिर भी वह आक्रमण कर बैठता है। कूड़े से कौन कहता है कि आप उन स्वच्छ अट्टालिकाओं में पधारिए, एवं वहां की स्वच्छता दूर कर सब प्राङ्गणों को मलिन कर दीजिए। परन्तु आप बिना प्रयत्न के ही पधार आते हैं, और बड़ी प्रभुता से विराजमान हो जाते हैं। उधर स्वच्छता अपने आप नहीं रहती। इस के लिए प्रयास करना पड़ता है। बुहारी देनी पड़ती है सफाई करनी पड़ती है। क्यों ? उत्तर प्रकृति से पूँछिए। प्रकृति स्वभाव से ही दोषों पर अधिक कृपा रखती है, गुण पर प्रायः अकृपा रखती है। कारण प्राकृतिक विश्व का मूल ही तमोगुण है। फलतः तमोमय विश्व में दोषों का ही साम्राज्य होना स्वभावसिद्ध है।

पूर्वोक्त इसी स्वाभाविक नियम के अनुसार हमारी बुद्धि में भी अविद्याबुद्धिरूप चारों क्लेशों का रहना स्वाभाविक बन जाता है। **अविद्या** (शास्त्रज्ञानाभाव), **अस्मिता** (आत्मसंकोच), **राग–द्वेष** (विषयासक्ति), **अभिनिवेश** (दुराग्रह–हठधर्म्मी), यह चारों बिना किसी प्रयास के अपनें आप हमारे घर के प्राघुणिक (पाहुने) बनें रहते हैं। इन्हें हटानें के लिए हमें

प्रयास करना पड़ेगा। वह प्रयास होगा उक्त चारों क्लेशों के प्रतिद्वन्द्वी **ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य, धर्म्म** इन चारों भावों का बुद्धि में विकास करना। किस कारण से कौन सा दोष कब बुद्धि पर आक्रमण करता हुआ आत्मा को मलिन बना डालता है? इस प्रश्न का उत्तर देना मानवी-शक्ति से बाहर है। अधिक से अधिक इस सम्बन्ध में यही कहा जासकता है कि मनुष्य जैसे शुभाशुभ कर्म्म करता है, उन कर्म्मों का उस के अन्तःपटल पर वैसा ही संस्कार होता जाता है। एक सांस्कारिक कर्म्म का फल भोगने के लिए हम संसार में आए, दूसरे शब्दों में हमनें स्थूलशरीर धारण किया। इस शरीर से हमनें और और कर्म्म कर डाले। परिणाम यह हुआ कि जब पूर्व संस्कार के बल से उत्पन्न शरीर के (इस संस्कार भोगसमाप्ति पर) विनाश का समय आया, उस समय ऐसा नवीन कर्म्म संस्कार उक्थ रूप से आत्मा में और प्रतिष्ठित हो गया, जिस के प्रभाव से पूर्वशरीरपरित्यागानन्तर उत्तर शरीर का ग्रहण करना (जन्म लेना) आवश्यक हो गया। इस प्रकार सांसारिक कर्म्म से उत्पन्न शरीर द्वारा होने वाले कर्म्मों की कृपा से मृत्यु-जन्म, मृत्यु-जन्म यह परम्परा निरन्तर चलती रहती है, जन्ममृत्युहेतुभूत इस सांस्कारिक कर्म्मपरम्परा का ही नाम **"कर्म्माश्वत्थ"** है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। इन सांस्कारिक कर्म्मों की कृपा से जन्ममृत्युपाश में बद्ध, अतएव सर्वथा परतन्त्र इस आत्मा में संस्कार वश यथा समय अविद्यादि दोषों का बुद्धि द्वारा आक्रमण हुआ करता है। इन अविद्याओं से आवृत होती हुई बुद्धि भी अविद्यात्मिका बन जाती है। इस अविद्या बुद्धि के सम्बन्ध से आत्मा का विद्या भाग आवृत हो जाता है। विद्या के निर्बल होते ही, किंवा आवृत होते ही अविद्यादि दोषों को अविद्या बुद्धि द्वारा आत्मा पर आक्रमण करने का अवसर मिल जाता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपनी धरोहर को कहीं रख कर भूल जाता है, इस भूल से घर में ही कहीं अज्ञात स्थान नें धरोहर के पड़े रहने पर भी इस अज्ञान की कृपा से अन्यमनस्क बनता हुआ व्याकुल एवं दुःखी होता हुआ उस धरोहर की खोज में इधर उधर भटकता हुआ **"तुझे मालूम है क्या" "तुमने मेरी वस्तु देखी है क्या"** इस प्रकार इतर व्यक्तियों से पूछा करता है, एवं वहां—**"नहीं हमने नहीं देखी" "हमें नहीं मालूम"** इस प्रकार के निराशामय उत्तर सुन कर

और भी अधिक दुःख पाया करता है, ठीक वही परिस्थिति उस व्यक्ति की होती है, जो कि अविद्या से आक्रान्त है। शान्तिलक्षण आत्मानन्दरूप धरोहर इसी के पास है, इसी के घर में प्रतिष्ठित है। परन्तु अविद्या के आक्रमण से यह अपनी उस आनन्द सम्पत्ति को भूल जाता है। यही धरोहर इस का जीवन है, अतः इस के बिना इसे क्षणभर भी चैन नहीं पड़ता। फलतः अज्ञानवश मोह में पड़कर इसी आनन्द की खोज के लिए इन्द्रियों के द्वारा यह लौकिक विषयों के पास भटकता फिरता है। उधर विषयों में आनन्द कहां। वे तो स्वयं जड़रूप होते हुए आत्मानन्द से बञ्चित हैं। फलतः विषयों में अभीप्सित आनन्द के न मिलने के कारण यह और भी अधिक व्याकुल हो जाता है। जीवात्मा की इस आगन्तुक वेदना को दूर करनेके लिये, वेदनामूलभूत अविद्या दोषों का समूल विनाश करने के लिए प्रवृत्त होने वाला गीताशास्त्र अविद्या से उत्पन्न शोकनिवरणार्थ आवरण लक्षण अविद्यादि दोषों को हटाने का उपायमात्र बन जाता है। वह उपाय है—धर्म्म-ज्ञानादि रूप विद्याभावों का उत्कर्ष। विद्या जिन उपायों से प्रकट हो जाती है, उन उपायों का स्पष्टीकरण करना ही तो गीता का मुख्य लक्ष्य है। उन उपायों से होता क्या है? चतुर्विध बुद्धियोगनिष्ठाओं की प्राप्ति। धर्म्मबुद्धियोग से अभिनिवेश की, ज्ञानबुद्धियोग से मोह रूपा अविद्या की, वैराग्यबुद्धियोग से रागद्वेषरूप आसक्ति की, ऐश्वर्यबुद्धियोग से अस्मिता की निवृत्ति हो जाती है। आवरण हट जाता है, आत्मबोधका का उदय हो जाता है, शाश्वत शान्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार आत्मविद्यामें जैसे गीता अव्यय को मुख्य लक्ष्य बनाती है, एवमेव प्रकृतिविद्या किंवा बुद्धिविद्या में गीता बुद्धियोग को अपना प्रधान लक्ष्य मानती है।

— ० —

बुद्धियोग का स्वरूप निर्वचन

क्या आत्मा के साथ बुद्धि का योग नहीं रहता? विज्ञान सिद्धान्त के अनुसार तो हम यही कहेंगे कि बुद्धि आत्मा के बिना क्षणमात्र भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकती। इन्द्रियों

* श्रीः *

१–वैराग्य-बुद्धियोग

पूर्व के **गीताप्रतिपादित आत्मविद्या, गीताप्रतिपादित बुद्धियोग, एवं बुद्धियोग-शब्द का स्वरूपनिर्वचन** इन तीनों प्रकरणों से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि गीताशास्त्र ने आत्मा के ज्ञान भाग के सम्बन्ध में तो चार **विद्याओं** का निरूपण किया है, एवं आत्मा के कर्म्मभाग के सम्बन्ध में चार **बुद्धियोगों** का निरूपण किया है। गीताप्रतिपादित आत्मा **अव्ययपुरुष** है। विद्या द्वारा अव्ययभक्तिलक्षणा आत्मविद्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है, एवं बहिरङ्गप्रकृतिभक्ति–(वाक्प्रकृतिभक्ति)–लक्षणा बुद्धि की ओर बुद्धियोग द्वारा हमारा ध्यान आकर्षित किया है। इस प्रकार प्रकृति-पुरुष के समन्वितरूप का निरूपक यह गीताशास्त्र अवश्य ही एक पूर्ण एवं अलौकिक ग्रन्थ कहा जासकता है। **क्लेशनिवृत्ति ही गीताशास्त्र** का मुख्य **उद्देश्य है,** तदर्थ **भगसम्पत्ति** प्राप्ति का उपाय बतलाना ही गीता का मुख्य विषय है। विज्ञान प्रणाली के नष्टप्राय हो जाने से आज विद्वत् समाज में क्लेश को दुःख का पर्य्याय, एवं भग को ऐश्वर्य का पर्य्याय समझा जारहा है। वस्तुतः क्लेश दुःख का कारण है, एवं भग ऐश्वर्य्यादि का कारण है। **अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश** इन पांचों के लिये क्लेश शब्द नियत है। इन क्लेशों के आजाने से दुःख का उदय होता है। इसी प्रकार **धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य** इन चारों के लिये भग शब्द नियत है। इन के आगमन से शान्तिलक्षण आत्मानन्द का विकास होता है। आनन्दलक्षण भगसम्पति को प्राप्त करो, भग के प्रतिद्वन्दी क्लेश निवृत्त हो जायंगे, क्लेशनिवृत्ति से क्षोभलक्षण दुःख अपने आप निवृत्त हो जायगा। स्वयं भगसम्पत्ति का नाम **बुद्धियोग है**। भगसम्पत्ति प्राप्ति के प्रकार (तरकीब) का नाम **विद्या है**। इस प्रकार चार बुद्धियोगों के कारण तत्प्राप्तिप्रकारभूता विद्याएं भी चार ही हो जातीं हैं, जैसा कि आगे की तालिका से स्पष्ट हो जायगा। इन चारों प्रकारों में से एक भी प्रकार का अनुष्ठान अध्यात्मसंस्था की शान्ति का कारण बन जाता है। यदि चारों का ही विकास **है,** तब तो कहना ही क्या **है**। चतुर्विध बुद्धियोगाधिष्ठाता पुरुष पुरुष नहीं, साक्षात् परब्रह्म का अवतार है।

बुद्धियोग–विद्या चतुष्टयी—

१–वैराग्यबुद्धियोगः—राजर्षिविद्या—ततः–रागद्वेषनिवृत्तिः (१)
२–ज्ञानबुद्धियोगः—सिद्धविद्या—ततः–अविद्यालक्षणमोहनिवृत्तिः (२)
३–ऐश्वर्यबुद्धियोगः—राजविद्या—ततः–अस्मितानिवृत्तिः (३)
४–धर्म्मबुद्धियोगः—आर्षविद्या—ततः–अभिनिवेशनिवृत्तिः (४)

यद्यपि स्वयं मूलभाष्य में उक्त योगों, एवं विद्याओं का विस्तार से निरूपण होने वाला है, परन्तु प्रकरणसंगति के लिए संक्षेप से इस उपोद्घात प्रकरण में भी क्रमशः इन का स्वरूप जान लेना अनावश्यक न होगा। पहिले **राजर्षिविद्या** मूलक **वैराग्यबुद्धियोग** को ही लीजिए। **राग-द्वेषलक्षण** क्लेश से उत्पन्न होने वाले शोक को रोकने वाला कारण ही **वैराग्यबुद्धियोग** है, एवं इस कारण का स्वरूपज्ञान कराने वाली प्रक्रिया ही **वैराग्य-विद्या है**। यही विद्या गीता में **राजर्षिविद्या** नाम से व्यहृत हुई है।

पूर्वजन्मकृत कर्म्मों की कृपा से उत्पन्न संस्कार हमारे इस प्रारब्ध जन्म के कारण बनते हैं। सांस्कारिक कर्म्मानुसार ही हमें **ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र** इन चारों वर्णों में से किसी एक वर्ण में जन्म लेना पड़ता है। व्यापक आत्मा का कर्म्मवश शरीर बन्धन में आ जाना, यही आत्मा की पहिली परतन्त्रता है। उन्हीं सांस्कारिक कर्म्मों के प्रबल आघात से, प्रबल प्रेरणा से इच्छा न होते हुए भी–**"अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः"** इस सिद्धान्त के अनुसार सांसारिक दुःखप्रद तत्तत् भोगों में प्रवृत्त होना, आत्मा की दूसरी परतन्त्रता है। पिता के शुक्र, माता के शोणित में औपपातिक रूप से कर्म्मवश प्रतिष्ठित होकर गर्भाशय यन्त्र से नियन्त्रित होना भी एक महा परतन्त्रता है। माता पिता के सांक्रमिक दोषों का उन के पुत्र होने के नाते अधिकारी बनना ही एक महादुःख का उदय है। प्रकृतिमण्डलस्थ क्रूर ग्रहों की सत्ता में गर्भाशय में आने से तत्तद् ग्रहों के तत्तत् प्राणों से युक्त होकर उन की कृपा का भाजन बनाना भी कम परतन्त्रता नहीं है। जिस देश में हम जन्म लेते हैं, उस

देश की अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति भी हमें निर्लेप नहीं छोड़ देती। आर्थिक परिस्थिति के अनुसार, किंवा शिक्षा की कमी के कारण माता को जैसा भोजन प्राप्त होता है, उस विकृत अविकृत भोजन के रस से नाभिनाल द्वारा गर्भाशय में प्रतिष्ठित हमारा जो पोषण होता है, इस रसपोषण से होने वाले जो गुण दोष हैं, उन का भी हमें हिस्सेदार बनना पड़ता है। इस प्रकार **शुक्रदोष, शोणितदोष, ग्रहदोष, नाड़ीदोष, देशदोष, अन्नदोष, कर्म्मदोष, शरीरदोष** आदि अनेक दोषों की चहार दीवारी से घिरता हुआ यह जीवात्मा कर्म्मफल भोगने के लिए धरातल पर अवतीर्ण होता है। होता क्या है—सहजसिद्ध सांस्कारिक कर्म्मों की परतन्त्रतावश इसे उक्त दोषों को तो विवश होकर अपनाना ही पड़ता है, परन्तु इन से अतिरिक्त अपने इन्द्रियदोषलक्षण प्रज्ञापराध (नासमझी) से यह और और भी दोषों को बटोर लेता है। पहिले के समाप्त नहीं होते, और सञ्चित हो जाते हैं। सञ्चित अविद्यादिदोष एवं प्राक्तनकर्म्मकृत सांस्कारिक दोष जीवात्मा के ज्योतिर्मय विद्याभाग को सर्वथा आवृत कर लेते हैं। यही इसके दुःखी रहने का मूल कारण है। किन कारणों से यह दुःखी रहता है ? इस प्रश्न के समाधन के लिए हम पहिले **रागयो-द्वेष** नाम की दो प्रसिद्ध अविद्याविभूतियों को ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं।

इन्द्रियों के द्वारा मन से हम सांसारिक विषयभोगों में प्रवृत्त होते हैं। साथ ही में यह भी एक सिद्ध विषय है कि कितनें ही पदार्थों के साथ तो हमारा प्रेम होता है, एवं कितनों हीं से स्वभावतः द्वेष रहता है। प्रेम और द्वेष दोनो हीं व्यापारों में हमारा मन उन विषयों में बद्ध हो जाता है। जिस के साथ हम प्रेम करते हैं, उस प्रेमी के आकार से हमारा मन आकारित रहता है। साथ ही में जिस के साथ द्वेष करते हैं, उस का आकार भी अन्तःपटल पर खचित रहता है। शत्रु एवं मित्र दोनों मन पर चढ़े रहते हैं। आश्चर्य तो यह है कि एक प्रेमी मित्र कभी भुलाया भी जासकता है, परन्तु एक प्रबल शत्रु खाते, पीते, सोते, उठते, बैठते सदा हमारी दृष्टि पर चढ़ा रहता है। किसी रज्जु (रस्सी) में सीधी गांठ लगाना **राग** है, उल्टी गांठ लगाना द्वेष है। शास्त्रपरिभाषा के अनुसार **अनुकूल बन्धन** राग है, **प्रतिकूल बन्धन** द्वेष है। एक आदमी आप के सामने खड़ा है, दोनो के शरीर का स्पर्श नहीं है, केवल दृष्टि का सं-

म्बन्ध है। वह आप को देख रहा है, आप उसे देख रहे हैं। दोनों का मध्य धरातल एक है, दोनों का सहयोग हो रहा है, शरीर से पृथक् रहते हुए भी दोनों का लक्ष्य एक बन रहा है। इस मुख-सांमुख्य का ही नाम "राग" है। लीजिए आप दोनों ने मुख को लौटा दिया। पीठ से पीठ मिला दी। परिणाम क्या हुआ–आप की दृष्टि पूर्व में है, तो दूसरे की दृष्टि पश्चिम में है, दोनों के लक्ष्य भिन्न भिन्न हैं। ध्यान रखिए-शरीर दोनों के परस्पर में मिले हुए हैं। सहयोग में असहयोग है, सम्बन्ध में असम्बन्ध है, मेल में बेमेल है। इस प्रतिकूल सहयोग का ही नाम "द्वेष" है। राग में विषय का आगमन होते हुए बन्धन है, एवं द्वेष में विषय के न आने पर भी बन्धन है। सर्प, विष, हिंसक प्राणी आदि से हम कोसों दूर भागते हैं। फिर भी इन के साथ मन का योग रहता है। कानून के जानने वालों को यह मालूम है कि चोरी करने वाले चोर की अपेक्षा चोरी की मन्शाह रखने वाले को अधिक दण्ड मिलता है। ठीक वही दशा यहां है। मन का विषय के साथ सम्बन्ध करने वाले द्वेषानुयायी का मन उस अप्रिय विषय के साथ दृढ़रूप से बद्ध रहता है। राग एवं द्वेष दोनों ही आसक्ति के कारण हैं। अथवा आसक्ति के ही रागासक्ति एवं द्वेषासक्ति भेद से दो विवर्त्त हैं।

आपने मार्ग में चलते हुए एक सुन्दर दृश्य देखा। दृश्य की अतिशयसुन्दरता से आपका मन उस ओर विशेष रूप से आकर्षित हो गया। तत्काल उपलब्धिवेद के प्रभाव से उस दृश्य की छाप आप के मन पर लग गई। आप आगे निकल गए, परन्तु मन में वही दृश्य चढ़ा हुआ है, मन दृश्याकाराकारित बन रहा है। मन पर दृश्य की जो छाप है (जो कि संस्कार नाम से प्रसिद्ध है), वही "वासना" नाम से प्रसिद्ध है। वह दृश्य संस्काररूप से मन पर बस जाता है, अतएव इसे वासना कहना अन्वर्थ होता है। यह वासना संस्कार करता क्या है ? सुनिए! आप घर लोट आते हैं। परन्तु आपको यह मानस संस्कार "चलें, फिर एकबार उस दृश्य को देखें" यह विचार उत्पन्न किया करता है। फलतः इस चर्वणा से मन उस विषय के साथ बद्ध हो जाता है। वासना ही स्मृति की जननी है, स्मृति ही रागासक्तिरूप विषयबन्धन की जननी है। यह आसक्ति होती कब है ? यह भी विचारणीय प्रश्न है। यदि आप घर लौट

कर अन्यान्य कर्म्मों में व्यस्त हो जांयगे तो स्मृति का उदय न होगा। फलतः वासना संस्कार को तत्सम्बन्धी विषय की ओर मन को ले जाने का अवसर न मिलेगा। यदि आप और किसी कार्य में प्रवृत्त न हो कर बार बार उसी विषय का चिन्तन करते रहे तो इस ध्यान के चिरकाल से अवश्य ही स्मृति का उदय हो जायगा। फलतः मन आसक्तिपाश में बद्ध हो जायगा। आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि "**चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम्**" के अनुसार संकल्प-विकल्पात्मक (ग्रहण-परित्यागधर्म्मावच्छिन्न) मन किसी विषयपर पर चिर-काल तक स्थिर नहीं रह सकता। क्षणभर इस विषय पर, क्षणमात्र उस विषय पर, कभी उसको लिया, इसको छोड़ा, कभी अन्य को लिया, अन्य को छोड़ा यह मन का स्वाभाविक धर्म्म है। जब मन चिरकाल तक किसी विषय पर स्थिर नहीं रह सकता तो यह मान लेना पड़-ता है कि आसक्ति के मूलहेतु चिरकालिक ध्यान में अवश्य ही मन को किसी अन्य सहयोगी की सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। विशुद्ध मन चिरकाल तक एक ही विषय के अनुध्यान में सर्वथा असमर्थ है। वह सहयोगी है—बुद्धि। बुद्धि स्थिरलक्षणा है। बुद्धि के सहयोग से मन में स्थिर ता का उदय होता है। फलतः बुद्धि सहकृत मन चिरकाल तक उस विषय के चिन्तन में समर्थ हो जाता है। मन स्वयं स्निग्ध पदार्थ है। कारण मन का निर्म्माण अन्नद्वारा चान्द्रसोम से हुआ है। चान्द्रसोम भार्गव तत्त्व है। भृगु तेजोरूप है। इस अपने स्नेहगुण से तेजोलक्षणा बुद्धि की स्थिरता को लेकर मन विषय में आसक्त हो जाता है। यह अनुध्यान ही विषयसंग का कारण है। बुद्धि के इसी सहयोग को लोकभाषा में "**ख़याल**" कहते हैं। ख़याल बुद्धि का व्यापार है। यदि मन बार बार उस विषय का ख़याल करता रहेगा, बुद्धि की मदद लेता रहेगा, तो अवश्य ही वह विषयासक्ति में फंस जायगा। यदि आपने ख़याल (बुद्धि) हटा लिया तो आसक्ति को अवसर न मिलेगा।

बुद्धि तत्त्व **अपेक्षा उपेक्षा** भेद से दो भागों में विभक्त है। मन और बुद्धि का संयोग होता है। इस संयोग में यदि बुद्धि मन के आधीन है, तो उपेक्षा है। यदि मन बुद्धि के आधीन है, तो अपेक्षा है। उपेक्षा बुद्धि **उत्थिताकाङ्क्षा** (अपने आप उठी हुई स्वाभाविकेच्छा,

किंवा ईश्वरेच्छा) की जननी है। एवं अपेक्षा बुद्धि उत्थाप्याकाङ्क्षा (मन की इच्छा, किंवा-जीवेच्छा) की जननी है। यदि उपेक्षा बुद्धि है, तो मन कभी आसक्ति का कारण न.ीं बन. सकता। कारण आसक्ति में चिरकालिक अनुध्यान अपेक्षित है। वह बुद्धि का व्यापार है। इधर अपेक्षाभाव में बुद्धि मन के आधीन रहती हुई, अतएव अपने स्थिरतालक्षण अनुध्यान कर्म्म में असमर्थ रहती है। इसी उपेक्षा बुद्धि के सम्बन्ध में "उसने गौर नहीं किया" यह कहा जाता है। यदि अपेक्षा बुद्धि है तो अनुध्यान को अवसर मिल जाता है। कारण यहां बुद्धि प्रधान रहती है, मन इसके आधीन रहता है। फलतः बुद्धि को अपने स्थिरधर्म्मप्रयोग का अवसर मिल जाता है। इसी सम्बन्ध में "उसने खूब गौर किया है" यह कहा जाता है। यद्यपि तेजोलक्षणा अपेक्षा बुद्धि स्वयं असंग है, वह विषयकाराकारिता नहीं बनती। परन्तु चूँकि इसके साथ मन रहता है, अतः बुद्धि की कृपा से मन में संस्कार की छाप दृढ़ हो जाती है। विषय की छाप को लेना, दूसरे शब्दों में विषयाकार में परिणत होना मन का काम है, एवं उस छाप का दृढ़मूल बनना बुद्धि की महिमा है।

बुद्धितत्त्व भग-क्लेश भेद से (विद्या-अविद्या भेद से) दो भागों में विभक्त है, यह पाठक न भूले होंगे। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि अविद्याबुद्धि से युक्त मन ही आसक्ति का अधिष्ठाता बनता है। संस्कार को दृढ़ बनाना क्लेशरूप अविद्या का ही काम है। यदि बुद्धि में विद्या नामक भग भाग की प्रधानता है तो यह विषय के साथ सम्बन्ध करती हुई भी आसक्ति उत्पन्न नहीं करेगी। ऐसी परिस्थिति में हम इस निष्कर्ष पहुचते हैं कि—अविद्या-बुद्धिसकृत मन का चिरकाल तक विषय का चिन्तन करना ही अनुध्यान है, अथवा प्रज्ञान में विज्ञान का संश्लिष्ट होना ही अनुध्यान है, अथवा अविद्यारूप अपेक्षा बुद्धि के द्वारा मन से (इन्द्रियों के द्वारा) परिगृहीत विषय को चिरकाल तक गृहीत रखना ही अनुध्यान है। यही अनुध्यान आसक्ति का मूलजनक है। चिरकालिक यह विषयसंयोग ही आसक्ति, किंवा संग है, यही राग है। राग काम मूलक है, एवं द्वेष क्रोधमूलक है। अथवा काम रागमूलक है, क्रोध द्वेषमूलक है। जो लक्षण राग का है, वही द्वेष का है। दोनों में मन की चिरकालिक अनु-

ध्यानजन्या आसक्ति विद्यमान है। एक में ग्रहण की आसक्ति है, एक में परित्याग है। एक को याद रखना चाहते हैं, दूसरे को भूलना चाहते हैं। काम-क्रोधमूला यह रागासक्ति, एवं द्वेषासक्ति दोनों ही आत्मविनाश के कारण हैं।

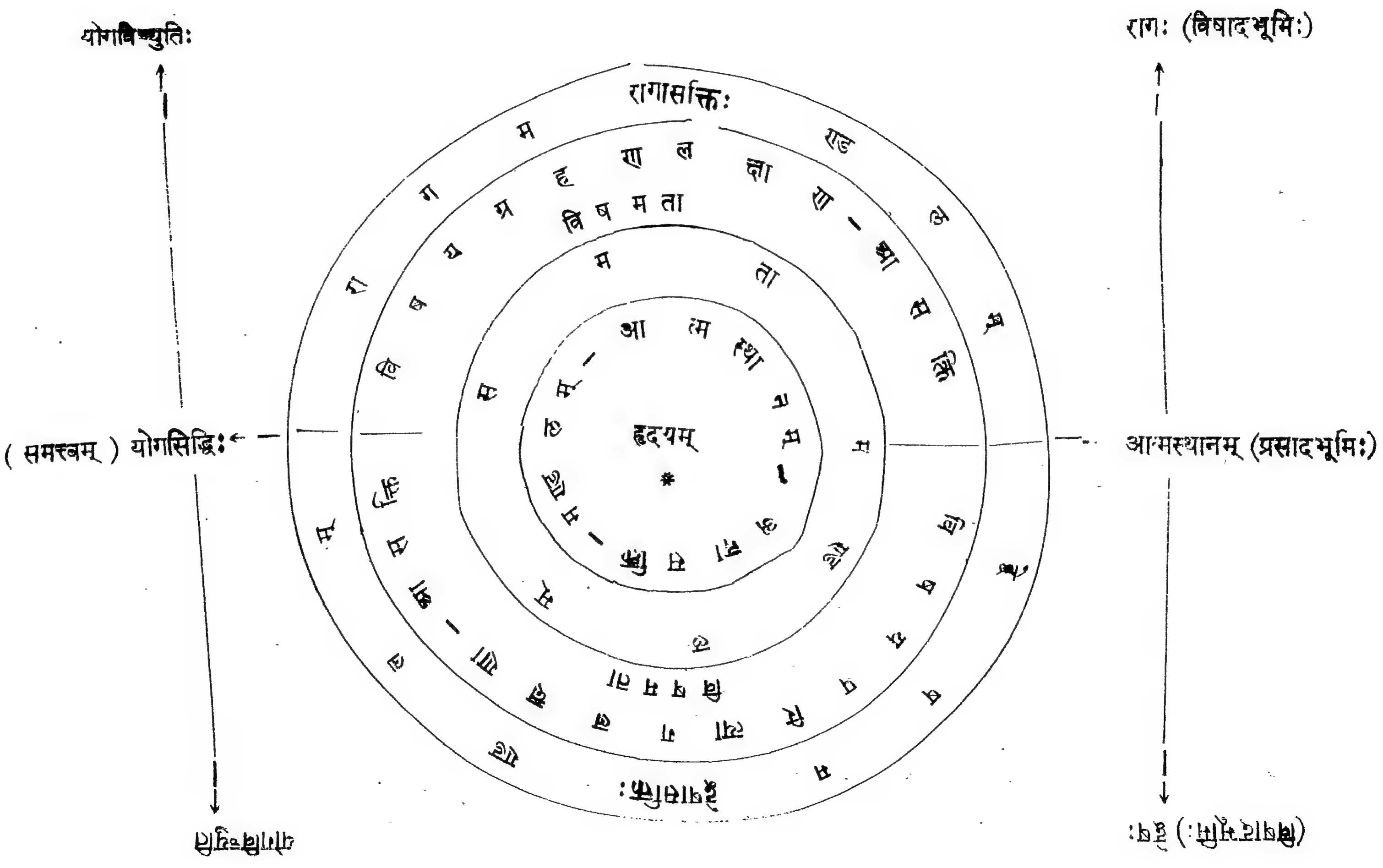
राग-द्वेष से आत्मा का क्या बिगड़ता है ? इस प्रश्न का समाधान करने की कोई आवश्यकता नहीं। राग से भी आत्मा में क्षोभ उत्पन्न होता है, एवं द्वेष से भी आत्मा क्षुब्ध रहता है। क्षोभ ही तो अशान्ति है, अशान्ति ही तो दुःख की आवासभूमि है, किंवा अशान्ति ही तो दुःख है— "अशान्तस्य कुतः सुखम्"। ज्योतिर्म्मय आत्मा का मन के द्वारा विषय में बद्ध हो जाना ही इस का पारतन्त्र्य है। विषयावरण से आवृत आत्मा अपने स्वाभाविक विकास से वञ्चित हो जाता है। यह आवरणलक्षणा, किंवा बन्धनलक्षणा परतन्त्रता ही दुःख की मूलजननी है। होता यह है कि रागद्वेषरूपा आसक्ति के प्रवेश से बुद्धि में अविद्याभाव की प्रधानता हो जाती है, फलतः बुद्धि का विद्याभाग निर्बल बन जाता है। इस आसक्तिरूप अविद्या के आवरण से विद्याबुद्धि का आत्मविद्या (अव्ययविद्या) के साथ योग नहीं होने पाता। इस अन्तराय से बुद्धि आत्मा की स्वाभाविक ज्योति से वञ्चित होती हुई आत्मलक्षण प्रसादगुण से वञ्चित रह जाती है। आसक्तिमयी ऐसी बुद्धि वाला मनुष्य यदि विद्वान् भी है, शास्त्रज्ञ भी है, तब भी वह इन्द्रियसंयम करने में असमर्थ ही रहता है। आसक्तिप्रधान मनुष्य का जप-तप-प्राणायाम-ईश्वरोपासना आदि सब प्रयत्न व्यर्थ जाते हैं। इसी स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ (गी० २।६०)

आत्मा का अपना कोई नियत धरातल है। वही धरातल उपनिषदों में "दहराकाश" एवं "दभ्राकाश" नामों से व्यवहृत हुआ है। हृदयाकाशस्थ इसी दहरपुण्डरीक में ज्योतिर्घन आत्मा प्रतिष्ठित रहता है। हृदयस्थ आत्मा में विषमता का सर्वथा अभाव है। क्योंकि हृदयस्थान में पूर्णप्रतिष्ठाभाव के कारण विषमता को प्रवेश करने का अवसर ही नहीं मिलता। ऐसी अवस्था में अपेक्षाबुद्धिसहकृत मन यदि आसक्तिवश विषयों से राग करता है, तो आत्मा

के उस ओर विषमस्थान में प्रतिष्ठित विषयों के संसर्ग से आत्मस्वरूप समता से च्युत होता हुआ विषमभावमूलक विषाद से युक्त होजाता है। इसी प्रकार आसक्तिवश विषयों से द्वेष करता हुआ आत्मा से इस ओर हटता हुआ भी विषाद के कुचक्र में फंस जाता है। दोनों (राग-द्वेष) में हीं स्थानविच्युति है, दोनों में हीं क्षोभ लक्षणा अशान्ति है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

करना क्या चाहिए ? कैसे आसक्ति हटाना चाहिए ? उत्तर वही सुप्रसिद्ध **वैराग्यबुद्धियोग** है। आसक्ति को आप नहीं हटा सकते, अपितु आसक्ति का प्रतिद्वन्द्वी अनासक्तिलक्षण **वैराग्य** ही इसे हटा सकता है। जबतक आसक्तिरूप अविद्यायुक्त बुद्धि में रागद्वेषनिवृत्ति-लक्षण वैराग्यभाव उत्पन्न न किया जायगा, जबतक पूर्वकथनानुसार सारे उपाय व्यर्थ जायगे। जिस दिन बुद्धि में, किंवा बुद्धिसहकृत मन में वैराग्य का उदय हो जायगा, उस दिन आसक्ति अपने आप हट जायगी। ऐसी वैराग्यभावोपेता बुद्धि का आत्मविद्या के साथ जो योग होगा, वही वैराग्यबुद्धियोग कहलावेगा। वैराग्य को बुद्धियोग नहीं कहा जाता है। बुद्धि का (आत्मा के साथ) योग तो स्वतः सिद्ध है, जैसा कि पूर्व के **बुद्धियोगनिर्वचन** में विस्तार से बतलाया जा चुका है। स्वतः सिद्ध बुद्धियोग आसक्तिरूप आवरण से आत्मज्योति से वियुक्त होता हुआ विषमता का कारण बन जाता है। आसक्तिरूप वैराग्य के आ जाने से आवरण हट जाता है, समत्वलक्षण आत्मा से युक्त बुद्धि आत्मज्योति से योग करती हुई प्रसादभाव को प्राप्त हो जाती है। ऐसी अवस्था में **"वैराग्यबुद्धियोग"** का **"वैराग्यहेतुक-बुद्धियोग"** यही तात्पर्य्य समझना चाहिए। बुद्धियोग सिद्ध पदार्थ है, वैराग्य साध्य है। इस साध्य की सिद्धि के लिए, दूसरे शब्दों में वैराग्य के उदय के लिए कितनें ही उपायों का आश्रय लेना पड़ता है। वह उपाय संग्रह ही वैराग्यविद्या है, यही राजर्षिविद्या है। राजर्षिविद्या में भगवान नें प्रधान रूप से अनासक्ति का ही उपदेश दिया है, एवं जिन वृत्तियों से, जिन उपायों से आत्मा राग द्वेष से विमुक्त होता है, वे उपाय बतलाए हैं। अमुक व्यक्ति में वैराग्यहेतुक बुद्धियोग का उदय हुआ कि नहीं, यदि इस का निश्चय करना हो तो उस व्यक्ति की वृत्ति (वर्त्तन-व्यवहार) पर लक्ष्य दीजिये। यदि उस व्यक्ति की वृत्ति में समता है, यदि उस के व्यवहार में **"दूसरा ही कोई करता है, दूसरा ही कोई**


योगविच्युतिः
रागः (विषादभूमिः)
रागासक्तिः
विषमता
हृदयम्
(समत्वम्) योगसिद्धिः
आत्मस्थानम् (प्रसादभूमिः)

कराता है। दुनिया के काम ऐसे ही बनते हैं, ऐसे ही बिगड़ते हैं" इन भावों की आप प्रधानता देखते हैं, तो विश्वास कर लीजिए! उसने वैराग्यबुद्धियोगनिष्ठा में सिद्धि प्राप्त कर ली, यही इस योग की पहिचान है। एक हीरा मिल गया तो हर्ष नहीं, वह नष्ट हो गया तो क्षोभ नहीं। न किसी से राग, न किसी से द्वेष, इसी का नाम समता है। कार्य सिद्ध हो गया तो ठीक है, न सिद्ध हुआ तो ठीक है, यही समत्वयोग है। समय समय पर ज्ञान-कर्म्म के द्वारा आत्मा में ऊँचे नीचे भाव उत्पन्न हुआ करते हैं। कभी हमारा ज्ञान हमारे आनन्द का कारण बनता है, कभी हमारी समझ हमें दुःख देने लगती है। कभी कोई कर्म्म हमें प्रसन्न कर देता है, कभी किसी कर्म्म को करके हम पछताने लगते हैं। ज्ञान-कर्म्म के यह उच्चावचभाव हमारे मन में क्षोभ उत्पन्न करते रहते हैं। किसीने आके कह दिया कि तुम्हें अमुक व्यक्ति एक सहस्र रुपय्ये देगा। लीजिए सुनते ही बौद्धजगत् में एक तूफान खड़ा हो गया। जिस प्रकार एक रोगार्त्त मनुष्य को खाना पीना कुछ अच्छा नहीं लगता, वह रोगवेदना से छटपटाता रहता है, ठीक वही दशा इस की हो जाती है। अर्थलालसा सब कुछ भुला देती है। इसी प्रकार किसी ने कह दिया कि आज से तुम्हें सेवा कर्म्म करना पड़ेगा, लीजिए सारा उत्साह मन्द होगया। बस जो पुरुषपुङ्गव ज्ञान-कर्म्म के इन उच्चावचभावों में सतत प्रवृत्त रहता हुआ भी नित्य निर्द्वन्द्व रहता है, जो न कभी अट्टाट्टहास करता, न कभी अश्रुपात करता, विश्वास कीजिए! उसे वैराग्यबुद्धियोग मिल गया। ऐसे धीर की प्रज्ञा (बुद्धिसहकृत मन) सर्वथा स्थिर हो जाती है, क्यों कि उसने प्रविभाग छोड़ते हुए आत्म-प्रतिष्ठा को अपना लिया है। ऐसे व्यक्ति की बुद्धि मन के आधीन हो जाती है, उपेक्षा—भाव का उदय हो जाता है। फलतः सतत विषयों में प्रवृत्त रहता हुआ भी यह निर्लिप्त रहता है। इसका अपना इच्छास्वातन्त्र्य टूट कर ईश्वरेच्छा में अन्तर्भूत हो जाता है। इसकी तो "कुर्वन्नवेह कर्माणि न करोति न लिप्यते" यह अवस्था हो जाती है। इसी वैराग्यबुद्धि-योग का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं —

१ — योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्त्वं योग उच्यते ॥ (२।४८)।

२ — इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ (५।१९)।

३ — सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ (६।२९)।

४ — आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन !
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ (६।३२)।

हे अर्जुन ! तुम आसक्ति छोड़ कर (वैराग्यसंपत्ति प्राप्त करते हुए) योग (बुद्धि-योग) में प्रतिष्ठित हो जाओ। सिद्धि एवं असिद्धि में अपने आपको सम बना डालो। क्योंकि समत्व ही योग कहा जाता है। अर्थात् जिस दिन राग-द्वेषमूलिका आसक्ति को छोड़ते हुए तुम वैराग्यहेतुकबुद्धियोग का आश्रय ले लोगे, उस दिन तुम्हारा बुद्धिसहकृत मन योगलक्षण आत्मा में प्रतिष्ठित हो जायगा। उस दशा में न सिद्धि से तुम्हें राग होगा, न असिद्धि में द्वेष रहेगा, क्योंकि योग की यही महिमा है। आत्मयोग सचमुच समतालक्षण है। उस पर प्रतिष्ठित हो जाने से विषमता को अवसर ही नहीं मिलता।

जिन योगियों का मन समत्वयोग में प्रतिष्ठित हो गया, उन्होंने इसी लोक में, इसी शरीर से सम्पूर्ण विश्व पर विजय प्राप्त कर लिया। कारण स्पष्ट है। हृदयस्थ अव्ययब्रह्म **"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्"** के अनुसार सर्वत्र सम है, अविद्यादि दोषों से एकान्ततः विनिर्मुक्त है। वैराग्य द्वारा अपनी बुद्धि का जिन्होंनें इस हृदयस्थ सम एवं निर्दोष ब्रह्म के साथ योग कर दिया, जो ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो गए, वे अवश्य ही विषमतालक्षण विश्व पर विजय प्राप्त कर चुके।

राजर्षिविद्याके सम्यक् अनुष्ठान से वैराग्यहेतुक बुद्धियोग को सिद्ध करने वाला, अतएव **"योगयुक्तात्मा"** नाम से प्रसिद्ध वह योगी सर्वत्र समानभाव से कर्म्मानुष्ठान में प्रवृत्त रहता हुआ अपने आप को सम्पूर्ण भूतों में प्रतिष्ठित देखता है, एवं सम्पूर्ण भूतों को अपने आपमें प्रतिष्ठित देखता है। तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार विश्वव्यापक अव्ययेश्वर सम्पूर्ण विश्व में

व्याप्त है, एवं सम्पूर्ण विश्व उसके गर्भ में प्रविष्ट है, इसी आत्मीयता से जैसे उस का किसी के साथ न राग है, न द्वेष है, तथैव वैराग्यबुद्धियोग द्वारा अव्यय का साक्षात् करने वाला जीवात्मा (शारीरकआत्मा) अव्यय के साथ समभाव को प्राप्त होता हुआ द्वन्द्वभावों से पृथक् हो जाता है।

हे अर्जुन! जो (महापुरुष) अपने ही समान सर्वत्र देखता है, विश्व के दुःख को अपना दुःख समझता है, विश्व के सुख को अपना सुख समझता है, वही मेरी दृष्टि मे श्रेष्ठ योगी है। अर्थात ज्ञान– ऐश्वर्य – धर्म्मबुद्धियोगों का अनुष्ठान करने वाले भी योगी अवश्य कहलाते हैं। परन्तु इन सबकी अपेक्षा समत्त्वलक्षण वैराग्यबुद्धियोग से सिद्धि प्राप्त करने वाला योगी ही सर्वश्रेष्ठ कहा जायगा। गीताप्रतिपादित **राजर्षिविद्या** द्वारा सिद्ध **वैराग्यबुद्धियोग** का यही संक्षिप्त स्वरूप-निर्वचन है।

—— १ ——

२—ज्ञान-बुद्धियोग

जिस प्रकार राग-द्वेषरूपा **आसक्ति** का प्रतिद्वन्द्वी भाव **"वैराग्य"** नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव **मोह** का प्रतिद्वन्द्वी भाव **ज्ञान** है। दर्शन ने ज्ञान के प्रतिद्वन्द्वी इस मोह को **"अविद्या"** शब्द से व्यवहृत किया है। यद्यपि दर्शनमर्यादा के अनुसार ज्ञान के प्रतिद्वन्द्वी को अविद्या शब्द से व्यवहृत करना असङ्गत प्रतीत नहीं होता, परन्तु विज्ञान मर्यादा के अनुसार इसे अविद्या न कह कर मोह शब्द से ही व्यवहृत करना चाहिये। कारण मोह–अस्मिता–आसक्ति–अभिनिवेश इन चारों का ही नाम अविद्या है। अविद्या शब्द से चारों का ग्रहण होता है। इस दृष्टि से तो अस्मिता भी अविद्या है, अभिनिवेश भी अविद्या है, आसक्ति भी अविद्या है, मोह भी अविद्या है। परन्तु जब चारों के पृथक् नामों की हम गणना करेंगे तो उस समय मोह को मोह ही कहेंगे। फलतः विज्ञानपक्ष में— **"अविद्या–अस्मिता–रागद्वेषा–भिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः"** इस के स्थान में **"मोहास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च-क्लेशाः"** यह रूप होना चाहिये। अस्तु हमारी बुद्धि में संस्कारवश, किंवा प्रकृति की कृपा से मोह का साम्राज्य रहता है। इस मोह के सम्बन्ध से बुद्धि भी मुग्ध बन जाती है, सद्-

सद्विवेक नष्ट हो जाता है । हमने पूर्व प्रकरणों में आत्मा को ज्ञानकर्म्ममय बतलाया है । साथ ही में यह भी बतलाया गया है कि पाप्मा की कृपा से ज्ञान के **सम्यक्ज्ञान, अन्यथाज्ञान, अज्ञान** भेद से तीन पर्व हैं, एवं कर्म्म के भी **सुकर्म्म, विकर्म्म, अकर्म्म** भेद से तीन हीं पर्व हैं । विशुद्ध ज्योति सम्यक्ज्ञान है, इसका उत्तेजक किंवा उदय का हेतु सुकर्म्म (निवृत्ति लक्षण निष्काम कर्म्म) है । निष्काम कर्म्म के प्रभाव से जिस में इस निरावरण शुद्ध ज्योतिरूप सम्यक्ज्ञान का उदय हो जाता है, उसे ही **जीवन्मुक्त, विदेहमुक्त "मुक्तात्मा"** कहा जाता है । गीता की परिभाषानुसार वही **"सिद्ध"** कहलाता है । इसी सिद्धावस्था के सम्बन्ध में— **"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते" 'ज्ञानान्मुक्तिः" "ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" "उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"** इत्यादि सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं । मलिन ज्योति अन्यथा ज्ञान है, यही साध्यावस्था है । इस अवस्था से युक्त व्यक्ति को ही गीता ने **"आरुरुक्षु"** कहा है । आवरण अज्ञान है । यह नष्टावस्था है । प्रकाश का (ज्ञानज्योति का) दोषों से सर्वथा आवृत हो जाना अज्ञानावस्था है, ज्ञानाभाव का नाम अज्ञान नहीं है, अपितु अज्ञान से एकान्ततः आवृत ज्ञान ही का नाम अज्ञान है । इसी अज्ञानावृत ज्ञान को, किंवा आवरणयुक्त ज्ञान को **"मोह"** कहा जाता है, जैसा कि — **'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः"** इत्यादि से स्पष्ट है । यहां ज्ञानज्योति का सर्वथा अभिभव है । अतएव इन्हें **"अचेतसः"** कहा जाता है । विशुद्ध लौकिक, केवल आहारनिद्राभयमैथुनादि सांसारिक विषयों को ही परम पुरुषार्थ मानने वाले ऐसे नष्टप्राय जन्तुओं के लिये ही भगवान् को **"सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः"** इन कटु शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है । ऐसे अज्ञानियों के लिये तो शास्त्रोपदेश एक प्रकार से केवल अरण्यरोदन ही बनता है । जिनके आत्मा में आवरण की कमी रहती है, उनका ज्ञान आंशिक रूप से विकसित रहता है । कुछ ज्योति है, इस लिए तो सत्कर्म्मों में प्रवृत्ति होती है । एवं साथ ही में आवरण भी है, इस लिये विशुद्ध सत्य का भी उदय नहीं होता । यही साध्यावस्थापन्न आरुरुक्षु है । इनका जो मोह है, दूसरा ज्ञानबुद्धियोग उसे ही हटाता है । विशुद्ध

मोहावस्थापन्न विशुद्ध अज्ञानियों की चिकित्सा सर्वथा असंभव है। ज्ञानबुद्धियोग के प्रभाव से जब मोह रूप आवरण की एकान्ततः निवृत्ति हो जाती है, तो अन्तर्ज्योति का उदय हो जाता है। यही सिद्धावस्था, किंवा युक्तावस्था है। इस प्रकार ज्ञान कर्म्म के तारतम्य से तीन अवस्थाएं हो जातीं हैं।

१— १—शुद्धज्योतिः (शुद्धसत्वः) — सिद्धावस्था (युक्तयोगी) — मुक्तात्मा
   २—मलिनज्योतिः (मलिनसत्वः) — साध्यावस्था (युञ्जानयोगी) — आरुरुक्षुः
   ३—आवरणम् (विशुद्धं तमः) — लौकिकावस्था (अयुक्तः) — लक्ष्यच्युतः

२— १—सम्यग्ज्ञानम् — सुकर्म्म (चिकित्सितः) — मोहात्यन्तिकनिवृत्तिः
   २—अन्यथाज्ञानम् — विकर्म्म (चिकित्स्यः) — मोहस्यांशात्मना प्रवेशः
   ३—अज्ञानम् — अकर्म्म (असाध्यः) — मोहात्यन्तिकप्रवृत्तिः

उक्त तीनों ज्ञानपर्वों, एवं तीनों कर्म्मपर्वों का परस्पर में संघर्ष होता रहता है। हम यह प्रत्यक्ष में अनुभव करते हैं कि कभी क्षणमात्र के लिये हमारी बुद्धि में सात्विक विचार आते हैं, कभी मलिन विचार प्रवाहित रहते हैं। कभी हम सर्वथा मूढ़ (अज्ञानी) बन जाते हैं। बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। इन्हीं तीनों विचारों के आधार पर कभी हम सुकर्म्म की ओर, कभी विकर्म्म की ओर प्रवृत्त होते हैं। कभी अज्ञान के प्रभाव से **"क्या करें कोई काम ही नहीं दीखता"** ऐसे अक्षरों का प्रयोग करते हुए सर्वथा अकर्म्मण्य बन जाते हैं। इस प्रकार हमारी बुद्धि किसी एक ज्ञान–अन्यथाज्ञान–अज्ञान–सुकर्म्म–विकर्म्म–अकर्म्म पर निर्भर न रह कर समय समय इन ६ओं के संघर्ष में पड़ी रहती है। प्राकृतिक विज्ञान के अनुसार संघर्ष सदा क्षोभ का कारण है। उदाहरण के लिये यों समझिये कि हम किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहते हैं। उस वस्तु की ओर हमारा मन झुक रहा है, यही काम है। अब उसी वस्तु को दूसरा भी चाह रहा है। एक ही वस्तु पर दो व्यक्तियों के काम ने आक्रमण कर रक्खा है। इन दोनों कामों के संघर्ष का परिणाम यह होता है कि दोनों व्यक्तियों में एक दूसरे के प्रति क्रोध उत्पन्न हो जाता है। इस क्रोध से **"हम अमुक विषय को चाहते**

है' इस मानस संस्कार पर आघात होता है। हमें यह प्रतीत होने लगता है कि अमुक व्यक्ति हमारे अभिलषित पदार्थ को लेना चाहता है। यदि वह न होता तो हमारी इच्छा में कोई बाधा न थी। इस संस्कार के आघात से मन क्षुब्ध हो जाता है। मन के क्षोभ से बुद्धि क्षुब्ध हो जाती है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक जाता रहता है। हम शून्यवत् बन जाते हैं। अक्ल कोई काम नहीं करती। सामने कोई खड़ा है, अथवा नहीं यह भी भान नहीं रहता, जागते हुए भी सो रहे हैं। इस प्रकार ज्ञानकर्म्म के मिथः संघर्ष से उपमर्दित, काम से उत्पन्न क्रोध के आवेश से उपमर्द्दित संस्कारों में जो एक क्षोभ उत्पन्न होता है, उस क्षोभ से बुद्धि में जो एक स्तब्ध वृत्ति का उदय होता है, वही मोह किंवा संमोह नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् व्यास ने इसी को "मुग्धावस्था" कहा है। "मुग्धेऽर्धसंपत्तिःपरिशेषात्" (शा०सू० ३।२।१०) के अनुसार इस मोहावस्था में आधी जाग्रदवस्था रहती है, आधी सुप्तावस्था रहती है। जाग्रद-वस्था में चक्षु–मुख–हस्तपादादि की जो चेष्टाएं हैं, वे भी यहां उपलब्ध होती हैं। एवं सुप्ता-वस्था की विवेकाभावरूपा जो चेष्टाएं हैं, वे भी यहां विद्यमान हैं। फलतः मुग्धावस्था में दोनों अवस्थाओं के धर्म्मों का समन्वय हो जाता है। यही चित्त (मन) का वैचित्र्य है, यही वैचित्र्य मोह है। इस मोह से बुद्धि का जो ज्ञानरूप विद्याभाग है, वह आवृत हो जाता है। परिणाम इस का यह होता है कि हमें कर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। फलतः आत्मा सदा क्षुब्ध रहता है। किसी ने भला बुरा कह दिया तो हम महादुःखी हो जाते हैं। अज्ञानावृत ज्ञान-रूप संघर्षजनित मोह हमें पद पद पर लक्ष्यच्युत किया करता है। जिस दिन ज्ञानोदय से मोह निवृत्त हो जाता है, उस दिन हम सर्वथा निर्वेदभाव को प्राप्त हो जाते हैं, जैसा कि भगवान् कहते हैं —

> यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
> तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी०।२।५२)

इस उक्त लक्षण मोह नामक क्लेश से उत्पन्न जो शोक है, उसकी निवृत्ति के लिये मोह का प्रतिद्वन्द्वी, अतएव प्रतिबन्धक **ज्ञानबुद्धियोग** (ज्ञानहेतुक बुद्धियोग) अपेक्षित है।

बुद्धि में इस ज्ञान का उदय कैसे, किन उपायों से, कब सम्भव है ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए भगवान् ने जो उत्तर दिये हैं, उनका संग्रह ही **ज्ञानविद्या** है । ज्ञानोदय से सिद्धावस्था का उदय होता है, अतएव इस ज्ञानविद्या को **सिद्धविद्या** भी कहा जाता है । जिस प्रकार अनासक्ति वैराग्यविद्या का रहस्य था, एवमेव इस ज्ञान विद्या का मूल रहस्य **अन्तर्ज्योति** है । वैराग्य से जैसे आत्मा में अनासक्तिभाव का उदय होता है, एवमेव ज्ञान से अन्तर्ज्योति का उदय होता है ।

ज्योतितत्व अन्तः— वहिः भेद से दो भागों में विभक्त है । दोनों के स्वरूपज्ञान के लिये सूर्य्य चन्द्रमा को सामने रखिये । सूर्य्य ज्योतिर्घन है, चन्द्रमा भी ज्योतिर्म्मय है । परन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है । सूर्य्य चारों ओर से (बाहर भीतर सब ओर से) प्रकाशित है । इसे अपने को प्रकाशित करने के लिये अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है । यह अपने ही प्रकाश से आप भी सर्वात्मना प्रकाशित है, एवं इसने अपने प्रकाश से त्रैलोक्य को भी प्रकाशित कर रक्खा है । अतएव सूर्य्य को **"स्वर्ज्योति"** कहा जाता है, यही अन्तर्ज्योति है । चन्द्रमा अत्रि के पुत्र माने गये हैं । प्राणविज्ञान× के अनुसार अत्रि प्राण पारदर्शकता का प्रतिबंधक बनता

---

* प्राणविद्या ही वेदविद्या है । वेद में इन प्राणों के बड़े बड़े गम्भीर रहस्यों का प्रतिपादन हुआ है । इन प्राणों की प्रधान रूप से १० जातियें मानीं गईं हैं । इन में ५-५ प्राणों के दो विभाग हैं । दोनों परस्पर में विद्या-अविद्या चतुष्टयी की तरह प्रतिद्वन्द्वी हैं । ऋषि पहिला एवं मुख्य प्राण है । इसका प्रतिद्वन्द्वी राक्षसप्राण है । रुधिर शोषण करना इस प्राण का मुख्य काम है । खून को सफेद बना कर प्राणी को निर्बल करना इसी प्राण का अन्यतम कर्म्म है । स्थूलकाय प्राणी भी राक्षसप्राण के प्रवृद्ध हो जाने पर बिलकुल पीला पड़ जाता है । चेहरा सफेद हो जाता है । ऋषिप्राण के निर्बल हो जाने पर भी राक्षसप्राण को प्रवेश करने का अवसर मिलजाता है । दूसरा पितरप्राण है । इसका प्रतिद्वन्द्वी पिशाचप्राण है । मांस पर आक्रमण कर उसे सुखा देना इस का कार्य है । पिशित मांस का नाम है । "पिशितमश्नाति" के अनुसार पिशित पर आक्रमण करने वाला प्राण ही पिशाच है । इसके आक्रमण से हड्डी २ निकल आती है । इसी को **"सूखने का रोग"** कहा जाता है । तीसरा देवप्राण है । इसका प्रतिद्वन्द्वी असुरप्राण है । बुद्धि को नष्ट

हुआ धामच्छद पदार्थों का उत्पादक माना गया है। वाक्—आपः—अग्नि नाम के तीन शुक्रों से धामच्छत् विश्व का निर्माण हुआ है, जैसा कि पूर्व के आत्मविद्याप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। यही तीनों शुक्र क्रमशः **अत्रि, भृगु, अंगिरा** नाम से व्यवहृत हुए हैं। उन तीनों में अंगिरा नामक अग्निशुक्र भी **अग्नि—यम—आदित्य** भेद से तीन भागों में विभक्त है। भृगु नामक आपः शुक्र भी **आपः—वायु—सोम** भेद से तीन भागों में विभक्त है। परन्तु अत्रि नामक वाक् शुक्र तीन नहीं हैं, अतएव **"न त्रिः"** इस निर्वचन से इसे अत्रि कहा जाता है। अपिच यह सौरज्योति को खा जाता है, अपने पारदर्शकता प्रतिबन्धक धर्म्म के प्रभाव से जिस पदार्थ में अत्रिप्राण प्रधान रूप से रहता है, उसके अवारपार रश्मियों को नहीं जाने देता, स्वयं उन को पी जाता है। इस लिये भी **"अत्तीति-अत्रिः"** इस निर्वचन से इसे अत्रि कहा जाता है। सर्वथा कृष्ण चन्द्रमा में अत्रिप्राण की ही प्रधानता है। दूसरे शब्दों में अत्रिप्राण के आगमन से धामच्छद चन्द्रमा का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। अतएव इसे अत्रिपुत्र मानना न्यायसंगत होता है। इसी अत्रि की कृपा से चन्द्रमा में आने वाला सौरप्रकाश आरपार न निकल कर प्रतिफलित होता हुआ वापस लौट जाता है। चन्द्रमा का जो प्रकाश है, वह सूर्य्य का ही प्रकाश है। साथ ही में यह प्रकाश अन्तर्मुख नहीं, अपितु बहिर्मुख है। इसी लिये चन्द्रमा को **"परज्योति"** कहा जाता है, यही बहिर्ज्योति है।

यही दो विभाग आत्मप्रपञ्च के सम्बन्ध में समझिये। आत्मज्योति ही **आत्मा-प्रकृति** भेद से दो भागों में विभक्त हो जाती है। आत्मज्योति (अव्ययज्योति) अन्तर्ज्योति है, यही ज्ञानज्योति है। प्रकृतिज्योति बहिर्ज्योति है, यही भूतज्योति है। सूर्य्य—चन्द्रमा—विद्युत—तारक—

करना, बुद्धि पर आक्रमण करना इस का मुख्य कर्म्म है। चौथा **मनुष्यप्राण** है। इसका प्रतिद्वन्द्वी गन्धर्वप्राण है। मरने के अनन्तर प्राणी की जो अवस्था रहती है वही गन्धर्वप्राण है। इस का मन पर आक्रमण होता है। पांचवा **ग्राम्यपशुप्राण** है, इसका प्रतिद्वन्द्वी **आरण्यपशुप्राण** है। इन सब प्राणों का विवेचन प्रकृत में नहीं किया जा सकता। इसके लिये ऋषिरहस्यादि ग्रन्थ ही द्रष्टव्य हैं।

अग्नि आदि सब का इस भूतज्योति में ही अन्तर्भाव है। **"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"** इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानज्योति जहां भूतज्योति की मूलप्रतिष्ठा है, वहां **"पञ्चज्योतिरयं पुरुषः"** इस ब्राह्मण सिद्धान्त के अनुसार बिना भूतज्योति के ज्ञानज्योति भी स्वस्वरूप से विकसित नहीं हो सकती। दोनों का परस्पर में उपकार्योपकारक सम्बन्ध है। सूर्य्यज्योतिरूप भूतज्योति से बुद्धि का, एवं चन्द्रज्योतिरूप भूतज्योति से मन का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। फलतः अध्यात्मसंस्था में इन दोनों को हम भूतज्योति कह सकते हैं। इनके साथ हृदयस्थ अन्तर्ज्योतिर्घन अव्ययात्मा का सम्बन्ध रहता है। यदि इन दोनों ज्योतियों के मध्य में मोह नामक क्लेश प्रविष्ट हो जाता है तो अन्तर्ज्योति आवृत हो जाती है। फलतः बुद्धि अन्तर्ज्योति से वञ्चित होती हुई, केवल भूतज्योति के चक्र में बद्ध होती हुई क्षोभ का कारण बन जाती है। यही क्षोभ मोह है, यही अज्ञान है, ज्ञानज्योतिर्विहीना बुद्धि का यही अविद्याभाव है। ऐसी स्थिति में अव्ययविद्या में बुद्धिविद्या को बिना किसी रुकावट के युक्त करने के लिये मोह की निवृत्ति अपेक्षित है, एवं तदर्थ अन्तर्ज्योतिर्लक्षण ज्ञान का आश्रय अपेक्षित है। वही ज्ञान मोह को हटावेगा, फलतः निरावरण बुद्धि अपनी ज्ञानसम्पत्ति से विकसित होती हुई आत्मविद्या के साथ योग कर लेगी। यही दूसरे ज्ञानबुद्धियोग का संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है। इसमें ज्ञान ही प्रधान द्वार है, अतएव भगवान् ने इस ज्ञानविद्यापरपर्य्यायक सिद्धविद्या में प्रधान रूप से ज्ञान-विज्ञानलक्षण अन्तर्ज्योति के स्वरूप, एवं तत्प्राप्त्युपायों पर ही विशेष प्रकाश डाला है। **तुष्टि** ही इस योग की सफलता की पहिचान है। तुष्टितत्व १७ भागों में विभक्त है। जिसमें आप इन तुष्टियों का विकास देखें, विश्वास कर लीजिये, उसे ज्ञानयोगनिष्ठा प्राप्त हो गई।

—— २ ——

३—ऐश्वर्य-बुद्धियोग

आनन्द–विज्ञान गर्भित, मनः-प्राण–वाङ्मय, अक्षर–क्षरपुरुष से नित्य सम्बद्ध, बहिरंग पञ्चप्रकृतिविशिष्ट, शुक्रत्रयावच्छिन्न विश्वमूर्त्ति का ही नाम **"ईश्वर"** है। इस ईश्वर की ईश्वरता

विभूतियों की कमी का अनुभव करता रहता है। आज यह नहीं, कल वह नहीं, पर्य्याप्त द्रव्य नहीं, पर्याप्त अन्न नहीं, पर्याप्त गृह नहीं, कहीं से वह मिल जाय, कहीं से वह कुछ दे जाय, इस प्रकार यह निरन्तर अर्थ के पीछे अनुधावन करता रहता है यह सब क्यों होता है ? इस प्रश्न का उत्तर **अस्मिता** नाम की अविद्या है। आत्मा के वास्तविक विकास को, आत्मा के ऐश्वर्य को को रोकने वाला भाव ही **अस्मिता** है "**स्मिङ्-ईषद्धसने**" के अनुसार विकास ही स्मितभाव है। खिला हुआ पुष्प स्मित है, हंसता हुआ मुख स्मित है। मुकुलित पुष्प अस्मिता है, मुर्झाया हुआ चेहरा अस्मिता है। बुद्धि में जब इस अस्मिता क्लेश का आगमन हो जाता है तो रहता हुआ भी आत्मविकास दब जाता है। इस अस्मिता से अनैश्वर्यलक्षण शोक का उदय हो जाता है, सदा मन मुर्झाया रहता है, चित्त अशान्त रहता है। इस शोक को हटाने का उपाय है, अस्मिता क्लेश को हटाना। अस्मिता तभी हट सकती है, जब कि अस्मिता का प्रतिद्वन्द्वी ऐश्वर्य बुद्धि में उदित हो। बस जिस उपाय से बुद्धि अपने विद्यारूप ऐश्वर्य से युक्त हो जाती है, जिस ऐश्वर्य के आने से अनैश्वर्यमूलिका अविद्या अपने आप हट जाती है, उन उपायों का संग्रह ही ऐश्वर्यविद्या है। इसी को **राजविद्या** कहा जाता है। **राजविद्या से** ऐश्वर्यहेतुक बुद्धियोग का उदय हो जाता है, जिस प्रकार ज्ञानविद्यापरपर्यायक सिद्धविद्या का मौलिक रहस्य अन्तर्ज्योति था, एवमेव इस ऐश्वर्यविद्या का मौलिक रहस्य **ईश्वरानन्यत्व** ही समझना चाहिए। हमारे और उसके उसके मध्य में अस्मिता का आवरण आगया है। इसी लिए हम अपने अंशी कि ईश्वरता को भूल रहे हैं। हम भूल जाते हैं कि हम उसी के एक अंश हैं, भाग हैं, अवयव हैं, जुज हैं। हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि यदि हमें हमारे वास्तविक इतिहास का पता लग जाता है तो हमारे आत्मा में अपने आप नवीन बल का संचार हो जाता है। उदाहरण के लिए आज के भारतवर्ष को लीजिए। हमें अपने मौलिक रहस्यरूप सत्य इतिहास से वञ्चित रखते हुए आरम्भ में ही मिथ्या इतिहासों के द्वारा हमारे यह संस्कार बना दिए गए कि "हम पहिले, पूर्वयुग में मूर्ख थे, असभ्य थे, जङ्गली थे, जड़ पदार्थों की उपासना करने वाले थे, विज्ञानशून्य थे"। परिणाम यह हुआ कि आज इस मिथ्यासंस्काररूप अस्मि-

ता के आवरण से हम अपने उस पूर्व ऐश्वर्य को भूलते हुए भ्रमवश अस्मिता प्रचारकों का ही गुणगान करने लगे। यदि कोई पुरुष पुङ्गव हमें सत्साहित्यद्वारा (वैदिक विज्ञानद्वारा), एवं सत्य इतिहास द्वारा यह बता देता है कि तुम ऐसे न थे वैसे थे, तो तत्काल हमारी अस्मिता हट जाती है। जिस दिन हमें अपने वास्तविक स्वरूप का पता लग जाता है, उसी दिन हम अपने आत्मा में एक अपूर्व विकास का अनुभव करने लगते हैं। इसी विकास के बल पर हम अपने खोए हुए, एवं छिने हुए, किंवा छीने गए ऐश्वर्य को प्राप्त करने में समर्थ होजाते हैं। दो प्रतिद्वन्द्वियों में से पराजित होने वाले व्यक्ति के कान में यदि "अरे तुम तो अमुक के वंशज हो, कोई पर्वाह नहीं शेर ! फिर से मुकाबला करो" यह अक्षर पड़ जाते हैं तो अपने वंशजों का रक्त जागृत होजाता है, अस्मिता पलायित हो जाती है। इस प्रकार ऐसे सैकड़ों स्थल बतलाए जासकते हैं, जिन में अस्मिता के प्रभाव से रहता हुआ भी बल-पौरुष दबा रहता है, एवं वहां वास्तविक ऐश्वर्य के परिचय करा देने से आत्मपौरुष विकसित हो जाता है। ठीक यही दशा यहां समझिए। जीवात्मा अस्मिता के आवरण से अपने मूलप्रभव ईश्वर के ऐश्वर्य से वञ्चित होता हुआ शोकग्रस्त बन रहा है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि अस्मिता की कृपा से अल्पशक्तियुत जीवात्मा की बुद्धि भी अस्मितारूप अविद्या से युक्त हो रही है। इस अविद्या के प्रभाव से बुद्धि में आने वाला आत्मा का ऐश्वर्य आवृत हो रहा है। फलतः विद्याबुद्धि का अव्ययरूप किया के साथ योग नहीं हो रहा। यही इस जीवात्मा की ऐश्वर्य से विच्युति है। इस के लिए इसे बुद्धि की अस्मिता हटानी पड़ेगी। साथ ही में अस्मिता हटाने के लिए इसे ईश्वर की अनन्य उपासना करनी पड़ेगी। चिरकाल तक ज्ञान-विज्ञानमूर्त्ति ईश्वर का अनुध्यान करना पड़ेगा। इस उपासना के बल से ज्यों ज्यों जीवात्मा ईश्वर के निकट पहुंचता जायगा, त्यों त्यों बुद्धि से अस्मितारूपा अविद्या का आवरण हटता जायगा। जिस दिन उपासना सिद्ध हो जायगी, जीवात्मा सर्वात्मना उस का भक्त (भाग–अंश) बन जायगा, उस दिन बुद्धि से अस्मिता का एकान्ततः विनाश हो जायगा, तत्काल बुद्धि में ऐश्वर्य का उदय हो जायगा। ऐसी ऐश्वर्यलक्षणा बुद्धि का अव्ययात्मा के साथ जो योग होगा, वही ऐश्वर्य नामक बुद्धियोग कह

जाएगा। ईश्वर अनन्तघन है। इस की उस अनन्तशक्ति का भागीदार बनने के लिए "सा परानुरक्तिरीश्वरे" (शाण्डिल्यसूत्र) अनुसार खाते, पीते सोते, उठते, बैठते, चलते सदा उस ईश्वर में परानुरक्ति (अनन्यभाव से ईश्वर की ओर मन को लगाना, अनन्ययभाव से आत्म समर्पण) रखनी पड़ेगी, इससे उस शक्ति का इसमें प्रवेश होगा। जिस प्रकार एक विजातीय अपरिचित के आने से एक बालक कुण्ठित हो जाता है, एवं सजातीय बन्धु के आने से उस की मुकुलित वृत्ति उच्छिन्न हो जाती है। एवमेव अस्मितारूप विजातीय क्लेश के आजाने से हमारी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। सजातीय ईश्वर बन्धु के संसर्ग से हमारा यह मुकुलित भाव दूर हो जाता है, हम अपने वास्तविक रूप को पहिचान लेते हैं। इस बुद्धियोग का प्रधान आलम्बन ईश्वर की अनन्य उपासना है, इसी लिए भगवान् ने ऐश्वर्यविद्यापरपर्य्यायिका इस राजविद्या में प्रधान रूप से ज्ञान-विज्ञानसयुक्ता, उपासना लक्षणा ईश्वर की अनन्यभक्ति का ही विशेष रूप से प्रतिपादन किया है, जसा कि विद्याभाष्य में स्पष्ट हो जायगा। इस उपासना का फल है, अवर-परलक्षण अव्ययप्राप्तिद्वारा नैष्कर्म्यभाव की सिद्धि।

अव्ययपुरुष के विद्या—काम—कर्म्म यह तीन रूप माने गए हैं। आनन्द-विज्ञान विद्याव्यय है, इसे ही पराव्यय कहा जासकता है। प्राण-वाक् कर्म्माव्यय है, इसे ही अवर अव्यय कहा जासकता है। दोनों के मध्य में श्वोवसीयस* नामका मन प्रतिष्ठित है, यही कामात्मा है। मन

---

* विज्ञानशास्त्र में मनस्तत्त्व चार भागों में विभक्त है। दूसरे शब्दों में अध्यात्मसंस्था में पृथक् पृथक् नाम—रूप कर्म्मवाले चार मन प्रतिष्ठित हैं। सुख-दुःख का अनुभव करने वाला, नियत विषय के कारण इन्द्रियकोटि में ही अन्तर्भूत संवेदनीय मन पहिला मन है। इसे ही इन्द्रियमन भी कहा जाता है। इसी के लिए अथर्वसंहिताने "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि" (अथर्वसं०) यह कहा है। वाक्- प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मन इन पांच इन्द्रियों में जो पांचवां मन है, वह यही वेदनीय मन है। इसी को हम बहिर्म्मन कह सकते हैं। उक्त सब इन्द्रियों का सञ्चालन करने वाला, अतएव सर्वेन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध, किन्तु इन्द्रिय न होने से अनिन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध अतीन्द्रिय मन ही दूसरा मन है। यही "प्रज्ञान" नाम से भी प्रसिद्ध है। इसे हम अन्तर्मन नाम से भी व्यवहृत कर सकते हैं। तीसरा मन महदात्मक है। इसे ही चित-महान्-सत्त्व-

का दोनों से सम्बन्ध है। यदि मन अवर अव्यय की ओर है तो संसार है, पर अव्यय की ओर है तो मुक्ति है, अपने स्थान पर है तो दोनों का समन्वय है। पर—अवर—मनो भेदसे अव्ययात्मा के तीन विवर्त्त हो जाते हैं। इन्हीं तीनों के आधार पर प्राचीनों के **ज्ञान— भक्ति— कर्म्म** नाम के तीनों योग प्रतिष्ठित हैं। विशुद्ध सांसारिक कर्म्मों में लिप्त रहना **कर्म्मयोग** है। इसका साक्षी प्राणकाङ्मय अवर अव्यय है। सांसारिक कर्म्मों का एकान्ततः परित्याग करते हुए सर्वकर्म्म-परित्यागलक्षण सन्यास का अनुगमन करना **ज्ञानयोग** है। इस का साक्षी आनन्दविज्ञानमय पराव्यय है। कर्म्म सब करते रहना, परन्तु ईश्वर के निमित्त, यही **भक्तियोग**, किंवा उपासना

गुण आदि विविध नामों से व्यवहृत किया जाता है। चन्द्रस्थानीय प्रज्ञानमन स्वस्वरूप से घोर कृष्ण है। सूर्य्यस्थानीय विज्ञान (बुद्धि) प्रकाश से यह प्रकाशित होता है। बस जो तत्व इस प्रज्ञान के साथ विज्ञानज्योति का सम्बन्ध कराता है, वही तीसरा चित्ताख्य सत्व मन है। इसका, इसका ही नहीं सब का आलम्बन अव्यय मन ही **श्वोवसीयस** मन है। इसी को चिदात्मा-चिन्मन-श्वोव-स्यसब्रह्म इत्यादि नामों से भी व्यवहृत किया जाता है। पहिले के तीनों मन करणरूप हैं, एवं चौथा मन आत्मरूप है। इस पर अन्तश्चिति, बहिश्चिति भेद से दो प्रकार की चितिएं होतीं हैं। आनन्द-विज्ञान की चिति ही अन्तश्चिति है। प्राण-वाक् की चिति ही बहिश्चिति है। अन्तश्चितिरूप अव्यय ही पर है, यही मुक्तिसाक्षी है, यही ज्ञानात्मा है। बहिश्चितिरूप अव्यय ही अवर है, यही सृष्टिसाक्षी है, यही कर्म्मात्मा है। दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित, अतएव उभयधर्म्मावच्छिन्न मन ही कामात्मा है।

१—चिदात्मा--अव्ययमनः —श्वोवस्यसं ब्रह्म -आलम्बनमनः- आत्ममनः } आत्मा
२—चित्तम् -महन्मनः —गुणात्मकं मनः-सत्वमनः अन्तर्मनः }
३—प्रज्ञानम्--सर्वेन्द्रियमनः--अनिन्द्रियमनः--अनिन्द्रियमनः--बहिर्मनः } करणात्मा
३—वेदनीयम्-इन्द्रियमनः — × — × —प्राणमनः }

इन चारों में से प्रकृत की ईश्वरोपासन में चिदात्मा नामक मन को ही सिद्ध करना पड़ता है। यही चयन का अधिष्ठाता बनता हुआ शान्ति का कारण है। इसी के विकास को लोक-भाषा में "चैन" (चयन-चिति-बलागमन) कहा जाता है। इसके अभाव को ही हमारी प्रान्तीय भाषा में "अचैन" (अचयन-अचिति-बलनिर्गमनलक्षणा अशान्ति) कहा जाता है।

है। इसका साक्षी मध्यस्थ अव्यय मन है। इस में पर अव्यय के ज्ञान भाग का भी समावेश है, अवर अव्यय के कर्म्म भाग का भी समावेश है। अतएव भक्तियोगापरपर्य्यायक इस उपासना में कर्म्म भी किया जाता है, ईश्वरानुध्यानलक्षण ज्ञान की ओर भी प्रवृत्ति रक्खी जाती है। यह मन मध्यपतित होने से ज्ञान-कर्म्म (पर-अवर) दोनों की भक्ति (अवयव) बना हुआ है। इन्द्रियमन का प्रज्ञानमन में समन्वय करते हुए, दूसरे शब्दों में इन्द्रियसंयमलक्षण योग का अनुष्ठान करते हुए चित्त द्वारा आत्मा को इस परावरलक्षण भक्तिरूप मन के साथ युक्त कर देना ही भक्तियोग है। यही भक्तिनिष्ठा की सिद्धि है। कर्म्म कर रहे हैं, परन्तु आत्मार्थ, ईश्वरार्थ। अतएव यह कर्म्म कर्म्म होता हुआ भी नैष्कर्म्यकोटि में प्रविष्ट हो जाता है।

१—आनन्दः, २—विज्ञानम् }—पराव्ययः (ज्ञानप्रधानः) कर्म्मनिवृत्तिलक्षणो **ज्ञानयोगः**।

१—मनः }——उभयाव्ययः (कामप्रधानः) उभयलक्षणो **भक्तियोगः**।

१—प्राणः, २—वाक् }——अपराव्ययः (कर्म्मप्रधानः) कर्म्मप्रवृत्तिलक्षणो **कर्म्मयोगः**।

जिस व्यक्ति में आप अवर-पराव्ययसमन्वितरूप कर्म्माबन्धनलक्षण नैष्कर्म्यभाव देखें, विश्वास कीजिये ? उसने ऐश्वर्य्यबुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करली। ऐसा व्यक्ति प्रत्येक कर्म्म में **"भगवान् की ऐसी ही इच्छा थी"** यही वृत्ति रखता है। कर्म्मसिद्धि पर न यह हर्ष प्रकट करता, कर्म्म की असिद्धि में न क्षोभ प्रकट करता, यही तो नैष्कर्म्यसिद्धि है। इस तीसरे ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग का यही संक्षिप्त स्वरूपनिदर्शन है।

——३——

४—धर्म्म-बुद्धियोग

प्रवृत्तिमूलक ज्ञान एवं कर्म्म अन्तर्जगत् की उत्पत्ति के कारण बन जाते हैं। विज्ञान का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि हम जो कुछ सोचते हैं, जो कुछ देखते हैं, वह हमारा बनाया हुआ ही है। चन्द्रमा-पृथिवी-आकाश-ग्रह-नक्षत्र-नद-नदी-ओषधि-वनस्पति-पशु-पक्षी-

कृमि-कीट-मनुष्य इत्यादि इत्यादि जितनें जड़चेतनोभयविध पदार्थों को हम अपने चर्म्मचक्षुओं से देख रहे हैं, वे सब दीखने वाले पदार्थ हमारे बनाए हुए हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने अपनें निर्मित पदार्थों को ही देख सकता है, एवं देख रहा है। बात जरा अटपटी सी मालूम होती है। सूर्य्य-चन्द्रादि हमारे बनाए हुए हैं, भला इस बात पर कौन विश्वास करेगा।

परन्तु वैज्ञानिक कहते हैं कि तुम्हें अवश्य ही विश्वास करना पड़ेगा। इस विश्वास के लिये अन्तर्जगत् एवं बहिर्जगत् भेद से जगत् के दो विवर्त्त मानने पड़ेंगे। प्रत्येक व्यक्ति का अन्तर्जगत् सर्वथा भिन्न एवं नियत है, एवं बहिर्जगत् सब के लिये एक है। जहां तक आपका ज्ञान व्याप्त है, वहां तक आपका अन्तर्जगत् व्याप्त है। इस ज्ञानीय (खयाली) अन्तर्जगत् में अनेक प्रकार के (भावना-वासनासंस्कारात्मक) पदार्थ बैठे हुए हैं। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का ज्ञानीयजगत् सर्वथा स्वतन्त्र है। कोई भी व्यक्ति दूसरे के ज्ञानीयजगत् के पदार्थों को नहीं देख सकता।

आपके खयाल में क्या है? आपके अन्तर्जगत् में कौन कौन संस्कार हैं? हम यह न जान सकते, न देख सकते। इसी प्रकार आप भी हमारे खयाल को नहीं जान सकते। आप, एवं हम उसी को जान सकेंगे, उसी को देख सकेंगे, जो कि विषय आप के एवं हमारे ज्ञानधरातल पर आता हुआ आप की एवं हमारी प्रातिस्विक संपत्ति बन जाएगी। जिस प्रकार हमारा ज्ञानमण्डल हमारा अन्तर्जगत् है, एवमेव जहां तक ईश्वर का ज्ञान व्याप्त है, वहां तक ईश्वर का अन्तर्जगत् है। सम्पूर्ण विश्व ईश्वर का ज्ञानमण्डल है। सूर्य्यचन्द्रादि सारे पदार्थ ईश्वर के ज्ञानमण्डल में प्रतिष्ठित हैं। भला जब हम एक मनुष्य के ज्ञानीयजगत्रूप अन्तर्जगत् को नहीं देख सकते, तो ईश्वर के उस ज्ञानीयजगत्रूप विश्व को, किंवा विश्वान्तर्गत पूर्वोक्त सूर्य्यचन्द्रादि पदार्थों को कैसे देख सकते हैं। इसी प्रत्यक्षविज्ञान के आधार पर हमें मान लेना पड़ता है कि हम जो कुछ देखते हैं, हमारा बनाया हुआ ही देखते हैं। हमारे अन्तर्जगत् की अपेक्षा ईश्वर का अन्तर्जगत् भी बहिर्जगत् है, एवं अन्य व्यक्तियों के अन्तर्जगत् भी बहिर्जगत् हैं।

बहिर्जगत् के आधार पर हमारे अन्तर्जगत् का निर्म्माण होता है। वही हमारी दृष्टि का विषय है। बात यथार्थ है। वैज्ञानिकों का कहना है कि ईश्वरीयजगत् में सूर्य्य पृथिवी से १३ सहस्र गुना बड़ा

है। क्या हमने कभी अपनी आंखों से सूर्य्य का इतना बड़ा आकार देखा है ? असंभव। जब हम सूर्य्य का वह वास्तविक आकार नहीं देख सकते तो किस आधार पर हम यह अभिमान कर सकते हैं कि हमने ईश्वरनिर्म्मित सूर्य्य को देख लिया। यही अवस्था अन्य ईश्वरीय पदार्थों के सम्बन्ध में समझिये। सूर्य्य का प्रतिबिम्बभाव से चक्षुपटल के साथ सम्बन्ध होता है। चक्षु ने जिस सूर्य्यप्रतिबिम्ब का ग्रहण किया है, वह उस महाकाय सूर्य्य से सर्वथा अपूर्व तत्त्व है। इस आकार का जनक एकमात्र हमारा चक्षु है। चक्षु द्वारा प्रतिबिम्बित सूर्य्य का प्रज्ञानमन से सम्बन्ध होता है। चक्षु से निर्म्मित प्रज्ञान पर आए हुए इसी ज्ञानीय सूर्य्य के लिये हम '**मैं सूर्य्य देख रहा हूं**" यह कहते हैं। प्रज्ञान पर आया हुआ यही सूर्य्य सांस्कारिक सूर्य्य है। संस्कार के जनक हम हैं, सांस्कारिक सूर्य्य के जनक भी हम हैं, एवं यही हम देख रहे हैं। जिस वस्तु की अन्तःपटल पर संस्काररूप से आगति नहीं होती, दूसरे शब्दों में हमारा मन जिस का निर्म्माण नहीं करता, न उस का हमें ज्ञान ही होता, न उस को हम देख ही सकते। इसी आधार पर "**आप मरा और जग परल—(प्रलय)**" यह किंवदन्ती प्रचलित है।

यह सांस्कारिक जगत् ज्ञान-कर्म्म भेद से दो भागों में विभक्त है। हम बिना कर्म्म किये हुए ठाली बैठे कुछ सोचा करते हैं नवीन नवीन कल्पनाएं किया करते हैं। यह कल्पना व्यर्थ नहीं जातीं। इसकी मन प छाप लग जाती है इसी का नाम ज्ञानजनित संस्कार है, इसी को शास्त्रों ने "**भावना**" नाम से व्यवहृत किया है। इसी प्रकार कर्म्म करने से भी आत्मा पर उसी प्रकार से एक छाप लग जाती है, जैसे कि बालू मिट्टी पर पैर रखने से एक ठप्पा लग जाता है। यही कर्म्मजनित संस्कार है, इसी को "**वासना**" नाम से व्यवहृत किया है। भावना-वासनात्मक संस्कारपुञ्ज ही हमारा अन्तर्जगत् है। इन संस्कारों की आधारभूमि बहिर्जगत् के पदार्थ ही हैं, यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। उदाहरण के लिये हम अपने ज्ञान से अपने ज्ञान के धरातल पर ही एक मकान बनाते हैं। मकान बन कर तैयार हो जाता है, यह ज्ञानीय मकान है। इसमें बहिर्जगत् (ईश्वरीयजगत्) के ईंट पत्थर रख कर इसे हम

बहिर्जगत् का रूप दे डालते हैं। यदि ज्ञानीय मकान की सीमा से बाहर कोई ईंट पत्थर (शिल्पी के दोष से) लग जाता है तो उसे या तो हम निकलवा देते हैं, यदि उसका निकलना असुविधाजनक होता है तो वह ईंट पत्थर हमारे मन में खटका करता है।

इसी प्रकार अपने ज्ञानीय विद्यासंस्कारों को बहिर्जगत् की वस्तु बनाने के लिये हमें कागज, स्याही, लेखिनी, लिपी आदि का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसी वस्तुओं में जीव ईश्वर दोनों शिल्पियों के शिल्प का समन्वय है। एक जंगली वृक्ष विशुद्ध ईश्वर का शिल्प है, हमारे अन्तर्जगत् में प्रतिष्ठित वही सांस्कारिक जंगली वृक्ष विशुद्ध जीव का शिल्प है। हमनें अपने इस अन्तर्जगत् के वृक्ष के आधार पर काटछांट कर उस ईश्वरीय वृक्ष का संस्कार कर उसे बागीचे के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। इस परिष्कृत वृक्ष में दोनों के शिल्प हैं। प्राकृतिक पदार्थों को छोड़ कर मनुष्य विरचित जितने भी पदार्थ हैं, सब में दोनों का समन्वय है। बस इसी द्वैतभावना का नाम **अभिनिवेश** है।

यह हमने किया है, यह हमारी रचना है, यह हमारी कारीगरी है, यह हमारा सेवक है, यह हमारा पुत्र है, यह हमारी सम्पत्ति है, इत्यादि आवेशों को ही अभिनिवेश कहा जाता है। वस्तुतः देखा जाय तो उस ईश्वरीय जगत के सामने हमारा, एवं हमारे अन्तर्जगत् का कोई मूल्य नहीं है। हम उससे कोई पृथक् पदार्थ नहीं हैं। हम उसी के अंश हैं, वही हैं। जिन बुद्धि, मन, इन्द्रियों के बल पर हम हमारे अन्तर्जगत् का निर्माण करते हैं, वे सब करण (साधन) ईश्वरीय सूर्य्य-चन्द्रमा-अग्नि-वायु-इन्द्र-भास्वरसोम-दिक्सोम के प्रत्यंश हैं। जिस शरीर को हम अपनी सम्पत्ति समझते हैं, वह ईश्वरीय पार्थिव पदार्थ का प्रत्यंशमात्र है। शुक्र-शोणित के समन्वय से उत्पन्न जिन पुत्रादि को हम अपना समझने का अभिमान करते हैं, इनके मूल भूत शुक्र-शोणित ईश्वरीय ओषधि-वनस्पतियों के प्रत्यंशमात्र हैं। निदर्शनमात्र है। अध्यात्मसंस्था के परमाणु परमाणु का विश्कलन कर डालिये। सर्वत्र आपको ईश्वर की विभूति के ही दर्शन होंगे। फिर हम क्या रहे, हमारा अन्तर्जगत् क्या रहा, संस्कार क्या रहे, फलतः अभिनिवेश का क्या मूल्य रहा।

घोर-घोरतम इस अभिनिवेश नाम के पाप्माने ही हमें उस से पृथक् कर रक्खा है। ज्ञान-कर्मजनित भावना-वासनासंस्काररूप अभिनिवेश ने ही हमें "वसुधैव कुटुम्बकम्" इस ईश्वरीय विभूति से वञ्चित कर रक्खा है। अभिनिवेशस्वरूपसंपादक इन संस्कारों की जननी है- "प्रवृत्ति"। प्रवृत्ति से ही आत्मा में संस्कारों का उदय होता है। **"वह हम से अलग है, हम उसे अपना बनालें तो अच्छा हो" "अमुक वस्तु हमारी बन जाय तो अच्छा हो"** यही प्रवृत्ति है। इसी से संस्कार का उदय होता है। मनोवृत्ति का आवेशपूर्वक तत्तद् विषयों के साथ प्रवृत्त होना ही प्रवृत्ति है। यही प्रवृत्ति बन्धन का मूल कारण है। उक्त आवेशमूलिका इस प्रवृत्ति में जहां संस्कार का उदय होता है, ठीक इससे विपरीत निवृत्ति रूप अनावेश से कर्म्म करते रहने पर भी संस्कार का उदय नहीं होता। ऐसे सैकड़ों दृष्टान्त पाठकों के सामने रक्खे जासकते हैं कि जिन में प्रवृत्ति के कारण संस्कार देखा गया है, एवं निवृत्ति के कारण संस्कारों का अभाव देखा गया है। संसार में हम हजारों पदार्थ देखते हैं, परन्तु सभी का संस्कार आत्मा पर ही नहीं होता। जिस पदार्थ के साथ आत्मा का आवेश होता है, वही स्मृतिपटल पर अङ्कित होता है। प्रतिदिन सात्विक भोजन करते हैं। सुबह का खाया शाम को भी याद नहीं रहता। यदि किसी पदार्थविशेष पर मन का अधिक झुकाव हो जाता है तो उस पदार्थ का संस्कार आत्मा पर जम जाता है। जितनीं भीं इन्द्रियें हैं, सब निरन्तर अपना अपना काम करतीं रहतीं हैं। आंख निरन्तर कुछ देखती रहती है, श्रोत्र निरन्तर कुछ सुनते रहते हैं, घ्राण निरन्तर कुछ सूंघता रहता है मन निरन्तर कुछ चिन्तन करता रहता है, बुद्धि सतत कुछ विचार किया करती है। परन्तु सदा ही इन से संस्कार उत्पन्न नहीं होते। मार्ग में चलते हुए हम देखते भी हैं, सुनते भी हैं, सूँघते भी हैं, मनन भी करते रहते हैं, विचार भी किया करते हैं, कोई करण चुप चाप नहीं है। परन्तु सभी रूपों का, शब्दों का, प्राणों का, एवं विचारों का घर आने पर हमें स्मरण भी नहीं रहता। यह निवृत्ति की महिमा है। यदि किसी रूपविशेष पर, शब्दविशेष पर, गन्धविशेष पर, विचारविशेष पर हम आवेश के साथ मन का प्रयोग करते हैं तो इस प्रवृत्तिमूलक आवेश से तत्काल उन रूप शब्द गन्ध-विचारों को दृढ़मूल बनने का अवसर मिल जाता है।

का ही नाम **धर्म्म है,** एवं प्राकृतिक नियमों से विरुद्ध जाना ही अधर्म्म है। यही अधर्म्मसंस्कार अभिनिवेश का जनक है। हम वही हैं, हम अपनी ओर से कुछ नहीं करते, सब कुछ वही कर रहा है, वही करवा रहा है, यही धर्म्म है। हम करते हैं, हम लेते हैं, हम देते हैं, यह प्रकृति विरुद्ध अहंता ही अधर्म्म है। अधर्म्म से अभिनिवेश का उदय होता है। अभिनिवेश के आजाने से बुद्धि का प्राकृतिक धर्म्मभाव आवृत हो जाता है। ऐसी अविद्याबुद्धि प्रवृत्ति की जननी बनती हुई संस्कारोदय का कारण बन जाती है। यही संस्कार बन्धन के कारण बनते हुए आत्म अशान्ति के कारण बन जाते हैं। अभिनिवेशलक्षण क्लेश से उत्पन्न इस शोक के उत्पन्न होने का प्रतिबन्धक यही हमारा सुप्रसिद्ध **धर्म्मबुद्धियोग है**। बुद्धि में धर्म्म का उदय कैसे, किन उपायों से, एवं कब हो? इन विषयों का समाधान करने वाला विद्याभाग ही **"धर्म्मविद्या"** नाम से प्रसिद्ध है। यही विद्या गीता में **"आर्षविद्या"** नाम से व्यवहृत हुई है। जिस प्रकार **ईश्वरानन्यभक्ति** ऐश्वर्यविद्या का मौलिक रहस्य था, तथैव इस विद्या का मौलिक रहस्य **निवृत्त-कर्म्म** है। निवृत्तकर्म्म ही प्राकृतिक हैं, ये ही सहज कर्म्म है, एवं यही धर्म्म है। ज्यों ज्यों आप निवृत्तकर्म्मरूप धर्म्म का आचरण करते जांयगे, त्यों त्यों बुद्धि से अभिनिवेशरूप संस्कार हटते जांयगे। इस चिरकालिक धर्म्मानुष्ठान से जब संस्कार एकान्ततः हट जाते हैं, एवं इसी धर्म्मरूप निवृत्त कर्म्म के प्रभाव से भविष्य में संस्कारों का उत्पन्न होना अवरुद्ध हो जाता है तो उस समय बुद्धि सर्वथा निर्म्मल बनती हुई इसी धर्म्म के प्रभाव से उस अव्ययात्मविद्या के साथ योग करती हुई पूर्ण प्रसादभाव को प्राप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में यों समझिये कि निवृत्तकर्म्म से धर्म्म का बल बढता है, अधर्म्म निर्बल बनता है। अधर्म्म के एकान्ततः उच्छेद से तन्मूलक अभिनिवेश नष्ट हो जाता है, धर्म्मबुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो जाती है। जिसे आप लाभ-अलाभ-जय पराजय-अच्छे-बुरे सब भावों में पूर्ण प्रसन्न देखें, जिस की आप सदा सात्विक कर्म्मों में स्वाभाविक-प्रवृत्ति देखें, समझ लीजिये उसे धर्म्मबुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो गई। यही इस की पहिचान है।

इस विद्या के सम्बन्ध में यदि कोई यह प्रश्न करे कि, जिन कर्म्मों से संस्कार होता है,

उन कर्म्मों को ही क्यों न छोड़ दिया जाय ? न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी । इसी आधार पर प्राचीनों ने सर्वकर्म्मपरित्याग लक्षण सन्यास को उपादेय भी माना है। इस प्रश्न का मूलोच्छेद करते हुए भगवान् कहते हैं —

न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (गी० ३ । ४ ।)

कर्म्म छोड़ देने से कभी नैष्कर्म्यलक्षण ज्ञान का उदय सम्भव नहीं है। कर्म्म परित्याग लक्षण सन्यास से कोई भी आत्मसिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता । कारण स्पष्ट है। जैसे ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, एवमेव कर्म्म भी आत्मा का स्वरूपधर्म्म है । कर्म्म छोड़ना आत्मा का नाश करना है । भला आत्मा का भी कभी नाश हुआ है ? आत्मा अविनाशी है, अनुच्छित्ति धर्म्मा है । फलतः इसके ज्ञान-कर्म्म दोनों अवयव भी अविनाशी हैं । जिस प्रकार ज्ञान कभी आत्मा से पृथक् नहीं होता, एवमेव कर्म्म को भी आत्मा से कभी पृथक नहीं किया जा सकता । जो धूर्त्त-वञ्चक—"हमने तो सब छोड़ दिया, कर्म्म से हमारा क्या सम्बंन्ध, हम तो वीतराग हैं. सन्यासी हैं" यह कह कर जनता को धोका देते हैं, वे महापातकी हैं । वे स्वयं अपने आत्मा को धोका दे रहे हैं । क्या उन की इन्द्रियों नें काम करना छोड़ दिया ? क्या वे खाते पीते नहीं ? फिर वे किस आधार पर कर्म्म छोड़ने का अभिमान करते हैं । जो पाखण्डी कर्म्मपरित्यागलक्षण सन्यास का डिण्डिमघोष करते हैं, उनकी वृत्तिऐं उनसे भी अधिक दूषित हैं, जो प्रवृत्त कर्म्म में रत हैं । कहते हैं सब कुछ छोड़ दिया, भीतर सब की चर्वणा चल रही है । यह मानस पाप और भी भयावह है । इन्हीं बक्रवृत्तियों की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं —

कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ (गी० ३।६) ।

नाम के सन्यासी, कर्म्मों में गृहस्थी से भी आगे बढ़े हुए । हाथी, पालकी, घोड़े, सेवक, दासिएं साथ में, भस्म शरीर पर, जटा माथे पर, क्या इसी का नाम सन्यास है ? क्या इन्हीं स-

न्यासियों से हम आत्मज्ञानलक्षणा मुक्ति की आशा कर रहे हैं ! बड़ी विडम्बना ! बड़ा अज्ञान !! बड़ा भ्रम !!!

कर्म्म किसी हालत में छूट नहीं सकता, इस लिये छोड़ा नहीं जा सकता। उधर कर्म्म संस्कार का जनक होता हुआ बंधन का भी कारण है। ऐसी स्थिति में कोई ऐसा मार्ग निकलना चाहिए कि हम कर्म्म में रत रहते हुए भी संस्कारों से बच जांय। इसी मार्ग का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है —

*कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥ (ईशोपनिषत् १)

कर्त्तव्यबुद्ध्या प्रवृत्ति छोड़ कर यावज्जीवन कर्म्म करते रहना ही सन्यास है। कर्म्म-सन्यास का नाम सन्यास नहीं है, अपितु—"**काम्यानां कर्म्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः**" के अनुसार कामना सन्यास का नाम सन्यास है। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं——

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन !
कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ (गी० ३।७)।

मन्वादि धर्म्माचार्य्यों ने-"**प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म्म वैदिकम्**" (मनुः १२।८८।) इत्यादि रूप से वैदिक कर्म्मों को प्रवृत्तकर्म्म,-किंवा प्रवृत्तिकर्म्म, निवृत्तिकर्म्म,-किंवा निवृत्तिकर्म्मभेद से दो भागों में विभक्त माना है। इनमें प्रवृत्तकर्म्म अवश्य ही संस्कारों के जनक बनते हुए अभिनिवेशलक्षण अविद्या के उत्पादक हैं। इन्हीं वैदिक कर्म्मों में से यदि प्रवृत्ति को निकाल दिया जाता है तो ये ही निवृत्तकर्म्म बन जाते हैं। कतकरजोवत् यह सांस्कारिक मलों को नष्ट

---

*इस मन्त्र के राजनीति, धर्म्मनीति, विज्ञाननीति भेद से तीन अर्थ होते हैं। राजनैनिक कर्म्मों का स्थूलशरीर से, धार्म्मिक कर्म्मों का सूक्ष्मशरीर से, एवं वैज्ञानि (प्राकृतिक) कर्म्मों का कारणशरीर रूप आत्मा से सम्बन्ध है। इन सब विषयों की विशेष जिज्ञासा रखने वालों को "**ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य**" १ खण्ड देखना चाहिये।

करते हुए स्वयं भी अन्तर्लीन हो जाते हैं। ऐसे कर्म्म सर्वथा अबन्धक हैं। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है–आर्षविद्या इसी निवृत्तकर्म्म का स्वरूप बतलाती है। इसी कर्म्मस्वरूपपरिचय के लिए भगवान् ने प्रवृत्तकर्म्म-निवृत्तकर्म्म का विवेक करते हुए अनेक प्रकार से सत्त्व-रजस्तमो-गुणों की परीक्षा की है। बिना गुणपरीक्षा के, एवं कर्म्मविवेक के निवृत्तकर्म्म का रहस्य विदित नहीं हो सकता। बस इस चौथे **धर्म्मबुद्धियोग**, किंवा **धर्म्महेतुक बुद्धियोग** का यही संक्षिप्त स्वरूप निर्वचन है।

— ४ —

१३- विद्या एवं योग के सम्बन्ध में भगवद्गीता



१३—विद्या एवं योग के सम्बन्ध में भगवद्गीता

गीताप्रतिपाद बुद्धियोग वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म्म भेद से चार भागों में विभक्त है। इन चारों बुद्धियोगों की प्राप्ति का उदय बतलाने वाला चार ही विद्याएं हैं। वैराग्यविद्या पहिली विद्या है, यही राजर्षिविद्या है। इस विद्या के अभ्यास[A] से बुद्धि से राग-द्वेषमूला आसक्ति निवृत्त हो जाती है, वैराग्यबुद्धियोग का बुद्धि में उदय हो जाता है। ज्ञानविद्या दूसरी विद्या है, यही सिद्धविद्या है इसके सम्यक् परिज्ञान[B] से बुद्धि से अविद्या (अज्ञान) मूलक मोह निवृत्त हो जाता है, ज्ञानबुद्धियोग का बुद्धि में उदय हो जाता है। ऐश्वर्यविद्या तीसरी विद्या है, यही राजविद्या है। इसकी अनन्यता[C] से अस्मितामूलक अनैश्वर्य्य बुद्धि से निवृत्त हो जाता है, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग का बुद्धि में उदय हो जाता है। चौथी धर्म्मविद्या है, यही आर्षविद्या है। इसके आचरण[D] से अभिनिवेशमूलक अधर्म्म बुद्धि से निकल जाता है, एवं धर्म्मबुद्धियोग का बुद्धि में उदय हो जाता है।

उक्त चारों विद्याओं में क्रमशः अनासक्ति, अन्तर्ज्योति, ईश्वरानन्यता, निवृत्तकर्म्म इन चार रहस्यों का निरूपण हुआ है। आत्मविद्या की उपनिषदें जहां चार विद्याएं हैं, वहां इन उपनिषदों की उपनिषदें (रहस्य) यह चारों भाव हैं। दूसरे शब्दों में ये ही चारों चार विद्याओं के निष्कर्ष हैं। इन चारों में से यदि एक का भी अनुष्ठान सफल हो जाता है तो शारीरक आत्मा (जीवात्मा) देहस्थित प्रत्यगात्मा (अव्ययात्मा) के साथ (उस सिद्ध बुद्धियोग के द्वारा) युक्त होता हुआ अव्यय की भगसम्पत्ति प्राप्त कर लेता है। उस दशा में पहुंचे बाद जीव जीव न रह कर भगवान् बन जाता है। जब एक एक ही बुद्धियोग में इतना सामर्थ्य है तो जिस महापुरुष में इन चारों का, सो भी जन्म से ही उदय रहता हो, उस की महत्ता का तो कहना ही

A. वैराग्य का अभ्यास होता है।

B. ज्ञान का परिज्ञान से सम्बन्ध है।

C. ऐश्वर्य्यरूपा भक्ति का अनन्यता से सम्बन्ध है।

D. धर्म्म का आचरण से सम्बन्ध है।

उनका एक ही स्थान में (कुछ संशोधन के साथ) समन्वयमात्र किया है। यह संशोधन, एवं समन्वय अवश्य ही एक अपूर्व बात है। इसी अपूर्वता के कारण पूर्व प्रकरण में हमनें गीताशास्त्र को इतरशास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पूर्ण, एवं विलक्षण कहा है। अब इस सम्बन्ध में हमारे सामने प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन विद्याओं को **राजर्षि, सिद्ध, राज, आर्ष** इन नामों से व्यवहृत करने का क्या कारण है ? प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का संक्षिप्त समाधान करने के लिए पाठकों के समक्ष उपस्थित हुआ है।

१—वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्त्तिका—"राजर्षिविद्या"—प्रथमा

ज्ञान-विज्ञान रहस्यवेत्ताओं के मतानुसार **राजर्षिविद्या** नाम से प्रसिद्ध यह वैराग्यविद्या प्रधानरूप से आत्मस्वरूपवेत्ता, किंवा औपनिषदतत्त्ववेत्ता राजर्षियों में ही विशेष रूप से प्रचलित थी। **गीताकालमीमांसा** नाम के पूर्व प्रकरण में जिस **देवयुग** का दिग्दर्शन कराया गया है, उसी युग में अव्यय द्वारा इस विद्या का आविष्कार हुआ था। इतिहास प्रसिद्ध **विवस्वान्** स्वर्गीय देवता थे। भगवान् कृष्ण ने (शरीरान्तर से) सर्वप्रथम विवस्वान् को ही इस वैराग्यविद्या का उपदेश दिया था, जैसा कि — "**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्**" इत्यादि वचन से सिद्ध है। विवस्वान् यद्यपि राजा थे, सूर्य्यवंशियों के मूलप्रवर्त्तक थे। परन्तु इस भगवदुपदिष्ट वैराग्यविद्या के प्रभाव से इन का आत्मा ऋषि तुल्य बन गया था। आत्मतत्त्व का इन्होंनें साक्षात्कार कर लिया था। वैदिकपरिभाषानुसार साक्षात्कर्त्ता ही ऋषि कहलाता है, द्रष्टा ही ऋषि है। इसी लिये विवस्वान् राजा रहते हुए भी **राजर्षि** कहलाए। यही राजर्षि इस वैराग्यविद्या के सम्प्रदायप्रवर्त्तक हुए जिन जिन सूर्य्यवंशी राजाओं नें इस विद्या का अनुगमन किया, **मनु, इक्ष्वाकु, जनक** आदि आदि वे सब राजा राजर्षि की उपाधि से विभूषित हुए। इस प्रकार इन राजर्षियों की सम्प्रदाय में विशेष रूप से प्रतिष्ठित होने के कारण, साथ ही में इनके द्वारा ही लोक में प्रवृत्त होने के कारण इस भगवद्विद्या ने आगे जाकर **राजर्षिविद्या** नाम धारण कर लिया। राजर्षि ही इसके विशेष ज्ञाता, एवं प्रवर्त्तक थे, इसी अभिप्राय से भगवान् ने — "**एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः**" कहा है।

राजर्षिविद्यात्मक वैराग्यबुद्धियोग '**योग**" नाम से प्रसिद्ध हुआ। गीता में जहां भी कहीं योग शब्द प्रयुक्त हुआ है, सर्वत्र उसे एकमात्र वैराग्यलक्षण बुद्धियोग, किंवा सामान्यतः बुद्धियोग का ही वाचक समझना चाहिये। केवल इसी परिभाषा के आधार पर आप गीता के वास्तविक मर्म्म पर पहुंचने में सफलता का अनुभव कर सकते हैं। अस्तु.वक्तव्य यही है कि राजर्षियों के सम्बन्ध से जहां यह विद्या राजर्षिविद्या कहलाई है, एवमेव योगशास्त्र की परिभाषा के अनुसार यही बुद्धियोगात्मिका विद्या योग नाम से भी व्यवहृत हुई है। गीता का यह योग तत्त्व प्रचलित **ज्ञान, भक्ति. कर्म्म** सब से विलक्षण है, अतएव इसे इन तीनों से पृथक् बतलाने के लिये गीता ने इसे केवल "**योग**" नाम से ही व्यवहृत किया है। गीता न ज्ञानयोग को प्रधान लक्ष्य बनाती, न भक्ति एवं कर्म्मयोग को। गीता का प्रधान लक्ष्य है– केवल "**योग**"। तभी तो यह **योगशास्त्र** नाम से प्रसिद्ध है।

२—ज्ञानबुद्धियोगप्रवर्त्तिका–"सिद्धविद्या"–द्वितीया

स्वयम्भू मनु द्वारा उद्भावित देवयुग में देवत्रिलोकी **पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ** भेद से तीन भागों में विभक्त थी। तत्कालीन मानवसमाज को स्वयम्भू ब्रह्मा ने **पञ्चकृष्टि, पञ्चक्षिति, पञ्चचर्षणी, पञ्चजन** आदि अनेक भागों में श्रेणिबद्ध किया था। **ऋषि पितर, देवता, असुर, मनुष्य** इन पांचों की समष्टि **पञ्चकृष्टि** थी। इन पांचों के क्रमशः— **स्वयम्भू, यम, इन्द्र, वृषाकपि, वैवस्वतमनु** अध्यक्ष थे। कृषि से उत्पन्न अन्न ही इनकी प्रधान जीविका थी। अतएव यह **पञ्चकृष्टि** नाम से प्रसिद्ध हुए। **ग्रामणी, राजा सम्राट्, स्वाराट्, विराट्** इन पांचों की समष्टि **पञ्चक्षिति** नाम से प्रसिद्ध थी। यह पृथिवी के अधिपति थे। इस क्षिति सम्बन्ध से ही इन्हें पञ्चक्षिति नाम से व्यवहृत किया गया।

जिसे आज साधारण जमीदार कहा जाता है, वही देवयुग में ग्रामणी (गांव का मालिक) कहा जाता था। राजा की **भोज, महाभोज** भेद से दो श्रेणिएं थीं, सम्राट् की **चक्रवर्त्ती, सार्वभौम** भेद से दो श्रेणिएं थीं। स्वाराट् की **इन्द्र, महेन्द्र** भेद से दो श्रेणिएं थीं, एवं

विराट् की ब्रह्मा, विष्णु भेद से दो श्रेणिएं थीं। ब्रह्मा, ऋषि, देव ब्राह्मण, विप्र इन पांचों की समष्टि ही पञ्चचर्षणी थी।

जिसे लोकभाषा में "खलकृत" कहा जाता है, 'मनुष्य" कहा जाता है, वेदभाषा में उसी के लिए "चर्षणी" शब्द प्रयुक्त हुआ है। —(देखिये यजुःसं०१७।२२सा०भाष्य.)। जिन मनुष्यों में ज्ञान का विकास (प्रधान रूप से) रहता है, मनुष्यों में वही मनुष्य कहलाते हैं। ज्ञान की आश्रयभूमि ब्राह्मण है। इसी के उक्त पांचों भेद हैं। जन्मना ब्राह्मण विप्र है। शास्त्रज्ञ ब्राह्मण ब्राह्मण है, शास्त्रज्ञानपूर्वक कर्म्म में प्रवृत्त ब्राह्मण देवता है, भूदेव है। प्राकृतिक तत्वों का परीक्षक ब्राह्मण ऋषि है, सर्वरहस्यवेत्ता सर्वज्ञ ब्राह्मण ब्रह्मा है। इस प्रकार विद्या (ज्ञान) के तारतम्य से चर्षणी के पांच विभाग हो जाते हैं। पुरु, यदु, तुर्वसु, अणु, द्रुह्यु इन पांचों की समष्टि पञ्चजन नाम से प्रसिद्ध थी।

१—ऋषियः (स्वयम्भूः—अध्यक्षः)
२—पितरः (यमः —अध्यक्षः)
३—देवाः (इन्द्रः —अध्यक्षः)
४—असुराः (वृषाकपिः—अध्यक्षः)
५—मनुष्याः (वैवस्वतमनुः—अध्यक्षः)

}—१—पञ्चकृष्टयः

——३——

१—ग्रामणी—(ग्रामाधिपतिः—जमीदार)
२—राजा —(देशाधिपतिः—भोज, महाभोजः)
३—सम्राट्—(राष्ट्राधिपतिः—चक्रवर्त्ती, सार्वभौमः)
४—स्वराट्—(त्रैलोक्याधिपतिः-इन्द्रः, महेद्रः)
५—विराट्—(सर्वाधिपतिः—ब्रह्मा, विष्णुः)

}—२—पञ्चक्षितयः

——०——

१—विप्रः (जात्या ब्राह्मणः)
२—ब्राह्मणः (शास्त्रविद्ब्राह्मणः)
३—देवः (कर्म्मठब्राह्मणः)
४—ऋषिः (परीक्षकब्राह्मणः)
५—ब्रह्मा (सर्वज्ञब्राह्मणः)

—३ पञ्चचर्षणी

१—पुरुः
२—यदुः
३—तुर्वसू
४—द्रुह्युः
५—अणुः

—४ पञ्चजनः

उक्त चारों विभागों में से पञ्चकृष्टि नाम के प्रथम विभाग में देवताओं का जो तीसरा विभाग है, देवयुग में उसी की अवान्तर देव–देवयोनि भेद से दो श्रेणिएं थीं। स्वर्ग में रहने वाली प्रजा "देव" किंवा "देवता" नाम से प्रसिद्ध थी, एवं शर्य्यणावत् पर्वत से आरम्भ कर हिमालय पर्यन्त हिमालय की द्रोणियों में निवास करने वाली जाति देवयोनि नाम से प्रसिद्ध थी। यही देवयुग में अन्तरिक्ष लोक था। इस अन्तरिक्ष में रहने वाली यह देवयोनिएं विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध इन नामों से प्रसिद्ध थीं।

भारतवर्ष में रहने वाली मानवी प्रजा, एवं स्वर्ग में रहने वाली देवप्रजाओं के पारस्परिक व्यवहारादि का संचालन इन्हीं मध्यस्थ देवयोनियों द्वारा हुआ करता था। इन जातियों में "सिद्ध" नाम की जाति में ही सांख्यदर्शन के प्रणेता महामुनि कपिल का जन्म हुआ था। न तो "सिद्ध" शब्द किसी व्यक्ति का वाचक है, एवं न कपिल शब्द ही किसी व्यक्तिविशेष

का द्योतक है । यह दोनों ही शब्द जातियों के सूचक हैं । जिस प्रकार ब्राह्मण जाति में मूर्ख-विद्वान सभी तरह के व्यक्ति रहते हैं, एवमेव सिद्ध जाति में भी मूर्ख-विद्वान् सभी तरह के व्यक्ति थे।

साधारण मनुष्यों नें सिद्ध शब्द का जो यौगिक अर्थ समझ रक्खा है, अन्तरिक्ष में रहने वाली सिद्ध जाति के साथ उस यौगिक अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है । इसी सिद्ध जाति में एक ऐसा व्यक्ति उत्पन्न हुअ, जिसने कर्म्मवाद का विरोध करते हुए विशुद्ध ज्ञानयोग की स्थापना की । वही आदि पुरुष **कपिलमुनि** नाम से प्रसिद्ध हुए । आगे जाकर इनके हजारों अनुयायी बन गए । वे भी कपिल नाम से ही प्रसिद्ध हुए । इस प्रकार जो कपिल शब्द आरम्भ में व्यक्ति वाचक था, वही कालान्तर में जातिवाचक बन गया । दूसरे शब्दों में आदि कपल ने कर्म्म-सन्यास लक्षण जिस सांख्य (ज्ञानयोग) का उपदेश दिया था, उस योग के अनुयायी कपिल नाम से प्रसिद्ध हुए । कपिल चूंकि सिद्ध जाति में उत्पन्न हुए थे, अतएव इनकी यह ज्ञानविद्या भी **सिद्धविद्या** नाम से व्यवहृत हुई । महाभारत शान्तिपर्व मोक्ष धर्म्म की ३०० अध्याय से आरम्भ कर ३०५ अध्याय पर्य्यन्त इस कापिलसांख्य का विस्तार से निरूपण हुआ है । विशेष जिज्ञासुओं को वही प्रकरण देखना चाहिये ।

प्रकृत में इस सम्बन्ध में हमें केवल यही बतलाना है कि महाभारत समकालीन गीतोपदेशकाल के हजारों वर्ष पहिले देवयुगकाल में राजर्षिविद्या के अनन्तर अन्तरिक्ष में रहने वाली सिद्ध जाति को अलंकृत करने वाले महामुनि कपिल ने सर्वकर्म्मसन्यासलक्षणा जिस सांख्य-निष्ठा का आविष्कार किया था, एवं जिसके अनुयायी **"सांख्य"** नाम से ही प्रसिद्ध थे, वही निष्ठा सिद्धविद्या नाम से प्रसिद्ध हुई । ज्ञानयोगाभिमानी सिद्धों में ही इसका विशेष प्रचार हुआ। योगशास्त्र की मर्य्यादा के अनुसार यही विद्या **"ज्ञानयोग"** नामक योग कहलाया । राजर्षि-विद्या यदि स्वर्गीय विद्या थी, तो यह सिद्धविद्या अन्तरिक्ष की विद्या थी । **निषद*** पर्वत से उत्तर

*असुरों के प्रबल आक्रमणों से त्रस्त महाराज कुत्स ने इन्द्र के पास जब यह समाचार भेजे कि "असुरों ने सिन्धु को रोक दिया है, सारी देवभूमि जलप्लावित हो गई है, सारा

अन्तरिक्ष की सीमा में, स्वर्गभूमि के अति सन्निकट ही कपिल का आश्रम था। यहीं वह सुप्रसिद्ध कुकाण्ड हुआ था, जिसकी कृपा से भागीरथी को स्वर्ग से भूमण्डल पर आना पड़ा था।

— * —

३—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगप्रवर्त्तिका-"राजविद्या"-तृतीया—

अन्तरिक्ष के बाद भारतवर्ष का नम्बर आता है। देवयुग काल में भारतवर्ष ही पृथिवी लोक कहलाता था। यद्यपि पुराणों नें दौष्यन्ति भरत के नामसम्बन्ध से इस देश का नाम भारतवर्ष माना है, परन्तु वस्तुतः अग्नि सम्बन्ध से ही इस देश का नाम भारतवर्ष मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है। देवेन्द्र की ओर से भारतवर्ष के शवसोनपात् अग्नि बनाए गए थे। यही अग्नि भारतवर्ष के भरणपोषण करने के कारण "भारत" नाम से प्रसिद्ध हुए, जैसा कि—**"अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारतेति"** इत्यादि मन्त्रश्रुतियों से स्पष्ट है। भारतीय प्रजा की रक्षा करना, एवं यहां से कर ग्रहण कर स्वर्ग में देवताओं के पास पहुचाना ही इनके मुख्य काम थे, जैसा कि— **'एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति'** से सिद्ध है। भारतवर्ष में मनु द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्थित हुआ। भारतीय प्रजा को ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त किया गया।

उक्त चारों वर्णों में क्षत्रियश्रेष्ठों के अधिकार में राजशासन दिया गया। इन राजाओं के प्रधान शास्ता स्वयं वैवस्वतमनु थे, दूसरे शब्दों में यही भारतवर्ष के सम्राट् थे देवेन्द्र स्वाराट् थे, ब्रह्मा-विष्णु विराट् थे। भारतीय राजाओं की प्रधान प्रवृत्ति ईश्वरोपासना की ओर थी। राजाओं में ही उपासना का विशेष प्रचार था। काशीराज प्रतर्दन, महाराज केकय, आदि भारतीय राजा प्रसिद्ध उपासक हो गए हैं। इन का सिद्धान्त था कि सम्पूर्ण कर्म्म ईश्वरबुद्धि से

कम्भीर भी पानी में निमग्न हो चला है, पानी में विष मिला दिया है, आप शीघ्र पधारिए" तो इन्द्र अपने हर्यश्व नाम के अश्वमय विमान से तीन दिन के भीतर भीतर कुत्स के पास पहुचे। इन्होंनें जिस पर्वत पर सर्वप्रथम विश्राम किया, वही पर्वत **"यत्रन्यषीदत्-इन्द्रः"** इस निर्वचन के अनुसार "निषद" नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऋग्वेद के १। १४० वें सूक्त में विस्तार से इस कथा का उल्लेख मिलता है। यही निषद आज संशोधनदोष से "निषध" बन गया है।

ही करने चाहिएं। फलतः इनके इस भक्तियोगापरपर्य्यायक उपासनायोग में ज्ञान-कर्म्म दोनों का समन्वय था। इस उपासना में फल का सम्बन्ध था। उपासना द्वारा ईश्वर, एवं तदंशभूत देवी-देवताओं से विविध फलों की आकांक्षा की जाती थी। आज भी भारतवर्ष में उपासना का यही स्वरूप प्रचलित है, जो कि गीताशास्त्र से सर्वथा विरुद्ध है। उपासना के बल पर यह उपासक विविध ऐश्वर्यों के फलभोक्ता बनते थे, इसी लिये यह विद्या **ऐश्वर्यविद्या** नाम से प्रसिद्ध हुई। चूंकि इसका विशेषतः राजाओं में प्रचार था, अतएव इसे **राजविद्या** नाम से भी व्यवहृत किया गया। योगशास्त्र की मर्यादा के अनुसार यही **भक्तियोग** नाम का योग कहलाया।

४—धर्म्मबुद्धियोगप्रवर्त्तिका-"आर्षविद्या"-चतुर्थी

हम कह चुके हैं कि भारतवर्ष में राजाओं के अतिरिक्त ब्राह्मणसमाज भी एक प्रतिष्ठितवर्ग माना जाता था। इनकी दृष्टि में न ज्ञानयोग का महत्त्व था, न भक्तियोग का। यह विशुद्ध कर्म्मवाद को ही प्रधान मानते थे। यज्ञ-तप-दानलक्षण, त्रिगुणभावापन्न वैदिक कर्म्मों का संतत अनुष्ठान करना ही इनका परम पुरुषार्थ था। परममीमांसक, कर्म्म को ही ईश्वर मानने वाले इन कर्म्मठ भारतीय ऋषियों नें बड़े आवेश के साथ भारतवर्ष में कर्म्मयोग का ही प्रचार किया। कर्म्म (यज्ञ) बल से ही इन्हों नें स्वर्गादि फलों से जनता को विमोहित किया। **"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म" "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"** इत्यादि रूप से कामनाप्रधान यज्ञादि कर्म्मों को ही इन्हों नें अपना प्रधान लक्ष्य बनाया।

इनका कहना था कि वर्णानुसार जिस वर्ण के जो नियत कर्म्म हैं, उनका अनुष्ठान ही धर्म्म है। इसी धर्म्म से सब कुछ सिद्ध हो जाता है। इसी कर्म्ममूलक धर्म्म के सम्बन्ध से यह चौथी विद्या **धर्म्म** नाम से प्रसिद्ध हुई। चूँकि यह भारतीय ऋषियों में ही प्रधान रूप से प्रतिष्ठित थी, अतएव इसे **आर्षविद्या** (ऋषियों की विद्या) नाम से व्यवहृत किया गया, एवं योगशास्त्र की मर्य्यादा के अनुसार यही **कर्म्मयोग** नाम का योग कहलाया।

ज्येष्ठा एवं श्रेष्ठा भगवद्विद्या

इस प्रकार गीताशास्त्र से बहुत पहिले देवयुगकाल से ही चारों विद्याओं का प्रचार चला आता है। गीताने कुछ अपूर्व नहीं बतलाया है, अपितु चिरकाल से प्रचलित चारों विद्याओं का परिष्कारमात्र किया है। यह परिष्कार अवश्य ही गीता की अपूर्वता कही जासकती है। इन चारों योगों में से बुद्धियोग नाम का वैराग्ययोग सब से बड़ा है, सब से श्रेष्ठ है, एवं यही गीता का हृदय है। इस हृदय को निकाल देने पर गीता एक निरर्थक शास्त्र रह जाता है, जैसा कि उपलब्ध भाष्य एवं टीकाओं से प्रत्यक्ष है। जैसा कि पूर्व में बतलाया गया है, वैराग्यबुद्धियोग से अतिरिक्त **कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग, फलानुगामी भक्तियोग, प्रवृत्तिमूलक कर्म्मयोग** तीनों ही योग चिरकाल से चले आरहे हैं। साथ ही में तीनों के अनुयायी सिद्ध-राजा-ब्राह्मणों में परस्पर स्पर्द्धा चली आरही है, पूर्ण मताभिनिवेश है। तीनों अपने अपने योगों को सर्वश्रेष्ठ, एवं सर्वज्येष्ठ बतलाने का वृथा अभिमान करते हुए इतर योगों को अनुपयुक्त मानने का व्यर्थ का साहस करते आए हैं। इसी संस्कार ने भारतीय विद्वानों पर भी अपनी छाप लगाई। फलस्वरूप भारतवर्ष के विद्वान् भी इन चिरकालिक संस्कारों के आवेश में पड़ कर तीन दलों में विभक्त होगए।

सर्वश्रीशंकर–विद्यारण्यादि महाभागोंनें कर्म्मत्यागलक्षण सन्यास को सर्व श्रेष्ठ बतलाया। कुमारिल–मण्डन–उदयनादि कर्म्मठों नें प्रवृत्तिमूलक कर्म्मयोग को ही अपना आराध्य बनाया। एवं रामानुज–वल्लभ–निम्बार्क–माध्वादि साम्प्रदायिक आचार्योंनें भक्तियोग का ही गुणानुवाद किया। नित्यनियति से युक्त ईश्वर भी इन भक्तों की दृष्टि में अनन्तकल्याणगुणाकर, दयालु, कारुणिक, अनुग्रह करने वाला बन गया। इनका यह ईश्वर फूत्कारमात्र से पापों को क्षणमात्र में धोने लगा। इस प्रकार अपनी देवयुगकालीन वैराग्यविभूति से च्युत अभागा भारतवर्ष तीन नियन्त्रणों से नियन्त्रित बन गया। प्रमाण के लिए तीनों महानुभावोंनें **उपनिषत्–ब्रह्मसूत्र–गीता** का आश्रय लिया। सभीनें स्वाभिमत योग की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए अपने अपने स्वतन्त्र अर्थ किए। इन अर्थों से उन अर्थ करने वालों का कुछ उपकार हुआ

अथवा नहीं, यह विचार तो छोड़िए । हां इस सम्बन्ध में इतना निश्चित है कि इन विरुद्ध अर्थों से सामान्य जनता अवश्य ही लक्ष्यच्युत हुई है ।

गीता का शाङ्करभाष्य उठाकर देखिए, आप को ज्ञानयोग का ही साम्राज्य मिलेगा । भक्ति-कर्म्म के प्रतिपादक वचनों के सम्बन्ध में गौणभाव का समावेश मिलेगा । साम्प्रदायिक भाष्य यह कहते हुए मिलेंगे कि गीता केवल भक्तितत्व का निरूपण करती है । कहीं कहीं भगवान् ने जो ज्ञान-कर्म्म का आदेश दिया है, वह भक्ति का सहायकमात्र है । उधर कर्म्मप्रधान भाष्य "यज्ञो दानं तपःकर्म्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्" इत्यादि का उद्घोष करते हुए गीता को विशुद्ध **कर्म्मयोगशास्त्र** मानने का ही वृथाभिमान करते हुए मिलेंगे । उधर जब एक साधारण व्यक्ति गीता के अक्षरों पर दृष्टि डालता है तो वहां उसे सभी तरह के वचन उपलब्ध होते हैं । भाष्य अपनी अपनी कहते हैं । स्वयं गीता तीनों का प्रतिपादन कर हमें और भी व्यामोह में डाल रही है । हम तो चीज ही क्या हैं स्वयं अर्जुन भी एक बार तो व्यामोह में पड़ गया था । वह कहने लगा था कि भगवन् ! कभी आप ज्ञान को श्रेष्ठ बतलाते हैं, कभी कर्म्म को । मैं तो आपके इस विरुद्ध उपदेश से उलटा उलझन में पड़ रहा हूं* । आज हम भी पाठकों के सामने गीता के उन वचनों को उद्धृत कर देते हैं, जिन से वास्तव में सामान्य जन्म व्यामोह में पड़े बिना नहीं रह सकते । सचमुच केवल उन वचनों के आधार पर हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि, गीता वास्तव में किस योग का उपदेश देती है ? पहिले प्राचीनाभिमत तीनों योगों के समर्थक वचनों पर ही क्रमशः दृष्टि डालिए—

—o—

*-ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ! तत्किं कर्म्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव !
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम ॥
सन्यासं कर्म्मणां कृष्ण ! पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम ॥

१२–योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनंजय ! ॥(४।४०)।

१३–तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ (४।४२)।

१४–सर्वकर्म्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्नकारयन् ॥ (५।१३)।

१५–नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥(५ १५)।

१६-ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम् ॥ (५।१६)।

१७–तद् बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ (५।१७)।

१८–भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ (५।२९)।

१९–उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ (७।१८)।

२०–बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७।१९)।

२१–तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ (१०।११)।

२२–इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ (१४।२)।

२३–इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥(१८।६३)।

२४—अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ (१८।७०)।

उक्त वचनों को देखने से पाठक इस निश्चय पर पहुंचेगे कि भगवान् ने आरम्भ से अन्त तक सर्वकर्मपरित्यागलक्षण ज्ञानयोग (सांख्य) को ही मुक्ति का अन्यतम साधक बतलाया है। अपि च **'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे'** अपने उपदेश के इस आरम्भ से भी भगवान् यही सूचित करते हैं कि ज्ञान की कमी से, अज्ञानजनित मोह से ही मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञान जाता रहता है। इस अविद्या को हटाने के लिए ज्ञान का ही उदय आवश्यक है। इसी उद्देश्य को सामने रखकर साधनरूप से यत्र तत्र कर्म्म—भक्ति का गौणरूप से प्रतिपादन करते हुए भगवान् ने अन्त तक ज्ञानयोग पर ही विशेष जोर दिया है। इसीलिए गीतोपदेश के अनन्तर जर्जुन के मुख से—**"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत !"** यह अक्षर निकले हैं। गीता जिस अज्ञानजनितमोह को दूर करने के लिए अर्जुन के सामने आई थी, गीता का वह उद्देश्य सफल हुआ। अर्जुन का मोह नष्ट होगया। मोहवश अर्जुन जिस आत्मज्ञान से वञ्चित होगया था, वह उसे फिर प्राप्त होगया। इस प्रकार उपक्रम उपसंहार से भी गीता का ज्ञानयोगप्रतिपादकत्व ही सिद्ध होता है।

२—भक्तियोग के समर्थक वचन

१—सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥ (६।३१)।

२—तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽभिमतोऽधिकः ।

कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ (६।४६)।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ (६।४७)।

३—चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ (७।१६)।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ (७।१७)।
४—यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ (७।२१)।
५—अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ (७।२३)।
६—प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ (८।१०)।
७—अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ (८ । १४ ।)।
८—पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ (८ । २२ ।)।
९—सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (९ । १४ ।)।
१०—अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (९ । २२ ।)।
११—येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ (९ । २३ ।)।
१२—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ (९ । २६ ।)।
१३—अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ (९ । ३० ।)।

१४–क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं नियच्छति ।
कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ (९ । ३१ ।) ।

१५–मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ (९ । ३२ ।) ।

१६–मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (९ । ३४ ।) ।

१७–अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ (१० । ८ ।) ।

१८–भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ (११ । ५४ ।) ।

१९–मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परमोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ (१२ । २ ।) ।

२०–ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ (१२ । ६ ।) ।
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ (१२ । ७ ।) ।

२१–संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मर्य्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ (१२ । १४ ।) ।

२२–ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ (१२ । २० ।) ।

२३–मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ (१३ । १० ।) ।

२४–मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (१४ । २६ ।) ।

२५—यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ (१५ । १९ ।) ।

२६—ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ (१८ । ५४ ।) ।

२७—भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ (१८ । ५५ ।)

२८—मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (१८ । ६५ ।) ।

२९—सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥ १८ । ६४ ।) ।

३०—य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ (१८ । ६८ ।) ।

उक्त वचनों के देखने से ऐसा मालूम होता है कि मानो सम्पूर्ण गीताशास्त्र अथ से इति तक भक्तिरस से आप्लावित हो रहा है । एक स्थान पर तो भगवान ने तपस्वी–ज्ञानी–योगी इन सब से भक्त को ऊंचा चढ़ा कर यह सिद्ध कर दिया है कि, एकमात्र भगवान् की अनन्यभक्ति ही उद्धार का अनन्य साधन है, ज्ञान-कर्म्म एवं वैराग्य तो भक्ति के साधनमात्र हैं । भगवान् की नवधाभक्ति ही आत्मकल्याण का अन्तिम, एवं सर्वश्रेष्ठ उपाय है । अर्जुन साधारण जीव था । परन्तु भगवान् ने अनुग्रह कर उसे अपनी अनन्यभक्ति प्रदान की । भक्तिबल से ही अर्जुन भगवान् के उस विराट्रूप को देखने का अधिकार प्राप्त कर सका, जिस रूप को ज्ञान-कर्म्म-तप का अनुयायी न आज तक देख सका था, एवं न भविष्य में कोई देख ही सकता । यह अनन्यभक्ति का ही प्रभाव था कि भगवान् ने अपने अवतार में अपने अनन्य भक्त अर्जुन को ही गीता के द्वारा भक्तियोग का उपदेश दिया । गीता का मूल लक्ष्य भक्तियोग ही है ,

यही बात सूचित करने के लिए भगवान् ने ग्रन्थसमाप्ति में 'भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्य संशयः" इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में इतर योगों की अपेक्षा भक्तियोग को ही सर्वश्रेष्ठ माना है।

———— o ————

३—कर्म्मयोग के समर्थक वचन

१—स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥ (२।३१)।

२—न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति। (३।४)।

३—न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः। (३।५)।

४—नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः॥ (३।८)।

५—यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः। (३।६)।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय! मुक्तसङ्गः समाचर॥ (३।६)।

६—कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि॥ (३।२०)।

७—न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि॥ (३।२२)।

८—एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्म्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ (४।१५)।

६—त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यमिति चापरे॥ (१८।३)।

१०—यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (१८।५) ॥

११—यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ (१८।४६) ।

१२—श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ (१८।४७) ।

१३—सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ (१८।४८) ॥

१४—सर्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ (१८।५६) ।

१५—स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्म्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ (१८।६०) ।

उक्त वचन स्पष्ट शब्दों में विशुद्ध कर्म्मयोग की ही घोषणा करते हुए प्रतीत हो रहे हैं । भगवान् नें स्पष्ट शब्दों में यावज्जीवन वेदविहित (चातुर्वर्ण्य) कर्म्म के अनुष्ठान की आज्ञा देते हुए हमें यह बतलाया दिया कि प्रत्येक वर्ण को अपना अपना कर्म्म कभी नहीं छोड़ना चाहिए । कर्म्म करता हुआ ही मनुष्य शाश्वत अव्यय पद को प्राप्त हो जाता है । कर्म्म किसी हालत में नहीं छोड़ा जासकता । इन्हीं वचनों के आधार पर कर्म्मठों नें प्रवृत्तिलक्षण यज्ञ-दान-तपोरूप कर्म्मयोग को ही गीता का प्रधान प्रतिपाद्य विषय माना है । इन का कहना है कि गीता का उपदेश किस लिए प्रवृत्त हुआ, यह विचार कीजिए । अर्जुन युद्ध कर्म्म के लिए संग्राम में उपस्थित हुआ था । वहां अपने कुलक्षय की आशङ्का से यह कर्म्म से हटने के लिए उद्यत हुआ । अर्जुन की इस दुष्प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही भगवान् को कर्म्मोपदेश करना पड़ा । फलस्वरूप '**करिष्ये वचनं तव**" कहता हुआ अर्जुन युद्धकर्म्म में प्रवृत्त होगया । इस प्रकार उपक्रमोपसंहार से भी हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि गीता विशुद्ध कर्म्मयोगशास्त्र

ही है। ज्ञान एवं भक्ति इसके सहायकमात्र हैं। कर्म्म से ही भक्ति उत्पन्न होती हैं, कर्म्म से ही ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान एवं भक्ति तो साध्य है, एवं इनका साधक कर्म्म ही है। यदि कर्म नहीं तो कुछ नहीं।

४–राष्ट्रवादियों का साम्यवाद

इधर कुछ समय से विशुद्ध राजनीति के अनुयायी हमारे राष्ट्रवादी प्रचलित शास्त्रीय तीनों ही योगों से सर्वथा भिन्न एक नवीन **"साम्यवाद"** की कल्पना कर गीता को **"साम्ययोगशास्त्र"** मानने का अभिमान कर रहे हैं। और सम्भव है कि समत्वमूलक बुद्धियोग-प्रतिपादक हमारे इस भाष्य का भी वे यही तात्पर्य लगाने लगे कि लेखकने बुद्धियोग के व्याज से हमारे साम्यवाद का ही समर्थन किया है। ऐसा दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि हम गीतक्त साम्यवादमूलक बुद्धियोग का, एवं कल्पित साम्यवाद का अन्तर स्पष्ट करदें।

"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्"–"शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः"–"समत्वं योग उच्यते"–निर्दोषं हि समं ब्रह्म"–"समोऽहं सर्वभूतेषु"–समं पश्यन् हि सर्वत्र"–"समं सर्वेषु भूतेषु"–"समः शत्रौ च मित्रे च"–"सर्वभूतेषु येनैकम" "सर्वभूस्थितं यो माम्"–"सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः"–"समदुःखसुखः स्वस्थः" इत्यादि गीता सिद्धान्तों के अनुसार सम्पूर्ण विश्व में, विश्व में रहने वाली चेतन एवं अचेतन प्रजा में सर्वथा समरूप से व्याप्त उस व्यापक परमात्मतत्व को लक्ष्य में रखते हुए, इसी लक्ष्य के आधार पर किसी से राग–द्वेष न रखते हुए, द्वन्द्वभावों का एकान्ततः परित्याग करते हुए, लोकसंग्रह को मूल बनाते हुए यावज्जीवन निष्कामभाव से वर्णाश्रमधर्म्मानुकूल अपने अपने आधिकारिक कर्म्म–ज्ञान–भक्तियोगों में प्रवृत्त रहना ही गीता का समत्वयोग, किंवा वैराग्यबुद्धियोग है, जिसका कि भूमिका तृतीयखण्ड के **"बुद्धियोगपरीक्षा"** नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण होने वाला है।

"सम्पूर्ण विश्व का कोई एक तन्त्रायो है, वही अन्तर्यामीरूप से प्राणिमात्र के हृदयों में प्रतिष्ठित होकर उनका उनका संचालन कर रहा है, एवं वह तन्त्रायी **"अविभक्तं विभक्तेषु"** के अनुसार इन विभिन्न पदार्थों में अभिन्नरूप से (समरूप से) प्रतिष्ठित है" इस ईश्वरानुगत आत्मसाम्यवाद, किंवा आत्मव्यापकतावाद को आधार बनाते हुए अपने स्वभावानुकूल कर्म्मों में प्रवृत्त रहना ही समत्वलक्षण बुद्धियोग है। ईश्वरमूलक राजतन्त्र ही इस साम्यवाद का प्रतिष्ठा है।

राष्ट्रवादियों के कल्पित साम्यवाद का तो गीता में गन्ध भी नहीं है। कारण इन्होंनें गीता की शास्त्रीय मर्य्यादा का सर्वथा तिरस्कार कर अनीश्वरवादमूलक प्रजातन्त्रवाद, किंवा गणतन्त्रात्मकवाद की काल्पनिक भित्ति पर साम्यवाद का आविश्कार किया है। इनके साम्य-वाद का आत्मसाम्य से कोई सम्बन्ध नही है। "सबको समानदृष्टि से देखो" इसका तात्पर्य ये महानुभाव यह लगाते हैं कि सब को सब कर्म्म करने का अधिकार है। सबको वर्णाश्रममर्य्यादा का (जो कि गीताशास्त्र की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है) परित्याग कर भेद व्यवहार हटा देना चा-हिए। खान-पान—विवाह आदि की अर्गलाएं सर्वथा तोड़ देनीं चाहिएं। सब का व्यक्तित्व स्व-तन्त्र है। कोई किसी के नियन्त्रण में नहीं रहसकता। प्रजा का संघठन ही शासन का मूल सूत्र है। फलत: इनके साम्यवाद का यह निष्कर्ष निकला कि **"मर्यादा"** नाम की कोई वस्तु संसार में नहीं है। अमर्य्यादित पशुओं की तरह उच्छृंखल बने रहना ही मर्य्यादा है। यही साम्यवाद है, और गीता इसी का निरूपण करती है।

कहना न होगा कि राष्ट्रवादियों का उक्तलक्षण असाम्यवादरूप साम्यवाद विश्वशान्ति की दृष्टि से एक भयानक खतरा है। हम उन सहयोगियों को निमन्त्रण देते हैं कि उन्होंनें गीता के आधार पर जिस कल्पित साम्यवाद की घोषणा करने का दुस्साहस किया है, वे यह प्रमा-णित करें कि गीता के अमुक वचन हमारे साम्यवाद का समर्थन कर रहे हैं। अन्यथा उन्हें दयाकरके गीताशास्त्र को कलङ्कित करने का प्रयास छोड़ देना चाहिये। अपनी इच्छा से वे कुछ भी माना,एवं किया करे। परन्तु दुःख का विषय तो यह है कि गीता जैसे पवित्र शास्त्र को आगे कर भोली जनता को धोके में डाला जारहा है। जो गीता पद पद पर वर्णाश्रमधर्म्म के

अवश्य मानते हैं, परन्तु प्राचीनों नें इन का जैसा स्वरूप समझ रक्खा है, उस के भगवान् पूर्ण विरोधी हैं। सर्वकर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग में वे यह संशोधन चाहते हैं कि, कर्म्म का त्याग मत करो, कामना का परित्याग करो। कामना के परित्याग से कर्म्म करते हुए भी यह योग ज्ञानयोग बन जायगा। इसी प्रकार सकाम भक्तियोग में भी वे कामना का परित्याग चाहते हैं। इसी प्रकार प्रवृत्तिमूलक कर्म्मयोग से भी प्रवृत्ति का परित्याग चाहते हैं। कामना-प्रवृत्ति को छोड़ते हुए भगवान् नें तीनों योगों का आदर करते हुए, लोकसंग्रह को सुरक्षित रखते हुए अपनी ओर से एक चौथे सर्वथा अपूर्व **वैराग्ययोग** का उपदेश और दिया है। इसे भगवान् अपना मत मानते हैं, जैसा कि अनुपद में हीं स्पष्ट हो जायगा। यही गीता का **बुद्धियोग** है। इसे भगवान् ने गीता में **बुद्धियोग–योग** इन दोनों नामों में से व्यवहृत किया है।

यद्यपि प्रकरणविभाग के अनुसार यह योग आरम्भ की ६–अध्यायों में ही प्रतिपादित हुआ है, परतु चूँकि यह भगवान् का अपना मत है, भगवान् इसे सर्वप्रधान मानते हैं इसीलिए आरम्भ से अन्त तक स्थान स्थान पर इतर योगों के मध्य में इस का सम्बन्ध कराना आवश्यक समझा गया है। इसी बुद्धियोग के सम्बन्ध से गीता के इतर तीनों संशोधित योग भी बुद्धियोग नामों से ही प्रसिद्ध हो गए हैं। फलतः यह सिद्ध हो जाता है कि गीता एकमात्र बुद्धियोग का, दूसरे शब्दों में बुद्धियोगरूप योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्म्मयोग का ही निरूपण करती है। गीता वैराग्यबुद्धियोग, ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्यबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोगभेदभिन्न चारों बुद्धियोगों का निरूपण करने वाला **"बुद्धियोगशास्त्र"** है। आत्मकल्याण के लिए गीता निम्नलिखित चार बुद्धियोगों को ही हमारे सामने रखती है—

१—राग-द्वेष का परित्याग करते हुए आसक्ति का सर्वथा परित्याग कर यावज्जीवन अनासक्त-भाव से कर्म्म करते रहो। (वैराग्यबुद्धियोग)।

२—अविद्या नामक मोह का परित्याग करते हुए, शरीरयात्रा निर्वाहक कर्म्म करते हुए अन्तर्ज्योतिर्लक्षणज्ञान के उदय में प्रयत्नशील बने रहो। (ज्ञानबुद्धियोग)।

३—अस्मिता का परित्याग करते हुए, किसी भी फल की आकाङ्क्षा न करते हुए अपने समस्त कर्म्मों का अनुष्ठान करते हुए, साथ ही में इन कर्म्मों के सम्बन्ध में– "ईश्वर करता है, वही कराता है" यह भावना रखते हुए सतत ईश्वर चिन्तन में निमग्न रहो।

(ऐश्वर्यबुद्धियोग)।

४—अभिनिवेश का परित्याग करते हुए केवल कर्त्तव्यबुद्धि से निवृत्तिलक्षण यज्ञादि कर्म्मों का यावज्जीवन अनुष्ठान करते रहो। (धर्म्मबुद्धियोग);

—— * ——

इन्हीं चारों बुद्धियोगों के समर्थक वचन पाठकों के सम्मुख क्रमशः उपस्थित किए जाते हैं। उन वचनों के आधार पर पाठक स्वयं निर्णय कर लेंगे कि वस्तुतः गीता का हृदय, किंवा प्रतिपाद्य विषय क्या है ? आरम्भ से ६ अध्याय पर्य्यन्त सर्वमुख्य एवं सर्वज्येष्ठ राग-द्वेषपरित्यागलक्षण, सर्वकर्म्मग्रहणलक्षण वैराग्यबुद्धियोग का प्रधानरूप से निरूपण हुआ है। पहिले इसी के समर्थक वचनों पर दृष्टि डालिए—

१—वैराग्यबुद्धियोग के समर्थक वचन

१—मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तां तितिक्षस्व भारत ॥ (२ । १४ ।)

२—यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुर्षभ !
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्त्वाय कल्पते ॥ (२ । १५ ।)।

३—अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्ध्यस्व भारत ॥ (२ । १८ ।)।

४—वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ (२ । २१ ।)।

५—स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ (२।३१)।

६—सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ (२ । ३८ ।) ।

७—एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धि,-र्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ (२ । ३९ ।) ।

८—व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ (२ । ४१) ।

९—भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ (२ । ४२ ।) ।

१०—त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ (२ । ४५ ।) ।

११—कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥ (२ । ४७ ।)

१२—योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !
सिध्यसिध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते । (२ । ४८ ।)

१३—दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय !
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ (२ । ४९ ।) ।

१४—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥ (२ । ५० ।) ।

१५—कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ (२ । ५१ ।) ।

१६—श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ (२ । ५३) ।

१७—दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ (२ । ५६ ।) ।

१८—यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (२ । ५७ ।) ।

१९—राग–द्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (२ । ६४ ।) ।

२०—नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ (२ । ६६ ।) ।

२१—यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन !

कर्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ (३ । ७ ।

२२—यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥ (३ । ९ ।) ।

२३—तस्मादसक्तः सततं कार्य्यं कर्म्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ (३ । १९ ।) ।

२४—सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत !

कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ (३ । २५ ।) ।

२५—इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग–द्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ (३ । ३४ ।) ।

२६—काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ (३ । ३७ ।) ।

२७—तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ !

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ (३ । ४१ ।) ।

२८—इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ (४ । १) ।

२६—एवं परम्पराप्राप्तमिमं **राजर्षयो** विदुः ।

स कालेनेह महता **योगो** नष्टः परंतप ॥ (४ । २) ।

३०—स एवायं मया तेऽद्य **योगः** प्रोक्तः **सनातनः** ।

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ (४ । ३ ।) ।

३१—न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति कर्म्मभिर्न स बध्यते ॥ (४ । १४ ।) ।

३२—कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः ।

स **बुद्धिमान्** मनुष्येषु स **युक्तः** कृत्स्नकर्म्मकृत् ॥ (४ । १८ ।) ।

३३—त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः ॥ (४ । २० ।) ।

३४—**योग**सन्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ (४ । ४१ ।) ।

३५—तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्त्वैनं संशयं **योग**—मातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ (४ । ४२ ।) ।

३६—ज्ञेयः स नित्यसन्यासी यो न **द्वेष्टि** न **काङ्क्षति** ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥ (५ । ३ ।) ।

३७—यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ (५ । ५ ।) ।

३८—**योगयुक्तो** विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा **कुर्वन्नपि न लिप्यते** ॥ (५ । ७)

३९—ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ (५।१०) ।

४०—सर्वकर्म्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ (५।१३) ।

४१—इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ (५।१९) ।

४२—न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ (५।२०) ।

४३—शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ (५।२३) ।

४५—यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ (५।२८) ।

४५—अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी स योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥ (६।१) ।

४६—यं सन्यासमितिप्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव !
न ह्यसन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ (६।२) ।

४७—सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धि-र्विशिष्यते ॥ (६।९) ।

४८—तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ (६।४३) ।

४९—तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ (६।४६) ।

५०–ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनुसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्म्मभिः ॥ (३ । ३१ ।) ।
५१–ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥ (३ । ३२ ।) ।

———o———

"राग-द्वेष ही बन्धनरूपा आसक्ति के कारण हैं । इस आसक्तिरूप अविद्या के प्रभाव से बुद्धि का स्वाभाविक वैराग्यभाव अभिभूत हो जाता है । ऐसी बुद्धि का आत्मविद्या (अध्यात्मा) के साथ योग नहीं हो पाता । यही दुःख का मूल कारण है । द्वेषगर्भित राग ही काम क्रोध का जनक है । यह हमारा (आत्मा का) सब से बड़ा शत्रु है । इन शत्रुओं का दमन करते हुए, इन्द्रियसंयमपूर्वक लोकसंग्रह को लक्ष्य में रखते हुए, साथ ही में शास्त्रविहित कर्म्मों को अपना परम आराध्य समझते हुए हमें यावज्जीवन कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहना चाहिये"— उक्त श्लोक इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहे हैं । यही सच्चा सन्यास है, यही सच्चा कर्म्मयोग है । अपने इस वैराग्यबुद्धियोग में भगवान् ने प्राचीनाभिमत कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग), एवं प्रवृत्तिकर्म्मलक्षणा योगनिष्ठा (कर्म्मयोग) की पर्याप्त समालोचना करते हुए अन्त में यह निर्णय किया है कि इन दोनों को पृथक् समझना बड़ी भूल है । दोनों का समन्वित रूप ही कल्याणकर है । इस प्रकार इस वैराग्यबुद्धियोग में ज्ञान कर्म्म दोनों का समन्वय हुआ है ।

प्रचलित ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगों से पृथक् बतलाने के लिये भगवान् ने इसे केवल–"**योग**" शब्द से व्यवहृत किया है । इसमें ज्ञान-कर्म्म दोनों समरूप से प्रतिष्ठित हैं । अतएव यह "**समत्वयोग**" नाम से भी सम्बोधित हुआ है । समत्व ही सच्चा योग है, सम्पूर्ण कर्म्मों में योग ही परम उपादेय है । जनकादि राजर्षि इसी योग के अनुष्ठान से कर्म्मों में सतत प्रवृत्त रहते हुए भी जीवन्मुक्त बने हैं । अतएव इन्हें "विदेह" की उपाधि से विभूषित किया गया है । इस योग के पहिले शिष्य विवस्वान् मनु थे । देवयुग के आदिकाल में इसका भगवान् द्वारा उपदेश हुआ था, इसी लिये हम इसे सर्वज्येष्ठ योग कह सकते हैं । साथ ही में इ-

तरयोगों के प्रवर्त्तक कपिल-राजा-ब्राह्मणादि **आश्वतिथिकजीव** (मनुष्य) थे, एवं इस योग के प्रवर्त्तक **आधिकारिकजीव** (अवतार) हैं। इसी लिये यह सर्वश्रेष्ठ भी है आदिकाल से चले आने के कारण इस वैराग्यविद्या को "**सनातनविद्या**" कहा गया है—"**योगः प्रोक्तः सनातनः**" (४।३।)। राजर्षियों में ही इसका विशेष प्रचार रहा है, इस लिये हम इसे "**राजर्षिविद्या**" नाम से भी व्यवहृत कर सकते हैं — "**एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः**"। स्वयं अच्युतभगवान् इस के आदिप्रवर्त्तक थे, इसी लिये इसे **भगवद्विद्या** भी कहा जा सकता है- "**ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः**"। भगवान् का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही योग था। फलतः गीता में उन्हें यद्यपि इसी योग का प्रतिपादन करना चाहिए था, परन्तु भगवान् लोकसंग्रह के लिये धरातल पर अवतीर्ण हुए थे। एवं उस समय (महाभारतकाल में) लोक में **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म** भेद से तीन मार्ग जनसमाज में प्रचलित थे। एकान्ततः वैराग्ययोग का ही प्रतिपादन करने से बुद्धिभेद उत्पन्न होने की आशङ्का थी इस लिए भगवान् ने पहिले तो सर्वश्रेष्ठ सर्वज्येष्ठ वैराग्ययोग का ही प्रतिपादन किया, और बाद में लोकसंग्रह को सुरक्षित रखने के लिये क्रमशः तीनों योगों का प्रतिपादन किया। हां, इसके सम्बन्ध में भगवान् ने संशोधन अवश्य किया। भगवान् के द्वारा संशोधित यह तीनों योग भी बुद्धियोगरूप में ही परिणित होगए। उन्हीं संशोधित रूपों के समर्थक वचन क्रमशः पाठकों के समक्ष उपस्थित किये जाते हैं —

२- ज्ञानबुद्धियोग के समर्थक वचन

१—मय्यासक्तमनाः पार्थ ! योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा **ज्ञास्यसि** तच्छृणु ॥ (७।१।)

२—ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ (७।२।)।

३—मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति **सिद्धये** ।
यततामपि **सिद्धानां** कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ (७।३)।

४—त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ (७। १३।)।

५—दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ (७। १४।)।

६—न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ (७। १५।)।

७—तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ (७। १७।)।

८—उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ (७। १८।)।

९- बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७। १९।)।

१०—अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ (७। २४।)।

११—नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ (७। २५।)।

१२—जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म्म चाखिलम् ॥ (७। २९।

१३—साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ७। ३०।)।

१४—अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ (८। ५।)

१५—अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।

के साथ व्यक्तिभाव की प्रधानता है। इस योग से केवल एक ही व्यक्ति का उपकार संभव है। उधर सांसारिक कर्म्मों में अनासक्तिपूर्वक प्रवृत्त रहने वाले वैराग्य-बुद्धियोगी से विश्व का कल्याण होता है। इस के अतिरिक्त अव्यक्त ज्ञान की उपासना की सफलता में भी बड़ा सन्देह रहता है। कारण स्थूलकर्म्म के परित्याग से स्थूलजगत् की ओर झुके हुए बुद्धि मन का संयम साधारण बात नहीं है। इसी लिए भगवान् को कहना पड़ा है कि "हजारों मनुष्यों में कोई एक तो इस ज्ञानसिद्धि के लिए यत्न करता है, एवं यत्न करने वाले सिद्धों में से भी कोई विरला ही मेरे (अव्यय के) तात्विक स्वरूप को पहिचान ने में समर्थ होता है" **"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति"**। उधर कर्म्ममय वैराग्ययोग स्थूलकर्म्मपरिग्रह से सर्वथा सरलमार्ग बन जाता है। अपिच वैराग्ययोगी जहां केवल एक ही जन्म में विदेह बनता हुआ आत्मनिष्ठा प्राप्त कर लेता है, वहां कर्म्मविमुख ज्ञानी को आत्मप्राप्ति के लिए अनेक जन्म योग साधन करना पड़ता है–**"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते"**। अपनी इसी अनभिरुचि (अरुचि) को बतलाने के लिए भगवान् ने केवल २ अध्यायों में ही इसका निरूपण किया है। इसने तो भक्तिमार्ग कहीं अधिक सरल है। इसी लिए भगवान् ने इसका ४ अध्यायों में निरूपण किया है, जैसा कि तद्योगनिरूपण में स्पष्ट हो जायगा। इस योग के मूलप्रवर्त्तक सिद्धजाति में उत्पन्न कपिलसिद्ध थे, अतएव इसे हम **"सिद्धविद्या"** नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। इससे ज्ञान का उदय होता है। बुद्धि ज्ञानमयी बनकर मोह का विनाश करती हुई आत्मा के साथ युक्त हो जाती है। अतएव इसे **ज्ञानबुद्धियोग** नाम से भी सम्बोधित किया जासकता है।

३—ऐश्वर्य्य बुद्धियोग के समर्थक वचन—

१—इदं ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ (९।१)।

२—राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥ (९।२)।

३—मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ (९-४-५)।

४—अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ (९।११)।

५—महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ (९।१३) ।

६—सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (९।१४)

७—ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ॥ (९।१५)।

८—तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ (९।१९)।

९—अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (९।२२)।

१०—शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः ।
सन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ (९।२८)।

११—समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति कश्चन ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ (९।२९)।

१२—अपि चेत् सुदुराचारो भजेत मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥ (९।३०)।

१३-क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं नियच्छति ।
कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ (९।३१) ।
१४-किं पुनर्ब्राह्मणाः-पुण्या-भक्ता-राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ (९।३३) ।
१५-मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (९।३४)।
१६-अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ (१०।८) ।
१७-मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ (१०।९) ।
१८-यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ (१०।४१) ।
१९-न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् (११।८) ।
२०-भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन !
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ (११।५४) ।
२१-येतु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ (१२।२०) ।

लोक में प्रचलित भक्तिनिष्ठा का यह अर्थ समझा जाता है कि "हमें अपने दुःख की निवृत्ति के लिए भगवान् की आराधना करनी चाहिए । भगवान् बड़े दयालु हैं, करुणा की मूर्त्ति हैं । वे हमारे सब अपराध, सब पाप क्षमा कर देते हैं, हमारी सब कामनाएं पूरीं कर देते हैं । इसी भावना से प्रेरित होकर भक्त लोग अपने सत्त्व-रज-तमोगुणभावों के अनुसार विष्णु-ब्रह्मा-रुद्र-काली-भैरव-हनुमान्-राम-कृष्ण आदि भिन्न भिन्न देवताओं की उपासना किया

करते हैं। जरा आपत्ति आने पर देवताओं के नाम प्रसाद बोला करते हैं। विपत्ति दूर होने पर उत्सव मनाते हैं। इस प्रकार इन उपासकों की यह उपासना अथ से इति पर्य्यन्त कामना से ओतप्रोत है। अवश्य ही तत्तद्देवतोपासकों की कामनामयी तत्तदुपासनाओं से तत्तत्फल-प्राप्ति हो जाती है। परन्तु यह फलमुखी उपासना क्षणिक सुख का कारण बनती हुई शाश्वत आनन्दासन से सर्वथा च्युत है। इस में पराश्रित रहना पड़ता है, पद पद पर देवता से भय खाना पड़ता है, आत्मा का स्वाभाविक ऐश्वर्य्य दबा रहता है। प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए अपने आप को असमर्थ पाते हुए हम देवता से भीख मांगा करते हैं। भगवान् ऐसे भक्तियोग में भी ज्ञानयोग की तरह संशोधन चाहते हैं। भगवान् कहते हैं कि तुम उपासना किसी भी देवता की करो परन्तु द्वैतबुद्धि छोड़ कर। यह मत समझो कि तुम पृथक् हो, उपास्य देवता पृथक् है। उसे अपने से अभिन्न समझो, यही अनन्योपासना है। विश्वास करो कि तुम उस व्यापक के ही एक अंश बनते हुए उससे अभिन्न हो, सभी देवता तुम हो। आत्मबुद्धि से निष्कामबुध्या उपासना करो, उपासना को अपना कर्त्तव्यकर्म्म (नित्यकर्म्म) समझो, इसे काम्य व्रत बनाओ। **"व्यापक की शक्ति के हम भागीदार बनें"** यही उपासना का लक्ष्य बनाओ। उस से तुम मांग ते क्या हो। उसने तो पहिले से ही तुम्हें सब कुछ दे रक्खा है। केवल तुह्मारे और उस के बीच में अस्मिता का आवरण आ गया है। ऐश्वर्य-बुद्धियोगलक्षण भक्तियोग से उस आवरण को हटाना है। एतदर्थ सतत उस पर दृष्टि मात्र रखना पर्य्याप्त है। जो मनुष्य देवता को अपने से पृथक् समझकर अपनी अपेक्षा उसे समृद्ध समझता हुआ काम्यदृष्टि से उसकी उपसना करता है, वह उपासनातत्त्व से सर्वथा वञ्चित है। तुम सूर्य्य हो, तुम मनु हो तुम अग्नि हो, तुह्मी सब कुछ हो। यही उपाना का मूलमन्त्र है। इसी का स्पष्टी करण करती हुई मन्त्र-ब्राह्मणश्रुतिएं कहतीं हैं—

१—अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥ १ ॥
अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय ।

अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥ २ ॥

(ऋक्सं० ४ । २६ । १-२) ।

२—आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्य*राजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति" ।

(छां. उ. ७ । २५ । २ ।) ।

३—"तान्यस्यैतानि कर्म्मनामान्येव । स योऽत एकैकमुपास्ते, न स वेद । अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति । आत्मेत्येवोपासीत । अत ह्येते सर्व एकं भवन्ति । अनेन ह्येतत् सर्वं वेद" (बृहदारण्यक०) ।

भगवत्संशोधित इस भक्तियोग से ऐश्वर्य का उदय होता है, अस्मिता का विनाश होता है । ईश्वर के साथ अनन्यता सम्बन्ध ६ तरह से स्थापित किया जासकता है। अतएव यह योग **"नवधाभक्ति"** नाम से भी प्रसिद्ध है । विश्व में ईश्वर ६ रूपों से व्याप्त हो रहा है, जिन का कि विशद निरूपण आचार्यरहस्य में उपबृंहित है । इस योग का राजालोगों में विशेष प्रचार रहा है, अतएव यह योग **"राजविद्या"** नाम से व्यवहृत किया जासकता है ।

—— o ——

४—धर्म्मबुद्धियोग के समर्थक वचन

१—ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ (१३ । ४ ।) ।

* इस उपासनायोग को ही राजविद्या, किंवा राजयोग कहा जाता है। जो उक्तलक्षण राजयोग का अनुष्ठान नहीं करते, वे राजभाव से च्युत होते हुए अन्यराजाओं से शासित रहते हैं।

२—अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ (१३ । ७ ।) ।

३—कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ (१३ । २० ।)

४—पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ (१३ । २१ ।)

५—य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ (१३ । २३ ।)

६—अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ (१३ । २५ ।) ।

७—प्रकृत्यैव च कर्म्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥ (१३ । २९ ।) ।

८—अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरोऽस्थि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ (१३ । ३१ ।) ।

९—कर्म्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःख-मज्ञानं तमसः फलम् ॥ (१४ । १६ ।) ।

१०—ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (१५ । १ ।) ।

११—अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्म्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ (१५ । २) ।

१२—एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ (१६ । २२ ।) ।

१३–तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥ (१६ । २४ ।) ।

१४–ओं तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधिः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ (१७ । २३ ।) ।

१५–तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ (१७ । २४ ।) ।

१६–तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ (१७ । २५ ।) ।

१७–सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्म्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ (२६ ।) ।

१८–यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ (१७ । २७ ।) ।

१९–यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (१८ । ५ ।) ।

२०–नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्म्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ (११ ।) ।

२१–ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप !
कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ (४१ ।) ।

२२–स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्म्मसिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ (४५ ।) ।

२३–श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ (४७ ।) ।

२४–सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ (४८) ।

२५–सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ (५६) ।

२६–यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिं त्वां नियोक्ष्यति ॥ (५९) ।

२७–स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्म्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ (६०) ।

त्रैलोक्य में स्वतन्त्ररूप से विचरण करने वाले मन्त्रद्रष्टा आर्यमहर्षियोंनें अपौरुषेय मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के आधार पर श्रौतस्मार्त्त धर्म्मों का आविष्कार किया । यही धर्म्म आगे जाकर **शास्त्रीयकर्म्म** नाम से प्रसिद्ध हुए । यही कर्म्म ऋषिसम्प्रदाय में "**कर्म्मयोग**" नाम से सम्बोधित हुआ । ये शास्त्रसिद्ध कर्म्म ऋषियों की दृष्टि में **विद्यासापेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्म, विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्म** भेद से दो भागों में विभक्त हुए । पुत्र–राज्य–धन–स्वर्गादि सुखसाधनभूत **यज्ञकर्म्म, दानकर्म्म** एवं **तपःकर्म्म** यह तीनों विद्यासापेक्ष कर्म्म कहलाए । **इष्ट–दत्त–आपूर्त्त** यह तीनों विद्यानिरपेक्ष कर्म्म कहलाए । ऋषियों नें आदेश दिया कि अभ्युदय चाहने वाले मनुष्य को स्वस्ववर्णानुसार यावज्जीवन प्रवृत्तिलक्षण उक्त कर्म्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए। शास्त्रप्रतिषिद्ध विकर्म्मों एवं अविहिताप्रतिषिद्ध अकर्म्मों (निरर्थक कर्म्मों) का परित्याग करना चाहिए, यही मनुष्य का परमधर्म्म है, एवं धर्म्ममूलक कर्म्म ही अभ्युदय का परम साधक है। भगवान् नें इस ऋषिमार्ग का भी आदर किया, परन्तु संशोधन के साथ। भगवान् नें इस सम्बन्ध में केवल प्रवृत्तिमात्र का संशोधन किया। गीताद्वारा भगवान् नें बतलाया कि धर्म्मभाव के विकास के लिए यज्ञादि कर्म्मों का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए, परन्तु फलप्रवृत्ति छोड़ते हुए। भगवान् का आशय यही है कि कर्म्म कभी व्यर्थ नहीं जाता। यदि उसका सर्वात्मना अनुष्ठान

कर लिया तो फल निश्चित है। ऐसी स्थिति में कर्म्मकाल में यदि फल की कामना की जायगी तो कर्म्मसाधक बुद्धि-मन के (फल की ओर) झुक जाने से कर्म्मसिद्धि की ओर उदासीनता आ-जायगी। इससे एक तो कर्म्म की स्वरूप निष्पत्ति ही न होगी। यदि यथाकथंचित् पूर्णबल प्रयोग से कामना रहते हुए भी कर्म्म सिद्ध हो गया तो कामना से आसक्तिरूप संस्कार का उदय हो जायगा। यह संस्कार आत्मा के वास्तविक स्वरूप को (ज्योतिर्म्मय विद्याभाग को) आवृत करता हुआ मुक्ति से वञ्चित कर देगा। इसलिए एकमात्र कर्म्म पर अधिकार रखते हुए प्रवृत्तिमूल कामना का एकान्ततः परित्याग कर देना चाहिए, वही सच्चा कर्म्मयोग होगा। चूंकि इसयोग के मूल-प्रवर्त्तक ऋषि थे—अतएव इसे हम "आर्षविद्या" नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। इससे धर्म्म का उदय होता है, अतएव इसे **धर्म्मबुद्धियोग** कहना भी अन्वर्थ बन जाता है।

——— * ———

इस प्रकार भगवान् ने क्रमशः चार बुद्धियोगों का निरूपण किया है। जैसा कि प्रक-रण के आरम्भ में बतलाया जाचुका है, भगवान् प्रधानरूप से **वैराग्यबुद्धियोग** के ही पक्ष-पाती हैं। रागद्वेष रहित बनकर, द्वन्द्वातीत होते हुए अनासक्तिभाव को आगे कर यावज्जीवन कर्म्म करते रहना ही भगवान् को प्रिय है। यही कारण है कि इतर योगों में संशोधन करते हुए भगवान् ने सर्वत्र अपने अभिमत इस वैराग्ययोग का बीच बीच में समावेश कर दिया है, जैसा कि पाठक निम्नलिखित वचनों से स्वयं अनुमान लगा लेंगे—

*२—ज्ञानबुद्धियोग में वैराग्यबुद्धियोग का समावेश—

१.—इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत !
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ (७।२७)।

*-पूर्व कथनानुसार इस योग में भगवान् की अरुचि है, अतएव इस प्रकरण में वैराग्य-बुद्धियोग के वचन भी अत्यल्पसंख्या में उद्धृत हुए हैं।

८—अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

निर्म्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥

९—संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः॥ (१२।१४)।

१०—अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ (१२।१६)।

११—यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ (१२।१७)।

१२—तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ (१२।१९)।

४—धर्म्मबुद्धियोग में वैराग्यबुद्धियोग का समावेश

१—इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥ (१३।८)।

२—असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ (१३।९)।

३—समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ (१३।२७)।

४—गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ (१४।२०)।

५—मानावमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ (१४।२५)।

६—निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ (१५।५)।

७—काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ (१८।२)।

८—एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ (१८।६)।

९—कार्य्यमित्येव यत् कर्म्म नियतं क्रियतेऽर्जुन !
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥ (१८।९)।

१०—नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म्म यत्तत् सात्विकमुच्यते ॥ (१८।२३)।

११—असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ (१८।४९)।

१२—बुध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ (१८।५२)।

१३—विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ (१८।५२)।

१४—अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (१८।५३)।

१५—चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ (१८।५७)।

———•———

पूर्वप्रतिपादित श्लोकोद्धरण प्रकरण से प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि गीता में यद्यपि ६-२-४-६ इन अध्यायों में क्रमशः यद्यपि चार बुद्धियोगों का निरूपण हुआ है,

तथापि इन चारों में **वैराग्यबुद्धियोग** नाम का प्रथम बुद्धियोग ही इतर तीनों बुद्धियोगों की अपेक्षा ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है। साथ ही में यह भी मानने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती कि आदि से अन्त तक वैराग्यबुद्धियोग को अपना प्रधान लक्ष्य बनाने वाला गीताशास्त्र प्रधानतया **वैराग्यबुद्धियोगशास्त्र** है। इसे ही **निष्कामकर्म्मयोग, बुद्धियोग, योग, समत्वयोग, भगवन्निष्ठा** आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया जासकता है। साथ ही में प्रसंगोपात्त यह भी ध्यान में रखिए कि प्राचीन व्याख्याताओं नें पूर्वनिदर्शनानुसार गीताशास्त्र की १८ अध्याएं **६-६-६** इस क्रम से तीन भागों में विभक्त मानीं हैं। उनके अनुसार क्रमशः प्रथमाध्यायषट्क में **कर्म्मयोग** का (प्रवृत्तिमूलक कर्म्मयोग का), द्वितीयाध्यायषट्क में **भक्तियोग** का (प्रेममूला अपराभक्ति का), एवं तृतीयाध्यायषट्क में **ज्ञानयोग** का (सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण संन्यास का) निरूपण हुआ है। यदि थोड़ी देर के लिए प्राचीनों के तीनों योगों का (अभ्युपगमवाद से) आदर कर लिया जाय, तब भी इन के उक्त क्रम का तो भी किसी भी दृष्टि से समादर नहीं किया जासकता। इन योगों के अभिमानी प्राचीनों को हमारी दृष्टि से **कर्म्म-भक्ति-ज्ञान** यह क्रम न रख कर **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म** यह क्रम रखना चाहिए था। अस्तु इस पराधिकारचर्चा में हम पाठकों का अधिक समय नष्ट नहीं करना चाहते। प्रकृत में हमारा लक्ष्य वैज्ञानिक क्रम है। उसी का दिग्दर्शन हमारी दृष्टि में मान्य है।

१—प्राचीनाभिमतविषयविभागः

१—प्रथमाध्यायषट्क (६) कर्म्मयोगः (प्रवृत्तिलक्षणः)
२—द्वितीयाध्यायषट्क (६) भक्तियोगः (प्रेमलक्षणः)
३—तृतीयाध्यायषट्क (६) ज्ञानयोगः (कर्म्मत्यागलक्षणः)

—सर्वथा-अनुपादेयः

—o—

२—वैज्ञानिकाभिमतविषयविभागः

१—बुद्धियोगो वैराग्यविद्या (राजर्षिविद्या)—वैराग्यबुद्धियोगः (१ से ६ पर्यन्त)।

२—ज्ञानयोगो ज्ञानविद्या (सिद्धविद्या)——ज्ञानबुद्धियोगः (७ से ८ पर्यन्त) ।
३—भक्तियोगो ऐश्वर्यविद्या (राजविद्या)——ऐश्वर्यबुद्धियोगः (९ से १२ पर्यन्त) ।
४—कर्म्मयोगो धर्म्मविद्या (आर्षविद्या)——धर्म्मबुद्धियोगः (१३ से १८ पर्यन्त) ।

—— ० ——

गीता के बहिरङ्गभावों से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी विषयों पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला गया । हमें आशा है कि इस बहिरङ्गदृष्टि से पाठक प्रस्तुत गीताविज्ञानभाष्य के प्रतिपाद्य विषयों पर पहुँचे सकेंगे । अब इस सम्बन्ध में केवल एक जिज्ञासा बाकी रहजाती है, एवं उस जिज्ञासा का इतिहास से सम्बन्ध है । ६३६ श्लोकात्मिका **विज्ञानगीता** में ६४ श्लोकात्मिका **ऐतिहासिकगीता** का भी समावेश है । इस इतिहाससंदर्भपरिज्ञान के लिए यह जानना भी आवश्यक हो जाता है कि गीतोपदेश की आवश्यकता क्यों ? एवं कब हुई ? बस इसी प्रश्न का समाधान कर प्रथमखण्ड समाप्त किया जाता है ।



१४– महाभारत और गीता

(ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति)

॥श्रीः॥

१४–महाभारत और गीता

(ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति)

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" (म० आदि० १,२६७ श्लो०) इस ऐतिह्य सिद्धान्त के अनुसार अपौरुषेय वेदशास्त्र के यथार्थ परिज्ञान के लिए पुराण एवं इतिहास का मनन सर्वथा अपेक्षित है । सृष्टि का इतिहास बतलाने वाला, दूसरे शब्दों में **सृष्टि कब बनी ? कैसी बनी ? किसने बनाई ? क्यों बनाई ? कहां बनाई ? किससे बनाई ? कब तक रहेगी ? कब नष्ट होगी ?** इत्यादि प्रश्नों का विशदरूप से समाधान करने वाला शास्त्र ही **पुराण** कहलाता **है** । एवं मानववंश का इतिहास बतलाने वाला, दूसरे शब्दों में राज्यशासन के अनुसार **भुवनकोश** (भूगोल) का स्वरूप बतलाते हुए **राजवंश, देववंश, ब्राह्मणवंश, क्षत्रियवंश, वैश्यवंश, शूद्रवंश** आदि का इतिहास बतलाने वाला शास्त्र ही '**इतिहास**" कहलाता है ।

इस का यह तात्पर्य नहीं समझ लेना चाहिए कि सृष्टीतिवृत्तप्रतिपादक पुराणों में मनुष्यचरित्र नहीं है । अथवा मनुष्येतिवृत्तप्रतिपादक इतिहासग्रन्थों में सृष्टिचरित्र नहीं है । दोनों में अपने अपने मूलविषय के निरूपण के अतिरिक्त इतर दोनों विषयों का भी निरूपण हुआ है । इसीलिए पौराणिक आख्यान आठ भागों में विभक्त माने गये हैं । वे आठों आख्यान क्रमशः *१–आधिदैविक, २–आध्यात्मिक ३–आधिभौतिक, ४–आधिदैविकाध्यात्मिक, ५–आधिदैविकाधिभौतिक. ६–आधिभौतिकाध्यात्मिक, ७–आधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिक, ८–असदाख्यान इन नामों से प्रसिद्ध हैं । पौराणिक परिभाषाओं से सर्वथा अपरिचित कई एक कल्पनारसिक पाश्चात्य विद्वान्, एवं तदनुयायी उच्छिष्ट भोगी कतिपय भारतीय विद्वान् पौराणिक आख्यानों के लिए बड़े गर्व से–"**माइथालॉजी**" (Mythaloji)

---

*—इन आठों आख्यानों का विशद निरूपण 'पुराणरहस्य' में देखना चाहिए । **शतपथ ब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्य** में भी यत्र तत्र इनका संक्षिप्त निरूपण हुआ है ।

न्वेषण होकर पृथिवी पर मनुष्यों में ही देवव्यवस्था प्रतिष्ठित हुई, वही युग **देवयुग** नाम से व्यवहृत हुआ, जिसका कि दिग्दर्शन पूर्वप्रकरणों में कराया जाचुका है। हिमालयपर्वत की द्रोणियों से उस पार (४७॥ अक्षांश से ९० पर्यन्त) का स्थान स्वर्गलोक कहलाया, जैसा कि **"उत्तरे हिमवत् पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते"** इत्यादि भारतवचनों से स्पष्ट है। इसी स्वर्गलोक में यह जाति निवास करती थी। १२ आदित्यों में से इन्द्र नाम की प्रसिद्ध देवजाति के व्यक्तिविशेष (इन्द्र) ही समय समय पर स्वर्गाध्यक्ष बनाए जाते थे। इन्द्र किसी व्यक्ति नाम नहीं है, अपितु जाति का नाम है। यही इन्द्र शब्द आगे जाकर स्वर्गाध्यक्षपदवी में निरूढ हो गया है। यह इन्द्र स्वर्ग के **"स्वाराट्"** शासक थे।

४—देवयोनयः

विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, ये ९ जातिएं अन्तरिक्षलोक में निवास करतीं थीं। इन्हें ही देवयोनि एवं तिर्यक्जाति कहा जाता था। जिस पर्वत से (शर्यणावतसे*) इरावती (रावी) नदी निकलती है, उस से आगे (उत्तर की ओर), एवं हिमालय से इधर इधर का सारा प्रान्त इन की आवासभूमि थी। सुप्रसिद्ध **नन्दनवन, वैभ्राजवन, काननवन, उमावन, स्कन्दवन** आदि महावन इसी अन्तरिक्ष-लोकमें थे। इस प्रजा के शासक **वायुदेवता** थे।

५—मनुष्याः

अश्रोत्रिय **विप्र** नाम के **ब्राह्मण,** त्रिविध **क्षत्रिय, भलन्दन** के वंशज **वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, अन्त्यावसायी** भेद से मनुष्यप्रजा ६ भागों में विभक्त थी। इसी पर श्रद्धादेव नाम के वैवस्वत मनु का शासन था। **मानवधर्मशास्त्र** इस प्रजा का शासनसूत्र था। यह धर्मसूत्र केवल भारतीय मनुष्यप्रजा का ही नियन्त्रण कर सकता था। श्रोत्रिय चारों ब्राह्मणवर्ग, देवयोनिवर्ग,

*यही शर्य्यणावत आज के एट्लस् में "शिवालक" नाम से प्रसिद्ध है।

देववर्ग, इस नियन्त्रण से बाहर थे। इसीलिए तो अन्तरिक्ष में रहने वाले गन्धर्वों के अध्यक्ष चन्मद्राने गुरुपत्नी तारा के साथ गान्धर्वविवाह करना अनुचित न समझा था।

———o———

इन पांचों विभागों के शास्ता, अतएव विराट् नाम से प्रसिद्ध भगवान् स्वयम्भू ब्रह्मा, एवं उत्तरदिशा में निरक्ष से ठीक सामने **भद्रगिरि** एवं **चन्द्रगिरि** नाम के दोनों पर्वतों के मध्य में निवास करने वाले भगवान् विष्णु थे। भारतीय प्रजा पर जब कोई सङ्कट आता था तो यह राजा की शरण में जाती थी, राजा यदि अपने को असमर्थ पाता था तो वह भारतीय देव-ऋषि आदि की शरण में जाता था। ये देवताओं का आश्रय लेते थे। देवता असमर्थ होते हुए ब्रह्मा के पास जाते थे। ब्रह्मा विष्णु से परामर्श कर सब कुछ व्यवस्थित कर देते थे। यह थी उस युग की शासनप्रणाली ! सुसमृद्ध वैभव !! अपूर्व अभ्युदय !!! देवयुग से आरम्भ कर महाभारत काल से लगभग १५,००० वर्ष पूर्व तक यह व्यवस्था सुव्यवस्थित रूप से चलती रही। आगे जाकर हमारे चरित नायक चन्द्रमा की कृपा से (ताराहरण प्रसङ्ग से) देवबल नष्टप्राय हो गया, असुरों द्वारा यज्ञसाधक सोमवृक्ष (सोमवल्ली) छिन्न भिन्न कर दिया गया। सम्पूर्ण देवत्रिलोकी पर असुरों ने आधिपत्य कर लिया।

१—ऋषयः (त्रैलोक्यविचरणशीलाः सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः)।
२—पितरः (........................यमो वैवस्वतः शासकः)।
३—देवाः (स्वर्गलोकस्थाः ....इन्द्रः शासकः)।
४—देवयोनयः (अन्तरिक्षलोकस्थाः.........वायुः शासकः)।
५—मनुष्याः (पृथिवीलोकस्थाः–भारतीयाः–श्रद्धादेवो मनुः शासकः)।

उक्त निदर्शन से प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि वैवस्वतमनु(श्रद्धादेव) स्वायम्भुव विवस्वान् नामक सूर्य्य के पुत्र थे। यह भारतवर्ष के सम्राट् अवश्य बन गये। परन्तु स्थायीरूप से इन्होंनें भारतवर्ष में कभी निवास न किया। यह जीवन पर्य्यन्त अपनी जन्मभूमि

उत्तर कुरुक्षेत्र (स्वर्गलोक-देवलोक) में हीं रहे । इन्होंनें अपनी भारतीय प्रजा के शासन के लिए अपने पुत्रों को ही नियत किया । इनके **इक्ष्वाकु ,नृग, धृष्ट ,शर्य्याति, नरिष्यन्त, प्रांशु, नाभानेदिष्ट, करुष, पृषध्र, सुद्युम्न** नाम के १० पुत्र थे, एवं *"इला" नाम की एक कन्या थी। यह जेष्ठपुत्र इक्ष्वाकु से भी बडी थीं । क्योंकि यह १० सों हीं विवस्वान् सूर्य्य के पौत्र (पोते) थे, अत एव ये, एवं इनके वंशधर सूर्य्यवंशी क्षत्रिय कहलाए । इसी दृष्टि से वैवस्वत मनु (श्रद्धादेव) को ही सूर्य्यवंश का मूलपुरुष माना जा सकता है । साथही में भारतवर्ष में रहकर साम्राज्य सञ्चालन करने वाले पहिले मनु इक्ष्वाकु ही हुए । इसीलिए–**"इक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः"** (रघुवंश) इत्यादि के अनुसार इक्ष्वाकु भी सूर्य्यवंश के प्रवर्त्तक माने गए हैं । वैवस्वतमनु ने अपने ज्येष्ठपुत्र इक्ष्वाकु को भारतवर्ष का मनु बनाते हुए यह आदेश दिया कि "तुम न्यायपूर्वक आपस में भारतवर्ष का विभाग करलो" । आज्ञानुसार वैवस्वत के दिवंगत होने पर इक्ष्वाकु ने दायादधर्म्म के अ-

* श्री जयदेव विद्यालङ्कारने "भारतीय इतिहास की रूपरेखा" नामका एक ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखा है । अवश्य ही कितनें हीं अंशो में आप इस प्रयत्न में सफल भी हुए हैं । परन्तु हमें यह कहते हुए दुःख होता है कि कई एक ऐतिहासिक सत्य घटनाओं के सम्बन्ध में आपने वैसे ही उद्गार प्रकट किए हैं, जैसे कि आर्यसाहित्य से परिचय न रखने वाले कतिपय पाश्चमी विद्वान् पौराणिक आख्यानों को कल्पना बतलाया करते हैं । जिस इला का आख्यान स्वयं वेद मे निरूपित है, उसी के सम्बन्ध में लेखक महोदयने अपने ये विचार प्रकट कियेहैं कि-**"एक ऊटपटांग कहानी प्रसिद्ध है कि मनु की लड़की इला थी, जिसने सोम (चन्द्रमा) के बेटे बुध से समागम कर पुरूरवा को जन्म दिया था । यह कहानी केवल ऐल शब्द की व्याख्या करने को गढी गई दीखती है"** (भा० इ० रू० खं० २।प्र. ३।पृ. १२८) । इस सम्बन्ध में हम जयदेवजी को कोई दोष नहीं देते। वैदिक साहित्य के अध्ययन की कमी से, साथ ही में पश्चिमी विद्वानों की सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से भारतीय विद्वानों का यह कर्त्तव्यसा बन गया है कि वे भारतीय संस्कृति के पक्षपाती बनते हुए भी संगदोषके प्रवाह में पड़कर उनकी हां में हां मिलाने में ही अपना गौरव समझने लगते हैं । यह प्रवृत्ति हमारे लिए बड़ी ही घातक है । हमें स्वतन्त्र होकर निष्पक्षपात बन कर अपनें ग्रन्थों के आधार पर अपने इतिहास का अन्वेषण करना पड़ेगा । तभी हम सत्यविभूति प्राप्त करने में समर्थ हो सकेंगे ।

नुसार भरतखण्ड को १० भागों में विभक्त किया, जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

प्रविष्टे तु मनौ तात! दिवाकरतनुं तदा।

दशधा तत्र तत क्षेत्रमकरोत् पृथिवीं मनुः ॥ (शि०पु उमासं०३६अ.)।

इक्ष्वाकु चूंकि सम्राट् थे, एवं श्रद्धादेव के ज्येष्ठपुत्र थे, अतएव आगे जाकर यह भी मनुनाम से ही प्रसिद्ध हुए। पिता के आदेशानुसार भूलोक को विभक्त कर इक्ष्वाकुनें गङ्गा से पूर्व **अयोध्या** नाम की राजधानी स्थापित की। यही सूर्यवंशी राजाओं की पहिली, प्रधान. एवं श्रेष्ठ राजधानी कहलाई।

इक्ष्वाकु के अतिरिक्त शेष ९ भ्राताओंनें अपने अपने स्वतन्त्र माण्डलिक राज्य स्थापित किए। इस प्रकार सूर्यवंश आगे जाकर कई शाखाओं में विभक्त हो गया। इन सब में इक्ष्वाकु-वंशज बड़े ही प्रतापी हुए। इक्ष्वाकु के अनेक पुत्रों में से ज्येष्ठपुत्र **विकुक्षि** को अयोध्या का राज्य मिला। विकुक्षि के सुप्रसिद्ध **ककुत्स्थ** नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। इनके सम्बन्ध से इक्ष्वा-कुवंशज काकुत्स्थ नाम से भी प्रसिद्ध हुए, जैसा कि **"काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम्'** (रघुवंश इत्यादि से स्पष्ट है।

इक्ष्वाकु के कनिष्ठपुत्र इतिहास प्रसिद्ध महाराज **"निमि"** थे इनमें और इनके बड़े भाई में किसी कारण विशेष से वैमनस्य होगया, फलतः निमि अयोध्या छोड़ कर मौनव्रत धारण कर निकल गए। अब तक इन के कुलपुरोहित वसिष्ठ ही थे, परन्तु निमि ने राज्य छोड़ते समय रहुगण गोतम को अपना पुरोहित बनाया, इन्हें साथ लेकर यह निकल पड़े। अन्ततोगत्वा अयोध्या और वैशाली के मध्य में जलप्लावित भूमि को यज्ञप्रक्रिया द्वारा सुखा कर वहीं इन्हों नें अपना नया राज्य स्थापित किया। यहां आकर इन्होंने अपना मौनव्रत तोड़ा। इनके राज्य की अन्तिम सीमा **"सदानीरा"** नाम की प्रसिद्ध नदी हुई। यही निमि **कोसलविदेहों** के मूलपुरुष माने गए। वसिष्ठशाप से इन का शरीर जल गया। आगे आकर मन्थनप्रक्रिया द्वारा इन्हें जीवित किया गया। मन्थनप्रक्रिया से उत्पन्न होते के कारण ही निमि का यह रू-पान्तर **'मिथि"** नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस मिथि राजा के वंशज ही **माथव** कहलाए। यही माथव शब्द आगे जाकर **मैथिल** रूप में परिणत हो गया-(देखिए शत० ब्रा० १ । ४ । १ । १ ।)। महाराज मिथि के सम्बन्ध से ही यह नगरी **"मिथिला"** नाम से प्रसिद्ध हुई, एवं यही वंश जनक नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी वंश में जगन्माता जानकी का प्रादुर्भाव हुआ, एवं इनके साथ अयोध्या नरेश दशरथ के पुत्र भगवान् रामचन्द्र का विवाह हुआ। यह ध्यान में रखने की बात है कि, उस युग में राजाओं के वैवाहिक सम्बन्ध पुरोहितों के गोत्रों से होते थे। अयोध्या के पुरोहित का, एवं मिथिला के पुरोहित का गोत्र मिला कर ही यह विवाह संपन्न हुआ था। अन्यथा यह विवाह अमर्य दिन था। कारण इक्ष्वाकुवंशज विकुक्षि की शाखा में उत्पन्न दशरथ, एवं इक्ष्वाकुवंशज निमि की शाखा में उत्पन्न विदेह जनक सगोत्रबन्धु थे। अस्तु. इसी निमिवंश में आगे जाकर **सीरध्वज, उग्रसेन, जनदेव, धर्म्मध्वज, विदेह** आदि कई महापुरुष उत्पन्न हुए। इनमें विदेह जनक याज्ञवल्क्य के शिष्य थे, एवं इनके समय में ब्रह्मविद्या का बड़ा प्रचार था, जैसा कि याज्ञवल्क्य निर्मित शतपथब्राह्मणोक्त विदेह-याज्ञवल्क्यसंवादों से स्पष्ट है। प्रसङ्गोपात्त निमिवंश का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब पुनः विकुक्षिवंश की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

वैवस्वत मनु से आरम्भ कर महाभारत कालीन महाराज सुमित्र पर्यन्त सूर्य्यवंश (विकुक्षिवंश, किंवा ककुत्स्थवंश) अक्षुण्ण बना रहा। इतने समय में १६४ पीढ़ियोंनें अयोध्या में निर्विघ्न राज्य किया। इतिहास प्रसिद्ध महाराज **युवनाश्व, यौवनाश्व मान्धाता,** सत्यवादी **हरिश्चन्द्र, सगर, अंशुमान, भगीरथ, ऋतुपर्ण, दिलीप, रघु, अज, दशरथ, भगवान् राम, कुश,** आदि कई एक महापुरुषोंनें इसी वंश को सुशोभित किया। विवस्वान् से ६४ वीं पीढी में भगवान् रामचन्द्र का अवतार हुआ। एवं विवस्वान् से १६४ वीं पीढ़ी में महाराज **सुमित्र** ने अयोध्या की गद्दी को सुशोभित किया। यही सूर्य्यवंश के अन्तिम राजा थे। यह महाभारत युद्ध में शामिल हुए थे। इस युग में कुरुवंश सुसमृद्ध था, अतएव सुमित्र को भी इनके अनुशासन में चलना पड़ता था। सुमित्रवंशजों के द्वारा ही आगे जाकर **लिच्छविवंश** की स्थापना

हुई। इसी वंश में गोतमबुद्ध ने जन्म लिया। बस यहां आकर सूर्य्यवंश अपने उच्चासन से गिर गया। आर्यराजाओं के सुप्रसिद्ध सूर्य्यवंश का यही संक्षिप्त इतिवृत्त है।

—— ० ——

चन्द्रवंश २—

पूर्व में बतलाया जा चुका है कि वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु आदि १० पुत्र थे, एवं इला नाम की सर्वज्येष्ठ एक कन्या थी। यद्यपि मानवधर्म्मशास्त्र के अनुसार पिता की सम्पत्ति पर कन्या का कोई अधिकार नहीं माना जासकता, वर्त्तमान हिन्दुलॉ (Hindu LAW) भी इसी पक्ष का समर्थन करता है। वर्त्तमान कानून के महापण्डित, प्रीवीकोंसिल के जज माननीय स्व० श्रीमुल्लासाहिबने[A] कई युक्तियों से पूर्व सिद्धान्त को ही हिन्दुधर्म्म के अनुकूल माना है। तथापि श्रद्धादेव की विशेष प्रीतिभाजना होने के कारण इसे भी दायाद में भूखण्ड दिया गया। चूंकि इला स्त्री थी, अतएव यह राज्यप्रबन्ध में असमर्थ थी। अतएव इक्ष्वाकु की अनुमति से सबसे कनिष्ठ भ्राता सुद्युम्न ने इला का राज्यभार अपने हाथ में रक्खा। B.भरतखण्ड के मध्य में सुप्रसिद्ध सिन्धुनद से पश्चिम बाल्हीक नगर

A.देखिए-Hindu Law by Right Honourable Sir Dinshab Fradunji Mulla K. T. C.I. E. M. A. L.L D (Edition (1936) Page 38)।

B आज हमनें अपने बुद्धिदोष से भारतीय इतिहास से अपरिचित रहते हुए, साथ ही में पश्चिमी विद्वानों के द्वारा लिखे गए कल्पित ऐतिहासिक ग्रन्थों को वेदवाक्य मानते हुए इस छोटे से हिन्दुस्तान को ही भरतखण्ड, किंवा भारतवर्ष मानने की भयङ्कर भूल कर रक्खी है। हमारा ऐतिहासिक, भौगोलिक निरूपण यह बतलाता है कि "भारतवर्ष की पूर्वी सीमा यलोसी (YelowSea-चीन का पीतसमुद्र, जिसे कि आज पीलासगर भी कहा जाता है, एवं जिसे प्रशान्तमहासागर भी कह सकते हैं) है। पश्चिमी सीमा रेडसी (Red Sea-रक्तसमुद्र, किंवा लालसागर, दूसरी दृष्टि से पौराणिक महीसागर, जिसे कि मेडिटेरियेन्सी Mede Teromer Sea कहा जाता है) है।

दक्षिण सीमा निरक्ष देश (लङ्का) है। आज यह लङ्का समुद्रगर्भ में विलीन है। यद्यपि आज सीलोन को लङ्का बतलाया जारहा है, परन्तु भारतीय भुवनकोश के अनुसार यह मत सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। भारतीय द्वीपगणना में सिंहलद्वीप की पृथक् गणना हुई है। यही द्वीप प

में (जोकि वाल्हीक आज बलख नाम से प्रसिद्ध है) सुद्युम्न का निवास था, ऐसा प्रतीत होता है। इला

राणों में ताम्रपर्ण किंवा ताम्रपर्णी नाम से भी प्रसिद्ध है। ताम्रपर्ण ही बिगड़ कर आज "टापूरोबेन" रूप में परिणत हो गया है

टापूरोबेन शब्द के आधार पर यह भी कल्पना की गई है कि "यही स्थान लङ्का था। लङ्केश रावण के निवास के कारण ही यह टापूरोबेन (रावण के रहने के टापू) कहलाया है। "रावण टापू" ही "टापू रावण" बन कर आज "टापूरोबेन" बन गया है"। कहना न होगा कि इस कल्पना में भी कोई तथ्य नहीं है। यह शब्द "टापूरावण" का अपभ्रंश नहीं है, अपितु "ताम्रपर्ण" का ही अपभ्रंश है। अथवा लङ्केश रावण ने अपने विहार के लिए सिंहलद्वीप में स्थान बना लिया हो, और इसी सम्बन्ध से यह स्थान "टापूरावण" किंवा टापूरोबेन कहलाने लग गया हो, यह भी सम्भव है। परन्तु केवल इसी सम्भावना से सिंहलद्वीप को लङ्का मान लेना अशुद्ध है, जब कि लङ्काद्वीप की सिंहलद्वीप से पृथक् गणना हुई है। इसके अतिरिक्त बारह कारण ऐसे और हैं, जिनसे सिंहल (सीलोन) कभी लङ्का नहीं माना जासकता। अस्तु. वक्तव्यांश यही है कि जो लङ्का आज समुद्र में विलीन है. वही भारतवर्ष की दक्षिण सीमा मानी गई है।

उत्तरसीमा शर्य्यणावत पर्वत (जो कि आज दिन शिवालक नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिससे इरावती-रावी-नदी निकलती है) है। यह सीमा, किंवा सीमाविभाजक शर्य्यणावत पर्वत निरक्ष देश से लगभग ३७॥ अक्षांश पर है। ईरान (आर्य्यायण), अरबिस्तान, काबुल (कुभा), कन्धार (गन्धार), बलख (बाल्हीक, जो कि देवयुग में वरुण की राजधानी थी), बुखारा (पुष्कर, जो कि ब्रह्मा की निवास भूमि थी) आदि सब प्रान्त भारतवर्ष के अवयव हैं, भारतवर्ष की मौरूसी जायदाद (पैत्रिक सम्पत्ति) हैं। हमनें अपनी मूर्खता से आज अपनी यह सारी सम्पित्ति आततायियों के हाथों समर्पण कर दी है, और करते जारहे हैं। भारतवर्ष की इसी सीमाचतुष्टयी का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं।

१—"एतत्तु भारतं वर्षं चतुःसंस्थानसंज्ञितम् ॥
दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः ॥१॥
हिमवानुत्तरेणास्य कार्म्मुकस्य यथा गुणः ॥" (मार्कण्डेयपु० ५४अ०)।

२—"आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्त पश्चिमात् ॥
तयोरेवान्तरं गिर्य्योरार्य्यावर्त्तं प्रचक्षते ॥" (मनुः २। २२।)।

को दायाद में जो प्रान्त मिला, वही *प्रतिष्ठानपुर नाम से प्रसिद्ध हुआ। सुद्युम्न इला के राज्य प्रबन्ध के लिए आगे जाकर यहीं बस गए। इसीलिए पुराणने प्रतिष्ठानपुर को कहीं सुद्युम्न की राजधानी बतलाया है, एवं कहीं इला की राजधानी बतलाया है।

जिस प्रकार ऐश्वर्य सम्बन्ध में स्वयम्भू ब्रह्मा के विवस्वान् आदि कई मानसपुत्र थे, एवमेव क्रिया के सम्बन्ध में भी इन्होंने कई ऋषियों को अपना मानसपुत्र बनाया था। इन मानस पुत्रों में (क्रियापुत्रों में) **मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु** यह ६ पुत्र भी बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं, जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

> **ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः ।**
> **मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥१॥**
> **अत्रेस्तु बहवः पुत्राः श्रूयन्ते मनुजाधिप !**
> **सर्वे वेदविदः सिद्धाः शान्तात्मानो महर्षयः ॥२॥ (म० आ. प. ६६ अ.)**

उक्त ६ ओं मानसपुत्रों में से भारतवर्षनिवासी अत्रि तीसरे थे, अतएव यह अत्रि नाम से प्रसिद्ध हुए जैसा कि **"अहं तृतीय इत्यर्थस्त मादत्रिः स कीर्त्यते" (ब्रह्माण्डपु०—उ० ४।४५)** इत्यादि वचन से स्पष्ट है। यह अत्रि प्राणविध अत्रि के द्रष्टा (परीक्षक—आविष्कारक) थे, अतएव यह भी अत्रि नाम से ही प्रसिद्ध हुए। ब्रह्मा की ओर से सब से पहले

---

* प्रतिष्ठानपुर के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों नें अनेक भ्रान्तियें फैला रक्खी हैं। फलस्वरूप तदनुयायी भारतीय इतिहासवेत्ता भी इसी भ्रान्ति का अनुसरण करते दिखलाई देरहे हैं। कितनें हीं महानुभाव प्रयाग के समीप प्रतिष्ठानपुर की सत्ता बतलाते हैं। कितनें हीं दण्डकारण्य में प्रतिष्ठानपुर की सत्ता सिद्ध करने में व्यग्र हैं। कितनें हीं के मतानुसार हस्तिनापुर के समीप ही कहीं प्रतिष्ठानपुर का होना सिद्ध है। कहना न होगा कि यह सभी मत भ्रान्तिपूर्ण हैं। वस्तुतः सिन्धुनद से पश्चिम, सिन्धुप्रान्त से ५ कोश पश्चिम के फासले पर आर्य्यायण नाम से प्रसिद्ध पश्चिम भारतवर्ष में ही प्रतिष्ठानपुर था। इस विषय का विशद विवेचन श्रीगुरुप्रणीत "अत्रिख्याति" नाम के ग्रन्थ के इला प्रकरण में देखना चाहिए।

अत्रि ही वेदप्रचार के लिए नियत किए गए थे । यह अत्रि शब्द आगे जाकर वंशपरम्परा में निरूढ हो गया । देवयुग में आत्रेय ब्रह्मर्षत् के क्रमशः **भौमअत्रि, सांख्यअत्रि** नाम के दो अत्रि कुलपति बनें । पहिले कुलपतिने पारदर्शकताप्रतिबन्धक चन्द्रग्रहणाधिष्ठाता भूमिगत अत्रिप्राण की पूर्ण परीक्षा कर ग्रहणविद्या का सर्वप्रथम आविष्कार किया। अतएव ये **भौमात्रि** नाम से प्रसिद्ध हुए । इन्हीं भौमात्रि से महासती अनसूया के गर्भ से चन्द्रमा का जन्म हुआ। दूसरे सांख्यात्रि ने उत्तरध्रुव मण्डलस्थ नाक्षत्रिक अत्रिप्राण की परीक्षा की । जिस प्रकार भौम-अत्रि से चन्द्रमा उत्पन्न हुए, एवमेव सांख्यअत्रि के **शांखायन** उत्पन्न हुए । यह बड़ा ही अ-धार्मिक हुआ । सांख्यने बहुत उपदेश दिया, परन्तु इनका यह उपदेश सर्वथा व्यर्थ गया फलतः निराश हो सांख्यने सिन्धुदेश में **देवनिकाय** नाम के पर्वत में (जोकि पर्वत "**सुलेमान**" नाम से प्रसिद्ध है) निवास कर लिया । इधर तत्पुत्र शांखायन एवं तद्वंशधर धर्म्मच्युत होते हुए यवनवंश के (ग्रीकवंश के) आदि प्रवर्तक बन गए । इस प्रकार सांख्यअत्रि का वंश उच्छिन्न-प्राय हो गया ।

भौमअत्रिपुत्र चन्द्रमा सोमवल्ली की रक्षा के लिए गन्धर्वों के राजा बनाए गए, एवं उत्तर दिशा के दिक्पाल बनाए गए। यह ब्राह्मण होकर राजा बनें, अतएव तत्समय में यह **राजा** नाम से ही लोक में प्रसिद्ध हुए। इनकी स्त्री रोहिणी थी। चन्द्रमा से तारा के गर्भ में **बुध** का जन्म हुआ, एवं यह रौहिणेय नाम से प्रसिद्ध हुआ । चूँकि यह राजा के पुत्र थे, अतएव ये **राजपुत्र** नाम से भी प्रसिद्ध हुए। अतएव तद्वंशधर **राजपुत्र** नाम से व्यवहृत हुए । यही राजपुत्रशब्द आगे जाकर "**राजपूत**" रूपमें परिणत हो गया। इस तात्त्विक घटना को न जानने के कारण कितनें हीं पश्चिमी विद्वान् भारतीय क्षत्रियवंश की समालोचना करते हुए कहने लगते हैं कि "राजपूत क्षत्रिय नहीं हैं, क्षत्रियों के वर्णसंकर हैं। तभी तो इन्हें राजा न कह कर राजपूत कहा जाता है"। सचमुच अपने वास्तविक इतिहास से वञ्चित रहने के कारण न मालूम ऐसे ऐसे कितनें मिथ्या आक्षेपों का हमें शिकार बनना पड़ रहा है।

राजपुत्र रौहिणेय बुध के साथ ही वैवस्वत् पुत्री इला का विवाह हुआ । चूंकि राज्य

न्यय से पुरुरवा, एवं पुरुरवा से आयु उत्पन्न हुए। आयु से सुप्रसिद्ध **नहुष** उत्पन्न हुए। भारतीय राजाओं में ये ही एकमात्र ऐसे भाग्यशाली राजा थे, जिन्हें कि कुछ समय के लिए स्वर्ग का शासक पद (इन्द्रपद) मिला। महाराज नहुष के परम प्रतापी चक्रवर्त्ती **ययाति** उत्पन्न हुए। चन्द्रवंशियों में पहिले चक्रवर्त्ती सम्राट् ययाति ही हुए। भारतवर्ष में चन्द्रवंश का विशेष विकास ययाति से ही आरम्भ हुआ, अतः आगे जाकर ययाति भी चन्द्रवंश के मूलपुरुष मान जानें लगे। ययाति के परम प्रतापी **यदु, पुरू, तुर्वसु, अणु**, द्रुह्यु नाम के पांच पुत्र उत्पन्न हुए। इन पांचों के कारण चन्द्रवंश अनेक शाखाओं में विभक्त होता हुआ सम्पूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त होगया। यद्यपि न्यायतः पांचों में से राज्याधिकारी ज्येष्ठपुत्र **यदु** ही थे, परन्तु पिता (ययाति) की वैषयिकतृप्ति के लिए आयुप्रदान न करने के कारण यदु राज्याधिकार से वञ्चित कर दिए गये इसी यदु से आगे जाकर सुप्रसिद्ध यादववंश का विकास हुआ, जो कि चन्द्रवंश की ही एक शाखा मानी जाती है। भगवान् कृष्ण के अवतार से यह वंश धन्य बन गया। पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करने वाले कनिष्ठ पुत्र पुरूने पिता को अपनी युवावस्था समर्पित करने से राज्यसिंहासन प्राप्त किया। शेष तुर्वसु–अणु–द्रुह्यु तीनों भाइयोंनें अपनें अपनें स्वतन्त्र माण्डलिक राज्य स्थापित किए। इस प्रकार पुरू ही चन्द्रवंश की मूलगद्दी के सर्वेसर्वा रह गए। इसीलिए इनके वंशधर **पौरव** नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी पुरुवंश में आगे जाकर इतिहास प्रसिद्ध **दुष्यन्त** उत्पन्न हुए। कुछ समय के लिए पुरुवंश शिथिल पड़गया था। परन्तु वीर दुष्यन्त ने फिर पौरववंश को एकबार चमका दिया। तब से दुष्यन्त भी कुरुवंश के आदि पुरुष, एव पौरवों के वंशनायक माने जाने लगे। जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

पौरवाणां वंशकरो दुश्यन्तो नाम वीर्य्यवान्।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता भरतसत्तम!॥४॥ (म०भा०आ०६८ अ०)।

दुष्यन्त से शकुन्तला के गर्भ में सुप्रसिद्ध यशोमूर्त्ति दौष्यन्ति **भरत** उत्पन्न हुए। ये कीर्त्ति पराक्रम में अपने पिता से भी आगे बढ़ गए। यही नहीं, आगे जाकर कुरुवंश इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हुआ। स्वयं भगवान् ने गीता में स्थान स्थान पर **भरतसत्तम! भारत! भरत-**

र्षभ ! इत्यादि नामों से अर्जुन को सम्बोधित करते हुए भरत को उच्चासन प्रदान किया है । * पुराण के एकदेशी मतानुसार तो भरत के सम्बन्ध से ही यह मनुष्यलोक भारतवर्ष कहलाया है । स्वयं व्यासद्वारा लिखित ऐतिहासिक ग्रन्थ भी भरत के सम्बन्ध से ही " **महाभारत** " कहलाया है । इसी भरत का यशोगान करते हुए व्यास कहते हैं—

दुष्यन्तस्तु ततो राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा ॥
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥१॥
स राजा चन्द्रवत्मासीत् सार्वभौमः प्रतापवान् ॥

---

*-वस्तुतः इस देश का भारतवर्ष नाम देवयुग में ही प्रसिद्ध हो गया था । देवयुग में पृथिवीलोक के शवसोनपात् भारत नाम के अग्नि थे-(देखिए ऋक्सं० ४ । २५ । ४ ।) । इन्हीं के सम्बन्ध से यह लोक भारतवर्ष कहलाया । भरत के नाम से जो पुराणने भारतवर्ष नाम की उत्पत्ति बतलाई है, वह अर्थवादमात्र है । केवल भरत की कीर्त्ति का बखान करने के लिए ही ऐसा मान लिया गया है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि दौष्यन्ति भरत के अतिरिक्त आग्नीध्र के पौत्र एवं नाभ के पुत्र एक अन्य भरत के सम्बन्ध से भी भारतवर्ष शब्द की उत्पत्ति मानी गई है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

१—आग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विज !
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः ॥१॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।
तस्माच्च भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥२॥
नाभेः पुत्रश्च ऋषभ ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥ (स्का०मा०कौ० ३७अ०)।

२—तं सुरोधाच्च दुष्यन्तो दुष्यन्ताद् भरतोऽभवत् ।
शकुन्तलायां तु बली यस्य नाम्ना तु भारताः ॥ (अग्नि - २७८ अ०)।

इन दोनों मतों का समन्वय हम अर्थवाद पर ही कर सकते हैं । इस विषय का विशद विवेचन पुराणरहस्यादि अन्य ग्रन्थों में द्रष्टव्य है ।

भरताद्भारतीकीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम् ॥ ४ ॥ (म.भा.आदिप.७४ अ.) ।

इसी सुप्रसिद्ध भरतवंश में आगे जाकर महाराज **कुरु** उत्पन्न हुए । यह भी अपने युग में **यशस्वी** हुए । फलस्वरूप आगे का वंश इन्हीं के नाम से (कुरुवंश नाम से) प्रसिद्ध हुआ । द्वापरयुग के अन्त में इसी कुरुवंश में महाराज **प्रतीप से शान्तनु** का जन्म हुआ । यहीं से हमारे गीतासम्बन्धी इतिहास का मूलस्रोत प्रवाहित होता है । शान्तनु से गङ्गा के गर्भ में देवमूर्त्ति, किंवा वसुमूर्त्ति **देवव्रत** उत्पन्न हुए । धीवरकन्या **मत्स्यगंधा** को अपनी माता (पिता शान्तनु की धर्म्मपत्नी) बनाने के सम्बन्ध में "**न हम आजन्म विवाह करेंगे, एवं न सिंहासन पर बैठेंगे**" यह भयङ्कर प्रतिज्ञा करते हुए यही देवव्रत "**भीष्म**" नाम से प्रसिद्ध हुए । यही महापुरुष आगे जाकर '**कुरुकुल वृद्धपितामह**" नाम से सम्बोधित हुए ।

शान्तनु से मत्स्यगंधा के गर्भ में (जो कि आगे जाकर "**सत्यवती**" नाम से प्रसिद्ध हुई) चित्राङ्गद एवं **विचित्रवीर्य्य** नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए शान्तनु की मृत्यु के थोड़े समय पीछे ही राज्य के उत्तराधिकारी चित्राङ्गद गन्धर्वों के हाथ से मारे गए । फलतः कनिष्ठ भ्राता विचित्रवीर्य्य को सिंहासन पर बैठा कर स्वयं भीष्मपितामह राज्यव्यवस्था का सञ्चालन करने लगे । जब विचित्रवीर्य्य विवाह के योग्य हुए तो भीष्म काशी पहुँचे, एवं स्वयंवर से **अम्बा अम्बालिका-अम्बिका** नाम की तीनों कन्याओं का अपहरण कर हस्तिनापुर आपहुँचे। इन तीनों में अम्बा के–"**मैं अपने मन में महाराज शाल्व का वरण कर चुकी हूँ**" यह कहने पर धर्ममूर्त्ति भीष्म ने उसे सादर बिदा कर दिया , एवं शेष दोनों कन्याओं का विचित्रवीर्य्य के साथ विवाह कर दिया । दुर्भाग्यवश क्षयरोग से ग्रस्त होते हुए विचित्रवीर्य्य अल्पकाल में ही मृत्यु के ग्रास बन गए । कुरुवंश एकबार फिर अन्धकार में पड़ गया ।

महात्मा भीष्म एवं राजमाता सत्यवती इस दैवी आपत्ति से बड़े चिन्तित हुए । अन्त में सत्यवती के परामर्श से भीष्म को इस घोर आपत्ति काल में कुरुवंश की रक्षा के लिए **नियोगविधि** का आश्रय लेना पड़ा । भारतवृत्तवेत्ताओं को यह विदित है कि इसी सत्यवती के गर्भ से कन्या अवस्था में (नौका चलाते समय) पराशर द्वारा भगवान् **व्यास** का आविर्भाव हुआ

था। व्यास ने माता सत्यवती को वरदान दिया था कि "यदि तुम पर कभी कोई विपत्ति आवे तो उस समय मेरा स्मरण करना"। फलतः इस विपत्ति काल में व्यासदेव का स्मरण किया गया। व्यास उपस्थित हुए। सारी परिस्थिति इन के सम्मुख रक्खी गई। सम्बन्ध मर्य्यादा के अनुसार व्यास अम्बिका एवं अम्बालिका देवर होते थे, एवं आपत्ति में वंशरक्षा के लिए देवर से नियोग विधि द्वारा पुत्रोत्पन्न करना मानवधर्मशास्त्र से भी अनुमोदित है। (देखिए-मनु ९। ७८)। आज उसी आपद्धर्म्म को लक्ष्य में रख कर माता की आज्ञा से व्यास नियोगविधि में प्रवृत्त हुए। सतत तपोयोग में प्रवृत्त रहने के कारण व्यास का शरीर महाभयावह हो रहा था। नियोगविधि में प्रवृत्त जेठी बहू अम्बिका इन का रूप देख कर डर गई, उसने भय से नेत्र बन्द कर लिए। परिणाम स्वरूप कालान्तर में इसके अन्धा पुत्र उत्पन्न हुआ, जोकि धृतराष्ट्र नाम से प्रसिद्ध हुए। व्यास ने कह दिया था कि नेत्र बन्द करने के कारण इसके अन्ध सन्तान होगी। ऐसी परिस्थिति में काम अधूरा ही रहा। क्योंकि शास्त्र के अनुसार अन्धा व्यक्ति राज्यसिंहासन का अधिकारी नहीं बन सकता। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए छोटी बहू नियोगविधिमें प्रवृत्त हुई। उसने आंखें तो बन्द न कीं, परन्तु भय से उसका शरीर पीला पड़ गया। व्यास ने कह दिया कि इस के भी जो सन्तान होगी, वह जन्म से ही पाण्डुवर्ण, एवं रोगग्रस्त रहेगी। दोनों सन्तानों से निराश हो सत्यवती ने अम्बिका को फिर एक बार प्रोत्साहित किया। उसने वहां तो स्वीकार कर लिया, परन्तु समय पर स्वयं न जाकर दासी को अपने वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत कर भेज दिया। दासी व्यासदेव से अणुमात्र भी त्रस्त न हुई। फलस्वरूप व्यास ने वरप्रदान किया कि इसके परम धार्मिक, सर्वगुण सम्पन्न, परम बुद्धिमान, एवं परम भागवत पुत्र उत्पन्न होगा। वही दासीपुत्र **विदुर** नाम से प्रसिद्ध हुए।

यद्यपि धृतराष्ट्र बड़े थे, परन्तु अन्ध होने कारण इन्हें राज्यसिंहासन से वञ्चित होना पड़ा। एवं विदुर भी दासीपुत्र होने से राज्य के अधिकारी न बन सके। राज्य मिला पाण्डु को। यहीं धृतराष्ट्र के चर्म्मचक्षु के साथ साथ विज्ञानचक्षु पर भी पर्दा पड़ गया पाण्डु के प्रति सदा के लिए इनके हृदय में द्वेष का बीज वपन होगया। यही बीज कालान्तर में महा-

भारत संग्राम रूप से पुष्पित एवं पल्लवित हुआ। धृतराष्ट्र को थोड़ी बहुत आशा यह थी कि यदि मेरे पहिले सन्तान हुई तो उसे राज्य मिल जायगा। परन्तु जब उन्होंनें यह सुना कि "कुन्ती के गर्भ से देवताओं के आह्वान से पांच पुत्र उत्पन्न हो गए हैं" तो इन की रही सही आशा पर भी पानी फिर गया। समय आने पर धृतराष्ट्र के भी महासती गांधारी के गर्भ १०० पुत्र उत्पन्न हुए। पाण्डुपुत्र पाण्डव कहलाए, धृतराष्ट्र पुत्र कौरव कहलाए।

दुर्योधन बड़ा कुटिल नीतिज्ञ था। उसने अपने आपको "**कौरव**" नाम से प्रसिद्ध किया। इस से प्रजा में वह यह बीजारोपण करना चाहता था कि धृतराष्ट्र कुरुवंश में ज्येष्ठ हैं एवं हम उन्हीं की सन्तान हैं। फलतः कुरुवंश के पैत्रिक राज्य के अधिकारी एकमात्र हम हीं हैं। इसी दुरभिसन्धि में पड़ कर अपने मातुल शकुनि के कुचक्र का सहारा लेते हुए दुर्योधन ने धर्म्मात्मा पाण्डुपुत्रों के साथ क्या क्या अत्याचार किए, यह सर्वविदित है। १४ वर्ष तक वनवास का कष्ट सहने के अनन्तर युधिष्ठिर सबान्धव वापस लौटे। परन्तु इतना लम्बा समय पा कर दुर्योधन पूरी तरह संभल चुका था। अर्थप्रलोभन से उसने अपने सामन्त राजाओं को मुट्ठी में कर लिया था। दूसरों की बात तो जाने दीजिए, भीष्म जैसे तटस्थ व्यक्ति भी इस अर्थनीति के शिकार बन चुके थे। उस समय की राज्यव्यवस्था देख कर दांतों तले अंगुली दबा लेना पड़ता है। यदि दुर्योधन में जरा भी धर्म्मबुद्धि होती तो निःसन्देह वह अपने इस बुद्धि-कौशल से कुरुवंश को कई शताब्दियों के लिए दृढमूल बना सकता था।

दुर्योधन के शासन काल में कुरुसाम्राज्य **प्रमुख-पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण** इन पांच प्रान्तों में विभक्त था। इन पांचों में प्रमुखप्रान्त "**गजाह्वय**" (हस्तिनापुर) नाम से प्रसिद्ध था। भगवान् कृष्ण एवं व्यास द्वारा बसाए गए **इन्द्रप्रस्थ** (देहली) से ६० कोस उत्तर गङ्गा के समीप हस्तिनापुर था। आज यह राजधानी गङ्गा के उदर में समा गई है। इस स्थान पर आज दो चार मल्लाहों के घर मात्र अवशिष्ट हैं। यहीं किसी समय कुरुराज्य की प्रधान राजधानी थी। हस्तिनापुर से उत्तर का प्रान्त **कुरुजाङ्गल** नाम से, पूर्व का प्रान्त **कुरु-पाञ्चाल** नाम से, पश्चिम का प्रान्त **कुरुक्षेत्र** नाम से, एवं दक्षिण का प्रान्त **खाण्डववन** नाम

से प्रसिद्ध था। इन पांचों प्रान्तों की समष्टि ही कुरुसाम्राज्य था, इस के सम्राट् धृतराष्ट्र थे, एवं प्रान्ताधीश (गवर्नर) क्रमशः दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा थे। कुरुक्षेत्र में कर्ण की राजधानी "अङ्ग" देश था।

१—हस्तिनापुर—प्रमुखराजधानी है—दुर्योधन (प्रान्ताधीश)।
२—कुरुपाञ्चाल—हस्तिनापुर से पूर्व है—द्रोण (,,)।
३—कुरुक्षेत्र — ,, पश्चिम है—कर्ण (,,)।
४—कुरुजाङ्गल— ,, उत्तर है—भीष्म (,,)।
५—खाण्डव — ,, दक्षिण है—अश्वत्थामा (,,)।

हिमालय प्रान्त से जो हाथी पकड़ कर लाए जाते थे, उन्हें एक स्थान पर रक्खा जाता था। वहां उन जंगली हाथियों को पालतू बनाया जाता था। वही ग्राम "हस्तिनापुर" (हाथियों का ग्राम) नाम से प्रसिद्ध हुआ। जंगली हाथियों को अनेक प्रलोभनों में डाल कर हाथियों को पकड़ने वाले "आ-आ-दग-द" इस प्रकार के विचित्र भाषणों से हिमालय से घेरघार कर हाथियों को यहां लाया करते थे, दूसरे शब्दों में प्रलोभनों द्वारा हाथी इस ग्राम में बुलाए जाते थे, अतएव यह ग्राम—"आहूयन्ते गजा यत्र" इस निर्वचन के अनुसार गजाह्वय नाम से प्रसिद्ध हुआ। महाभारत में हस्तिनापुर के स्थान में स्थान स्थान पर "गजाह्वय" शब्द का ही प्रयोग हुआ है। गजाह्वय इस का प्राचीन नाम था, यही आगे जाकर हस्तिनापुर रूप में परिणत हुआ, एवं कालान्तर में मकार की विलुप्ति हो जाने से यही हस्तिनापुर नाम से प्रसिद्ध हो गया। इन्द्रप्रस्थ यमुना के किनारे था तो यह हस्तिनापुर गङ्गातट पर था। कुरु महाराज से पहिले इन भरतवंशियों की राजधानी आर्य्यायण (ईरान—पश्चिमभारत) प्रान्तान्तर्गत महोदय नाम का शहर था। जब कुरु के समय में इन का अधिक विकास हुआ तो इन्होंने पूर्वीय भारत वर्ष में उक्त हस्तिनापुर प्रदेश में ही अपनी नवीन राजधानी बनाई। इस स्थान के हाथियों को हटा कर इन के लिए एक स्वतन्त्र ग्राम बनाया गया। वही ग्राम "इभ्यग्राम" (हाथियों का ग्राम) नाम से प्रसिद्ध हुआ—(देखिए छन्दोग्यउ० विज्ञानभाष्य ३।६।१।)। इस प्रकार हस्तिनापुर

एक सुसमृद्ध राज्य होगया। यह राज्य २२ कोटि (करोड़) की रियासत मानी जाती थी सचमुच लोकवैभव की दृष्टि से यह भारतवर्ष का पूर्ण अभ्युदय काल था।

महाभारतकाल भारतवर्ष का समुन्नतिकाल भी कहा जासकता है, एवं पतनकाल भी। परम राजनीतिज्ञ महात्मा **विदुर**, परम धर्म्मात्मा सत्यवादी **युधिष्ठिर**, वीराग्रणी **अर्जुन**, भीष्मप्रतिज्ञ, विदितवेदितव्य, बालब्रह्मचारी, कृष्णतत्ववेत्ता **देवव्रत**, आचार्य **द्रोण**, पूर्णावतार भगवान् **श्रीकृष्ण**, इत्यादि भारत की दिव्यविभूतिएं उसी युग में विद्यमान थीं। एवं साथ ही में स्वार्थ की चरम सीमा पर पहुँचने वाला कुटिल नीतिज्ञ **दुर्योधन**, सतीत्व का अपमान करने वाला **दुःशासन**, अपनी कुटिल नीतियों से भारत के समृद्ध वैभव का नाश करवाने वाला दुर्म्मति शकुनि आदि आसुरी विभूतिएं भी उसी युग में विद्यमान थीं। कौरव-पाण्डवों का संग्राम क्या था, देवासुर संग्राम था। यही संग्राम भारतवैभव के नाश का कारण बना। यद्यपि अधर्म्मानुयायी कौरवों के पास ११ अक्षौहिणी सेना थी, इधर धर्म्मात्मा पाण्डवों के पास ७ अक्षौहिणी ही सेना थी। फिर भी धर्म्म के प्रभाव से विजयश्री पाण्डवों को ही मिली। १८ अक्षौहिणी सेना के संघर्ष में जय लाभ पाण्डवों को ही हुआ। इसी प्रतिद्वन्द्वीभाव को सूचित करने के लिए व्यास ने इस ग्रन्थ के १८ पर्व बनाए।

यह पाठकों को विदित है कि ११ अक्षौहिणी सेना को अपने अधिकार में रखने वाले कुटिल नीतिज्ञ दुर्योधन सदा अशान्त रहे, इधर केवल ७ अक्षौहिणी के अधिपति धर्म्म नीतिज्ञ युधिष्ठर सदा शान्त रहे, । इसी रहस्य को सूचित करने के लिए व्यासदेवने आरम्भ के ११ पर्वों तक तो अशान्तिभाव को प्रधानता दी है, एवं १२ वें से १८ पर्व तक शान्तिभाव को प्रधान रक्खा है। १२ वां पर्व **शान्तिपर्व** है। कुरुवंश में जो कुछ उत्पात होना चाहिए था, इस से पहिले पहिले हो चुका है। इस से आगे धर्म्मराज युधिष्ठिर के शान्तिमय धर्म्मयुग का ही आरम्भ होता है। इस प्रकार ११—७ के संघर्ष में जय के अधिकारी युधिष्ठर ही बन जाते हैं। यही सूचित करने के लिए इस ग्रन्थ का नाम "जय" रक्खा गया है।

संख्याविज्ञान के अनुसार जकार ८ संख्या का, यकार १ संख्या का वाचक है।

"अङ्कानां वामतो गतिः" के अनुसार ८१ ही १८ हैं। यही पर्वरहस्य है। इस जयलाभ के मूलस्तम्भ हैं- भगवान् कृष्ण। यदि भगवान् अर्जुन को उपदेश न देते तो पाण्डुवंश की इतिश्री हो चुकी थी। विजयलाभ का एकमात्र श्रेय गीता को ही है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर व्यासने गीता के १८ अध्याय रखते हुए यह सूचित किया है कि १८ अक्षौहिणी सेना के संघर्ष में इस गीतोपदेश से ही, दूसरे शब्दों में गीता के १८ अध्यायों में प्रतिपादित बुद्धियोग के बल पर ही पाण्डव १८ संख्या से अभिनीत जयलाभ करने में समर्थ हुए।

हम कह चुके हैं कि महाभारतयुद्ध से पहिले भारत पूर्ण समृद्ध था। इसका सब से बड़ा प्रमाण १८ अक्षौहिणी सेना है। जिस राष्ट्र में बात की बात में इतनी सेना एक स्थानपर खड़ी हो जाय, उस राष्ट्र के वैभव का क्या कहना है। पाठकों के अनुमान के लिए हम प्रसङ्गोपात्त अक्षौहिणी का स्वरूप संक्षेप से उद्धृत कर देते हैं।

राज्य की प्रधान अङ्गभूता सेना **पत्ति, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी, अक्षौहिणी** भेद से नो भागों में विभक्त मानी गई है। १रथ, १गज, ५ पैदल योद्धा, ३ घोड़े यह सब मिलकर एक **पत्ति** है। ऐसी तीन पत्तियों की समष्टि (३रथ, ३गज, १५योद्धा, ९घोड़े) एक **सेनामुख** है। ऐसे तीन सेनामुखों का समुदाय (९रथ, ९गज, ४५योद्धा, २७ घोड़े, एक **गुल्म** है। ऐसे तीन गुल्मों की समष्टि (२७ रथ, २७गज, १३५, योद्धा ८१ घोड़े) एक **गण** है। ऐसे तीन गण मिल कर (८१रथ, ८१गज, ४०५ योद्धा, २४३घोड़े) एक **वाहिनी** है। ऐसी तीन वाहनियों की (२४३रथ, २४३गज, १२१५, योद्धा, ७२९ घोड़े) एक **पृतना** है। ऐसी तीन पृतनाएं (७२९रथ, ७२९गज, ३६४५योद्धा, २१८७ घोड़े) एक **चमू** है। ऐसी तीन चमू की (२१६७ रथ, २१८७ गज, १०९३५योद्धा, ६५६१ घोड़े) एक **अनीकिनी** है। ऐसो १० अनीकिनी मिल कर एक **अक्षौहिणी** कहलाती है।

उक्त क्रम से एक अक्षौहिणी सेना में क्रमशः २१८७० (इक्कीस हजार, आठ सौ, सत्तर) रथ, २१८७० (इक्कीस हजार, आठ सौ, सत्तर) गज, १०९३५० (एक लाख, नौ हजार, तीन सौ, पचास) पैदल योद्धा, एवं ६५६१० (पैंसठ हजार, छस्सौ, दस) घोड़े हो जाते

हैं । पैदल सेना के अतिरिक्त प्रत्येक रथ, प्रत्येक गज, एवं प्रत्येक अश्व के साथ एक एक **रथारोही योद्धा, गजारोही योद्धा, अश्वारोही योद्धा** का समावेश और कीजिए । इस क्रम से पदाति योद्धाओं के (पैदल सेना के) अतिरिक्त २१८७० रथारोही योद्धा २१८७० गजारोही योद्धा, एवं ६५६१० अश्वारोही योद्धा और हो जाते हैं । इस प्रकार अक्षौहिणी के सम्पूर्ण योद्धाओं का निम्न लिखित क्रम हमारे सामने उपस्थित होता है—

१-पत्ति———➳ १ रथ, १ गज, ५ योद्धा, ३ घोड़े ।
२-सेनामुख——➳ ३ रथ, ३ गज, १५ योद्धा, ९ घोड़े ।
३-गुल्म———➳ ९ रथ, ९ गज, ४५ योद्धा, २७ घोड़े ।
४-गण———➳ २७ रथ, २७ गज, १३५ योद्धा, ८१ घोड़े ।
५-वाहिनी——➳ ८१ रथ, ८१ गज, ४०५ योद्धा, २४३ घोड़े ।
६-पृतना——➳ २४३ रथ, २४३ गज, १२१५ योद्धा, ७२९ घोड़े ।
७-चमू———➳ ७२९ रथ, ७२९ गज, ३६४५ योद्धा, २१८७ घोड़े ।
८-अनीकिनी—➳ २१८७ रथ, २१८७ गज, १०९३५ योद्धा, ६५६१ घोड़े ।
९-अक्षौहिणी—➳ २१८७ रथ, २१८७ गज, १०९३५० योद्धा, ६५६१० घोड़े ।

———o———

१—रथारोही योद्धा—➳ २१८७० (इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर)
२—गजारोही योद्धा—➳ २१८७० (,,)
३—अश्वारोही योद्धा—➳ ६५६१० (पैंसठ हजार छःसौ दस)
५—पदातियोद्धा——➳ १०९३५० (एक लाख नौ हजार तीनसौ पचास)

१—अक्षौहिणी—२१८७०० (दो लाख अठारह हजार सात सौ योद्धा)

नौसौ अस्सी) घोड़े हों, उस संग्राम की, एवं साथ ही में उस युग की समृद्धि का क्या वर्णन किया जासकता है।

दोनों ओर से जब सैन्य संग्रह हो रहा था, उस समय अन्तिम बार शान्ति की चेष्टा के लिए भगवान् कृष्ण शान्ति के दूत बनकर हस्तिनापुर आए भगवान् ने साम-दाम-दण्ड-भेद से दुर्योधन को बहुत समझाया। परन्तु 'हम पांच ग्राम तो क्या बिना युद्ध के सूचिका भर भूमि भी देने के लिये तय्यार नहीं हैं" यह उत्तर मिला। स्वयं व्यासने पुत्रमोहगर्त्त में पतित धृतराष्ट्र को युद्ध रोकने के लिए प्रेरित किया, परन्तु सारा परिश्रम व्यर्थ गया। भारत के भाल में जो कुछ होना लिखाथा, दोनों ओर से उसी की तय्यारिएं होने लगीं। व्यासदेवके—"यदि तुम युद्ध देखना चाहो तो हम तुम्हें दिव्यदृष्टि प्रदान कर सकते हैं" यह कहने पर धृतराष्ट्र ने कहा कि भगवन्! मैं इन आंखों से अपने वंश का क्षय नहीं देखना चाहता। आप किसी ऐसे व्यक्ति का प्रबन्ध कर दीजिए, जो मुझे युद्ध की प्रत्येक घटना सविस्तर बतलाया करै। व्यास ने सञ्जय को दिव्यदृष्टि प्रदान की, एवं उन्हें इस कार्य के लिए नियत किया। कुरुक्षेत्र के मैदान में एक ओर ११ अक्षौहिणी सेना, दूसरी ओर ७ अक्षौहिणी सेना मोर्चा बांध कर खड़ी होगई। जब युद्ध के लिए सारी सामग्री उपस्थित हो गई तो धृतराष्ट्र संजय से पूछने लगे-

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय!

——*०*——

बहिरङ्गपरीक्षात्मक-प्रथमखण्ड समाप्त



